43 9/3

Library

SHREE SHREE MA ANANDAMAYEE ASHRAM

Bhadaini, Varanasi-1

No......43.......

Books should be returned by date (last) noted below or re-issue arranged. Otherwise a fine of -/10/- N. P. daily shall have to be paid.

14.1.77

Ananda Varta

HINDI & ENGLISH

LIBRARY
No. ....
[illegible]

Vol. IX May, 1961 No. 1

कीर्त्तन रस-स्वरूप

हिन्दी संस्करण

संक्षिप्त इतिहास के साथ श्री श्री माँ के श्रीमुख के सङ्गीत, श्री श्री माँ के स्वतः-स्फूरित सङ्गीत, श्री श्री माँ के आश्रमों में नित्य गाये जाने वाले भजन और स्तुतियाँ, विशिष्ट स्तव-स्तोत्रावलि, सहस्रनाम, विभिन्न प्रकार के हिन्दी सङ्गीत तथा कीर्त्तन और भजन सहित यह पुस्तक प्रकाशित हुआ है। भक्तों के निकट यह एक अमूल्य सम्पद है।

प्रच्छदपट, बँधाई तथा चित्रों की ओर ध्यान रखकर इस पुस्तक को सर्वांग-सुन्दर बनाने की प्रचेष्टा की गई है।

मूल्य—६ रुपये।

Ananda Varta

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teachings of Shree Shree Ma Anandamayee and with other religio-philosophical topics.

Board of Editors

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M.A., D. Litt.
Kumari Lalita Pathak, M.A,
Kumari Padma Misra, M.A., Acharya.
Kumari Bithika Mukerji, M.A., D. Phil.
Brahmacharini Atmananda.
Sri Sailesh Brahmachari.
Sri Amulya Kumar Dutta Gupta, M.A., B.L.
Sri K. Bose—*Managing Editor.*

* * *

Annual subscription (postage free) India—Rs. 5/-
Foreign—Rs. 6/- or 10 shillings or dollars 1·25 only.

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English in the beginning of the months of May, August, November and February. The year begins from May.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha, Bhadaini, Varanasi, (U.P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U P.).

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent *latest by the second week of the month of publication.*

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to "dishonour" any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a considerable loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Contents

HINDI SECTION

1. मातृवाणी 1

2. मातृ कथामृत—नीलमणि 3

3. डायरी के कुछ पन्ने—गुरुप्रिया देवी 6

4. इच्छाशक्ति—महामहोपाध्याय श्रीयुक्त गोपीनाथ कविराज, एम ए०, डी-लिट्० 12

5. मनोवैज्ञानिक परामनोविद्या में क्यों रुचि लें—डा० भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डि० लिट्०, दर्शनाचार्य, पद्मभूषण 15

6. गुरुपञ्चकम्—श्री वेदानन्द झा 22

7. श्री श्री माँ आनन्दमयी-प्रसङ्ग—श्री अमूल्यकुमार दत्तगुप्त, एम्० ए०, बी० एल्० 24

8. श्रीकृष्ण-कीर्तन की महिमा—श्रीरामनरेश दीक्षित 30

9. मातृ-सत्सङ्ग—श्री रघुनाथदास गोस्वामी (ब्रह्मचारी कांतिभाई) 34

10. पुरातन स्मृति—स्वामी नारायणानन्द तीर्थ ... 42

LIBRARY
No. ....
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

Contents

ENGLISH SECTION

Page No.

1. Matri Vani 1
2. Conversations with Sri Sri Ma Anandamayi —Professor B Ganguly 4
3. A South Indian Mystic—T. Krishnaji, B.A , B.L. 8
4. The Fundamental Principles of the Dhyana School in China —Dr. Chou Hsiang Kuang—Ph. D. (Delhi) 15
5. Prajnā—The Light of Intuition —Professor Madan Gopal, M. A. (Alld.), B. Litt. (Oxon), C. P. E. S. (Retd) 21
6. Pages from my Diary—Gurupriya Devi 28
7. New Diary leaves—Atmananda 35
8. Matri Lila 42

Printed & Published by K. Bose for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi,
at the Kamala Press, Godhowlia, Varanasi.

Ananda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teachings of Shree Shree Ma Anandamayee and with other religio-philosophical topics.

Board of Editors

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M.A., D. Litt.
Kumari Lalita Pathak, M.A,
Kumari Padma Misra, M.A., Acharya.
Kumari Bithika Mukerji, M.A., D. Phil.
Brahmacharini Atmananda.
Sri Sailesh Brahmachari.
Sri Amulya Kumar Dutta Gupta, M.A., B.L.
Sri K. Bose—*Managing Editor.*

* * *

**Annual subscription (postage free) India—Rs. 5/-
Foreign—Rs. 6/- or 10 shillings or dollars 1·25 only.**

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English in the beginning of the months of May, August, November and February. The year begins from May.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha, Bhadaini, Varanasi, (U.P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U P.).

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent *latest by the second week of the month of publication.*

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to "dishonour" any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a considerable loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Contents

HINDI SECTION

1. मातृवाणी 1
2. मातृ कथामृत—नीलमणि 3
3. डायरी के कुछ पन्ने—गुरुप्रिया देवी 6
4. इच्छाशक्ति—महामहोपाध्याय श्रीयुक्त गोपीनाथ कविराज, एम ए०, डी-लिट्० 12
5. मनोवैज्ञानिक परामनोविद्या में क्यों रुचि लें—डा० भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डि० लिट्०, दर्शनाचार्य, पद्मभूषण 15
6. गुरुपञ्चकम्—श्री वेदानन्द झा 22
7. श्री श्री माँ आनन्दमयी-प्रसङ्ग—श्री अमूल्यकुमार दत्तगुप्त, एम्० ए०, बी० एल्० 24
8. श्रीकृष्ण-कीर्तन की महिमा—श्रीरामनरेश दीक्षित 30
9. मातृ-सत्सङ्ग—श्री रघुनाथदास गोस्वामी (ब्रह्मचारी कांतिभाई) 34
10. पुरातन स्मृति—स्वामी नारायणानन्द तीर्थ ... 42

Contents

ENGLISH SECTION

Page No.

1. Matri Vani 1
2. Conversations with Sri Sri Ma Anandamayi —Professor B Ganguly 4
3. A South Indian Mystic—T. Krishnaji, B.A , B.L. 8
4. The Fundamental Principles of the Dhyana School in China —Dr. Chou Hsiang Kuang—Ph. D. (Delhi) 15
5. Prajnā—The Light of Intuition —Professor Madan Gopal, M. A. (Alld.), B. Litt. (Oxon), C. P. E. S. (Retd) 21
6. Pages from my Diary—Gurupriya Devi 28
7. New Diary leaves—Atmananda 35
8. Matri Lila 42

Printed & Published by K. Bose for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi,
at the Kamala Press, Godhowlia, Varanasi.

ĀNANDA VĀRTĀ

अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपने में आप

VOL. IX] MAY (BIRTHDAY NUMBER) 1961. [NO. 1

—मातृ-वाणी—

"इस कण्टकाकीर्ण मार्ग में भी गुरु सदा हाथ पकड़ कर भगवान् की ओर ले जाते हैं। इस सत्य को ध्यान में रखना चाहिये। कभी फास्फोरस् का प्रकाश ध्यान में आना स्वाभाविक है। किन्तु वे ही तो सब रूपों में हैं। जिस गति से सर्व अबाध रूप प्रकट हों उसी गति में स्थिर रहने की चेष्टा यथाशक्ति सदा करनी चाहिये। महामिलन की आशा से यात्रा करने में जहाँ प्रकाश की सफलता की आशा है।

× × × ×

"संसार में कौन किसका है ? जिस जिस के कर्म सम्पूर्ण हो जाते हैं वह यात्रा पूर्ण करने की चेष्टा करता है। संसारयात्रा में यह स्थिति स्वाभाविक है। किन्तु इससे व्याकुल होना नहीं चाहिये। आने जाने के मार्ग में जिनके साथ मिलन होता है उनके बन्धन से इतना दुःख और शोक में व्याकुल होने पर अपने मार्ग की यात्रा का सुफल कैसे होगा ? मुक्त-

गति से अपने स्वरूप-प्रकाश की चेष्टा करनी ही होगी। महापथ के यात्रियों को यात्रा सफल करने की चेष्टा करनी चाहिये। अपने स्वरूप का प्रकाश ही यात्रा की सफलता है।"

× × × ×

योगाभ्यास में आनन्द की झलक मिलना तो स्वाभाविक है। जबतक वह प्रकाश नहीं होता तबतक विक्षेप आता है। किन्तु ठीक ठीक गति हो रही है या नहीं यह तो गुरु ही बताते हैं। परिवर्तन उसी को कहते हैं जिसमें जागतिक धारा शिथिल हो जाय। जागतिक भावधारा जितनी ही शिथिल होती है उतनी ही आनन्द की दिशा है।

× × × ×

स्वयं भगवान् के ही अनन्तरूप घर घर में हैं। आने पर जाना अवश्य ही होता है दो दिन आगे हो या दो दिन पीछे। गृहस्थ आश्रम में ही तो यह दारुण ज्वाला है। घर घर में यही रूप है। जिनकी सृष्टि और स्थिति है एवं जिनमें लय है उनकी शरण लेने के सिवा ज्वाला बुताने का रास्ता कहाँ है ?

× × × ×

संसार ही तो युद्धक्षेत्र है। परमधन से धनी होकर युद्ध में विजयी होने की चेष्टा करनी चाहिये।

मातृ-कथामृत

'नीलमणि'

(गताङ्क से आगे)

स्थान—प्रियधाम, राँची (समय १६-५-५८)

प्र०—तत्त्वज्ञान होने के उपरान्त क्या सुख-दुःख की अनुभूति होती है ?

उ०—दो एक जगह नहीं रह सकते। स्वरूपज्ञान का प्रकाश होने पर सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती।

प्र०—ब्रह्मज्ञान क्या अनुभूत होता है ?

उ०—वह अपरोक्ष ज्ञान है।

प्र०—ज्ञानी यदि दुःख प्रकट करते हुए मरे तो भी क्या उसकी मुक्ति होती है।

उ०—ज्ञान के साथ दुःख प्रकाश करने का कोई सम्बन्ध नहीं।

प्र०—विश्वास किस स्तर में होता है ?

उ०—मनोराज्य के स्तर में। व्यवहार जो कुछ होता है वह मनोराज्य के स्तर का है। मूल की बात यदि कहो तब तो वही एकमात्र हैं।

स्थान—राँची आश्रम। समय—२०-५-५८

प्र०—पिण्ड में ब्रह्माण्ड कैसे रहता है। शास्त्र कहते हैं।

उ०—क्या शास्त्रों में तुम विश्वास नहीं करते। ब्रह्माण्ड में क्या नहीं है ? सब में ही सब है, स्थूल रूप में हो या सूक्ष्म रूप में।

प्र०—विश्वरूप देखना क्या सम्भव है ?

उ०—अवश्य सम्भव है। पहले अर्जुन होओ, उसके बाद। सब ही सम्भव है। भगवान् के राज्य में अनन्त वस्तुएँ सम्भव हैं। फिर सम्भव भी असम्भव है।

प्र०—पिण्ड किसे कहते हैं।

उ०—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर तीन प्रकार के शरीर हैं। तीनों तरह के पिण्ड हो सकते हैं। तुम्ही सीमित शरीररूप में हो और तुम्ही व्यापक आत्मा के रूप में हो। अपने को जानने के माने हैं पिण्ड को जानना। उसके द्वारा विश्व ब्रह्माण्ड का सब कुछ जाना जा सकता है।

प्र०—गीता का विश्वरूप तो भयानक रूप है। उसका दर्शन मनुष्य कैसे करेगा ?

उ०—भगवान् की कृपा होने पर भगवान् के राज्य में सब ही संभव हो सकता है।

प्र०—आसक्ति ही सर्वनाश का मूल है यदि ऐसा बोध हो तो क्या यह समझना होगा कि कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् हो रही है।

उ०—जैसे पेट भरने पर किसी से पूछकर जानना नहीं पड़ता कि पेट भरा या नहीं होती वैसे ही कुण्डलिनी के जाग्रत् होने पर फिर जिज्ञासा करनी नहीं पड़ती।

प्र०—कुण्डलिनी के जाग्रत् होने पर क्या निद्रानाश हो जाता है।

उ०—पूर्ण जागरण ही जागरण है। सहस्रारपर्यन्त जागरण ही यथार्थ जागरण है। मूलाधार से क्षणिक स्पन्दन होना तो पूर्ण जागरण नहीं है।

कुण्डलिनी का जागरण होने पर जिस साधारण शक्ति का विकास होता है अथवा शारीरिक स्पन्दन प्रकट होता है, वह पूर्ण प्रकाश नहीं है, स्पर्शमात्र है। शान्त अभिव्यक्ति होनी चाहिये। आठ सात्त्विक लक्षण तथा अस्थायी शारीरिक विकारों का स्फुरण जो है वह सदा एक वस्तु नहीं है। प्रधान वस्तु सात्त्विक भाव है। देखना चाहिये कि किस परिमाण में काम, क्रोधादि की मात्रा कम हो रही है उसी से साधना की उन्नति का परिचय मिलता है। शान्त भाव के माने हैं जड़भाव नहीं। शान्तभाव में आनन्द, शान्ति, ज्ञान और एकाग्रता प्राप्त होगी।

प्र०—जप, ध्यान, भजन आदि करते रहने पर सदा आनन्द क्यों नहीं रहता ?

उ०—जिसे चाहते हो उसको पाने पर ही आनन्द होगा। जप करते करते ऐसी स्थिति आती है, जब मालूम पड़ता है कि हमारे अधीन मन हुआ तब पाने का आनन्द, रूपदर्शन आदि का आनन्द होता है। सदा यह भाव रख सकना संभव नहीं। इसी से आनन्द नहीं होता।

प्र०—सदा आनन्द रखने के लिए क्या करना चाहिये ?

उ०—अखण्ड जप-ध्यान में संलग्न रहना होगा। पेड़ का भी खायेंगे नीचे का भी खायेंगे यह नहीं चलेगा। मन चारों ओर विक्षिप्त रहता है जबरदस्ती थोड़ा सा जप करने से क्या होगा ? अभ्यास योग के द्वारा मन को एकाग्र करना होगा।

डायरी के कुछ पन्ने

गुरुप्रिया देवी

५ जून १९५९—

देहरादून किशनपुर आश्रम में ही माँ हैं। शरीर खूब अच्छा नहीं चल रहा है।

छोटी सी एक घटना है, पर है विशेष उल्लेखनीय। रात में माँ सोई हैं। पुष्प माँ को पंखा झलने गयी, माँ ने मना किया। थोड़ी देर बाद उसे फिर इशारे से बुलाकर कहा—"न मालूम कौन इस शरीर को पंखा करता है।" यह कहना अनावश्यक है कि यह सब सूक्ष्म का व्यापार है।

बाद माँ ने मुझसे कहा—"बीच बीच में ऐसा होता है कि दरवाजा बन्द है। कमरे में कोई नहीं। किन्तु तब भी इस शरीर पर कोई पंखा झलता है।"

६ जून १९५९—

रात में मौन के बाद माँ के साथ बातचीत हो रही है। बातचीत करते करते माँ कह रही हैं—"छोटी बच्ची है। इसी से सभी स्नेह करते हैं। जिसका कोई नहीं और कुछ नहीं, उसके ऊपर सभी स्नेह करते हैं। सब इसीलिए इस शरीर को खाना देते हैं, पहिरने को देते हैं, प्यार करते हैं।

हीरू ब्रह्मचारी बोल उठा—"माँ ही तो सबको आकर्षित करती हैं।"

माँ—(हँसकर) कौन आकर्षण करता है ? किसके निकट करता है ? क्यों करता है ? तब कुञ्जन बोला—मालूम पड़ता है माँ के पास वशीकरण मन्त्र है।"

माँ—"वशीकरण सीखने में भी दो वस्तुएँ लगती हैं—गुरु और लिखना-पढ़ना। किन्तु इस शरीर के तो कुछ भी नहीं है।"

डा० पन्नालालजी—"माँ आपने एक बार कहा था कि आपके निकट आने पर किसी का बुरा नहीं होगा।"

माँ—सो तो ठीक ही है। बुरा होगा नहीं। भला होगा ही, होगा ही, होगा ही।

वाटूदा—"बस, हम सब माँ का आशीर्वाद पा गये।"

माँ—ठीक ही तो कहती हूँ। छोटी बच्ची के समीप आने से बुरा कैसे होगा? यह शरीर तो पन्नालाल पिताजी की गुड़िया (छोटी बच्ची) है। इसलिए पिताजी का बुरा करने का बच्ची का अधिकार क्या?

मैं—"इस समय तुम चाहे जिस भाव से जो ही कहो।"

८ जून १९५९—

माँ का शरीर खराब ही चल रहा है। आज फिर दाँत में भीषण पीड़ा हो रही है। तीसरे पहर एकाएक उसी अवस्था में शरीर में तरह तरह की क्रियाएँ आरंभ हुईं। बाद मैंने माँ के मुँह से सुना—"पीड़ा मस्तक पर जाकर घनीभूत हो गई। तुम लोग तो कहते हो ऐसा होना बहुत ही खराब है। वही दिशा प्रबल रही। उसी समय शरीर में न जाने कैसा होने लगा। इस शरीर का यदि ख्याल होता तो बन्द भी हो सकता था। किन्तु ख्याल हुआ जो होना हो, हो। शरीर में नाना रकम के भावों का उदय होने लगा।

बहुधा मैं देख चुकी हूँ कि कभी कभी कठिन रोग में भी माँ की क्रिया आदि हो जाती हैं। उस समय माँ को रोग का कोई ख्याल ही नहीं रहता और अच्छी भी हो जाती हैं।

माँ ने कहा—"अच्छा भी हो सकता है और खराब भी बस। हँसते हँसते भी हो जा सकता है। रोते रोते भी हो जा सकता है।"

आज कोलम्बिया (दक्षिण अमेरिका) से एक सज्जन माँ के दर्शन करने आये हैं। दिल्ली से माँ के साथ कुछ बातें करने के लिए ही टैक्सी करके कुछ घण्टों के लिये यहाँ आये हैं। माँ के साथ बहुत देर तक उनकी विविध आध्यात्मिक बातें हुईं। माँ का दर्शन कर तथा माँ के साथ बातें कर वे बहुत ही सन्तुष्ट हुए।

कल मंसूरी से लौटते समय भारत में चिली के राजदूत और भी कई विदेशी लोगों को साथ लेकर माँ के दर्शन के लिए यहाँ उतरे। वे सब मंसूरी में दलाई लामा के दर्शनों के लिए गये थे। उनके साथ क्या क्या बातें हुईं यह भी उन्होंने बतलाया। किन्तु अनेक आध्यात्मिक प्रश्नों के सत् उत्तर उन्हें नहीं मिले। वे ही प्रश्न आज उन्होंने फिर माँ से किये एवं माँ के मुख की बातें सुनकर खूब ही सन्तुष्ट हुए।

१६ जून १६५६—

माँ के एक भक्त अपनी स्त्री और पुत्रवधू को साथ लेकर माँ के निकट आये हैं। सज्जन स्वयं वानप्रस्थी हैं। बहू को भी उस मार्ग में ले आ रहे हैं। बहू की एक विशेष अवस्था है। भद्र पुरुष तो उसकी बहुत व्याख्या कर रहे हैं। उन्होंने कहा, उनके गुरुदेव काशी में रहते हैं उन्होंने भी बहू को देखकर कहा है कि उसकी पञ्चम भूमि की अवस्था है। माँ का आशय उन्होंने जानना चाहा।

माँ ने लड़की से पूछा—"जब तुम्हारा ध्यान जम जाता है तब तुम क्या देखती हो?"

उसने उत्तर दिया—"पहले खूब आनन्द मालूम पड़ता है। फिर और आनन्द। बीच में कुछ भी नहीं रहता।"

माँ ने भद्र पुरुष से कहा—"यह तो बच्ची है। तुम समझ लो। जब तक मन है तब तक समाधि नहीं। फिर भी वह शरीर और मन का एक स्तम्भित भाव कहा जा सकता है। उसके मुँह की बातों द्वारा ही तुमको समझाया। यह जो कहती है आनन्द का भाव पहले रहता है, उसके बाद फिर कुछ नहीं रहता। इन सबका ज्ञाता (बोद्धा) कौन है? मन का काम जब तक चलता है तब तक समाधि नहीं।

थोड़ा रुक कर माँ ने कहा—"और भी एक पुरुष इस शरीर के निकट आया था। उसने कहा था कि मेरा काम-काज में मन लगता नहीं, समाधि में मन लगता है एवं कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् है। बार बार ही "मेरा" "मेरा" कहता था। उससे कहा गया, 'मेरा' और 'मैं' रहते न समाधि होती है और न कुण्डिलिनी ही जाग्रत् होती है। वास्तविक समाधि होने पर यह सब कुछ नहीं रहता। देखो पेड़ पर जब आम पकता है तब आम कभी नहीं कहता कि मैं पक गया हूँ, मुझे ले जाओ। लक्षण देख कर ही ज्ञात होता है। और एक बात है किसी के न लेने पर वह अपने आप ही जमीन पर गिर पड़ता है। देखो कितना अच्छा है। जहाँ से प्रकट होना वहीं आना। एक ही स्थान तो है।

भद्र पुरुष माँ की बातें सुनकर बहुत ही आनन्दित हुए ऐसा प्रतीत हुआ। माँ आश्रम की बड़ी लड़कियों को दिखाकर बोलीं—ये सब हमारी बन्धु, बड़े घर की लिखना पढ़ना जाननेवाली, एम्० ए०, बी० ए० पास हैं। किन्तु फिर भी सब कुछ त्याग कर इस रास्ते में इस शरीर के लिए ही यहाँ आई हैं। इस शरीर को तो सेवा करना आता नहीं। किन्तु फिर भी मेरी बन्धु कृपा कर इस शरीर से स्नेह करती हैं।"

भद्र पुरुष की इच्छा है बहू को माँ के निकट रख जायँ। वह बड़े घर की लड़की है। पहले भाव भी न जाने कैसा था। माँ के मुख से ये सब बातें सुनकर मानो भाव में परिवर्तन हो गया।

माँ ने आगे और भी कहा—सदा तो लड़कियों को संग रखना सम्भव है नहीं। उनकी भी एक आबरू है ना। और जो सब असुविधाएँ सहन कर सकती हैं उनमें से शायद दो एक को सङ्ग रखा जाता है। दोस्तजी, यह राह बड़ी कठिन है। दस जन आते हैं, दस तरह की बातें होती हैं। उन सबकी उपेक्षा करनी पड़ती है। जो निन्दा करता है वह एक तरह से उपकार ही करता है।"

२० जून १९५९—

आज वही भद्र पुरुष स्त्री को साथ लेकर चले जा रहे हैं। माँ ने बहू से पूछा—क्यों रोओगी तो नहीं ?

शाम को डा॰ गोपीनाथ कविराजजी काशी लौट रहे हैं। माँ भी टहलने बाहर हो मोटर द्वारा उन्हीं के साथ स्टेशन की ओर चलीं। वह भद्र पुरुष और उनकी स्त्री भी आज ही सन्ध्या की ट्रेन से रवाना हो रही हैं। उनके साथ फिर स्टेशन पर भेंट हुई। माँ के साथ बहू भी थी।

भद्रपुरुष ने खूब उत्साह से बहू को दिखाकर कहा, "क्यों माताजी, वह पास तो हो गई है ? आप तो मालूम पड़ता है, डर रही थीं कि आश्रम में रह सकेगी या नहीं ?"

माँ ने थोड़ा हँसकर कहा—"पिताजी, अन्त में पास ही पास है।" और कुछ नहीं कहा।

२२ जून १९५९—

ऐसा संयोग हुआ कि तुरन्त कल ही दो टेलीग्राम आ पहुँचे। बहू का पति लिखता है शीघ्र आने के लिए। उसका मन बहुत चञ्चल हुआ है।

आज सबेरे ही वह भद्रपुरुष स्वयं आ पहुँचे, बहू को साथ ले जायँगे।

सभी यह देखकर आश्चर्य में पड़ गये। पहले ही माँ ने कह दिया था--"देखो न, अन्त तक क्या होता है? जो सत्य है वह ठीक समय पर प्रकट होगा ही, किसी के भाव में बाँधा नहीं डालनी चाहिये।"

माँ ने टेलिग्रास की बात का उल्लेख कर भद्र पुरुष से कहा—पिताजी, इन तीन साढ़े तीन वर्ष स्त्री को लेकर संसार-सुख का आनन्द यदि न पाता तो तुम्हारा लड़का पुनः स्त्री को लौटा लाने के लिए इतना अस्थिर न होता।

भद्रपुरुष अब, मालूम होता है, माँ की सब बातों का मर्म जान सके। उसी दिन वे लड़की को साथ लेकर लौट गये।

२६ जून १६५६--

रात में माँ सोई हैं। बूनि माँ के पैरों में मालिश कर रही है। एकाएक माँ बोल उठीं—"इस जगह एक घनीभूत-भाव है। तुम सब मिलकर भावराज्य की रचना कर डालो, ध्यान-जप में डूब जाओ। मन और हृदय से लग जाओ भगवान् के ध्यान में और भगवान् के चिन्तन में।

इच्छाशक्ति

महामहोपाध्याय श्रीयुक्त गोपीनाथ कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०

जो लोग योगशास्त्र के ज्ञाता नहीं एवं अध्यात्मविज्ञान से सुपरिचित नहीं उन लोगों में इच्छाशक्ति के सम्बन्ध में एक भ्रान्त धारणा बद्धमूल दीख पड़ती है। साधारणतः पाश्चात्य साहित्य में will power (विल पावर) के नाम से जिस शक्ति का विवरण दिखाई पड़ता है, उसी को बहुत से लोग इच्छाशक्ति मान बैठे हैं। किन्तु यह सत्य नहीं है। योगी लोग जिसे इच्छाशक्ति का नाम देते हैं वह साधारण शक्ति नहीं है—वह सृष्टि की मूल शक्ति है, क्योंकि उसी शक्ति के प्रभाव से सृष्टि का प्रथम प्रादुर्भाव हुआ और इस समय भी हो रहा है। साधारण मनुष्य में इच्छाशक्ति तो दूर रही किसी भी शक्ति का विकास नहीं। उसमें इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति सभी सोई हैं। इसलिए सुप्त महाशक्ति का जब तक उद्बोधन न हो तब तक किसी भी शक्ति के स्फुरण का अनुभव नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत प्रबन्ध में आगमसिद्धान्त के अनुसार दो चार बातें कहने की हमारी इच्छा है। उससे योग का वास्तविक रहस्य क्या है एवं उसका माहात्म्य कहाँ है यह समझ में आ सकेगा। शास्त्र में लिखा है—

चिदात्मा हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥

इसका तात्पर्य यह है कि सृष्टि के पहले परमेश्वर ने इच्छाशक्ति के द्वारा अपने स्वरूप में स्थित पदार्थसमूह को उपादान के बिना ही बाह्य रूप में प्रकट किया। योगी जैसे इच्छाशक्ति के प्रभाव से बाहरी उपादानों का अवलम्बन किये बिना ही केवल इच्छामात्र से वस्तुसृष्टि करते हैं यह भी वैसा ही है। चैतन्य

रूपी परमात्मा ही विश्वके मूलकारण हैं। वे अखण्ड, एक और अद्वितीय हैं। वहाँ निमित्त और उपादान में कोई भेद नहीं। लौकिक जगत् में यदि किसी वस्तु की सृष्टि करनी होती है तो एक ओर जैसे उस वस्तु के उपादान की आवश्यकता पड़ती है दूसरी ओर वैसे ही सृष्टि कर्ता की इच्छा आदि भी आवश्यक होते हैं। इनमें एक उपादान और दूसरा निमित्त कहलाता है। सर्वत्र ही ऐसा देखा जाता है। किन्तु आदि सृष्टि में निमित्त और उपादान का विभाग न रहने से सृष्टिकर्ता के आत्मस्वरूप से ही केवल उनकी इच्छा के प्रभाव से जिस किसी पदार्थ की सृष्टि हो सकती है। वस्तुतः इस स्थल में उपादान और निमित्त अभिन्न हैं।

विश्व के मूल में, अद्वैतदृष्टि से, एकमात्र अद्वैत परमसत्ता ही है, द्वितीय कुछ नहीं है। यह परमसत्ता वाणी और मन की अगोचर एवं बुद्धि की पहुँच से परे है। हम सचराचर जिस ब्रह्म वस्तु को सच्चिदानन्द कहते हैं वह इस परमसत्ता से अभिन्न है। वस्तुतः इस अखण्डसत्ता में भी एक हिसाब से स्तर-विन्यास दिखाई देता है। यह परम या पूर्णसत्ता ही वस्तुतः सत् के नाम से वर्णनीय है। यह अखण्ड, एक, समरस और निष्कल है। यह निरञ्जन और अलख तत्त्व है। वास्तव में यह तत्त्व नहीं है, तत्त्वातीत है। यह केवल तत्त्वों से ही परे नहीं है कला के भी अतीत है। कौलों ने इस परमशान्त स्थिति का ही 'कुल' नाम से वर्णन किया है। सम्पूर्ण विश्व उसी से उद्भूत होता है, उसी में स्थित रहता है एवं कालक्रम से अन्त में उसी में लीन हो जाता है। केवल विश्व ही नहीं, विश्वपिता और विश्वमाता जिन्हें कहा जाता है उनका भी इस अव्यक्त कुल से ही प्रकाश होता है। जो विश्वपिता शिव हैं वे अकुल हैं एवं जो विश्वमाता शक्ति हैं वह कौलकी हैं, दोनों चित्स्वरूप हैं। शिव प्रकाशरूपी चित् हैं और शक्ति उस प्रकाश की आत्मविमर्शरूपी चित् हैं। दोनों ही मूलतः एक हैं, अतः अभिव्यक्त अवस्था में भी दोनों के मध्य ऐसा सम्बन्ध रहता है कि एक के बिना दूसरे का स्फुरण ही नहीं होता अर्थात् शिव के बिना शक्ति के अस्तित्व की कल्पना नहीं होती

एवं शक्ति के बिना शिव शवमात्र हैं। यद्यपि दोनों चिद्रूप ही हैं फिर भी दोनों की स्थिति में थोड़ी विलक्षणता है। एक स्थिति शास्त्र के अनुसार 'एकवीर' नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थिति में शिव और शक्ति में परस्पर किसी अंश में किसी प्रकार का वैशिष्ट्य नहीं रहता। दूसरी स्थिति में दोनों में परस्पर कुछ वैलक्षण्य उपलब्ध होता है। उसके अनुसार एक चित् बिम्बस्थानीय है और दूसरी भी उसके आत्मप्रकाश के रूप में प्रतिष्ठित है। इस अवस्था में दोनों चितों का परस्पर आभिमुख्य दिखाई देता है। जैसे एक आदमी समीपवर्ती दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखता है यह भी कई अंशों में वैसा ही है। इन दोनों चितों के मूल में एक ही चित् है यह कहना अनावश्यक है। किन्तु एक होने पर भी स्फुरण के अनुसार उन्हें दो के रूपों में ग्रहण करना होगा। इस आभिमुख्य के कारण दोनों में तीव्र आकर्षण की क्रिया अनुभूत होती है। उसके प्रभाव से एक मन्थन की क्रिया प्रकट होती है जिससे आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। इस तरह समझ में आ सकेगा कि परमसत्ता की यामल अवस्था में एक चित् तथा दूसरी आनन्द के रूप में आविर्भूत होती है, किन्तु दोनों ही कला हैं—चित्कला और आनन्दकला—दोनों ही निष्फल परमसत्ता को पृष्ठभूमि में रखकर उदित होती हैं। यह निष्कल परमसत्ता यदि सत् है तो ये दोनों ही कलाएँ उसकी अन्तरङ्ग कला चित् और आनन्द के रूप में गृहीत होने योग्य हैं। इन तीनों को मिलितरूप में सच्चिदानन्द ब्रह्म कहते हैं। स्मरण रखना होगा कि चित्कला के अभाव में सद्वस्तु सत् होकर भी असत् है। चित् और आनन्द सत् की अन्तरंग कलाएँ हैं। उसकी बहिरङ्ग कला भी है। वही इच्छा, ज्ञान और क्रिया के नाम से अभिहित होती है।

चित् और आनन्द एक होने पर भी सर्वथा एक नहीं हैं, क्योंकि आनन्द चित् होकर भी केवल चित् नहीं है, उसमें भविष्य में जिस विश्व की सृष्टि होगी, उसका आभास विद्यमान रहता है। आनन्द भावी विश्व को गर्भ में धारण कर

सृष्टि की उन्मुख अवस्था के लिए प्रतीक्षा करता है। गर्भवती नारी जैसे गर्भस्थित सन्तान के प्रसव की प्रतीक्षा करती है यह भी अधिकांशतः वैसा ही है। किन्तु चित् अवस्था वैसी नहीं है। चित् और आनन्द दोनों चैतन्यस्वरूप होने पर भी एक निराभास है और दूसरा साभास है। किन्तु यह आभास अन्तःस्थित आभासमात्र है। इसीलिए वह चिदात्मक है। जब तक वह बाहर प्रकट नहीं होता तबतक उसे परमस्वरूप के ही अन्तर्गत जानना होगा। किन्तु यह चिदवस्था नहीं है, आनन्द अवस्था है। उपनिषद् ने कहा है—

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। अर्थात् चित् की आनन्दात्मक अवस्था से ही विश्व की उत्पत्ति होती है, आनन्द के मध्य में विश्व स्थित रहता है और आनन्द में लीन होकर विद्यमान रहता है। इस आनन्दात्मक आत्मा के अन्दर स्थित विश्व को बाहर ले आना ही विसर्ग कहलाता है। इसके लिए परमात्मा में इच्छाशक्ति की क्रिया आवश्यक होती है, क्योंकि इच्छाशक्ति के बिना आत्मा के भीतर स्थित सत्ता अर्थात् पदार्थ बाहर नहीं लाया जा सकता।

जब परमेश्वर की इच्छाशक्ति का उन्मेष होता है तब विश्व इदं रूप में अर्थात् बाह्य रूप में प्रकट होता है। 'बाह्य' शब्द का अर्थ है आत्मस्वरूप के बाहर। आत्मा यदि अद्वैत है, यदि उससे भिन्न और कुछ नहीं हो सकता है तो आत्मा से बाहर यह कथन कैसे? ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसका उत्तर यह है कि मूल में बाहर नाम का कुछ न रहने पर भी भगवान के आत्मसंकोच के कारण इदंरूप में बाह्यभाव का स्फुरण होता है। यह कहना अनावश्यक है कि यह पूर्ण अहंभाव के खण्डित होने से होता है। इसी का नाम महाशून्य की सृष्टि है। विश्व आविर्भूत होकर इस महाशून्य का आश्रय कर इच्छाशक्ति से प्रकट होता है। विश्व इच्छा का विषयीभूत है, कारण इच्छाशक्ति के स्फुरण से यह आविर्भूत हुआ है। किन्तु इच्छा का विषयीभूत होने पर भी यह प्रथम अवस्था में

इच्छा के साथ अभिन्न रूपमें विद्यमान रहता है। यही विश्व की अव्यक्त अवस्था है। इसके पश्चात् सृष्टि के बहिर्मुख प्रभाव से इच्छाशक्ति से ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होता है। ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होने पर विश्व अव्यक्त अवस्था का त्याग कर अभिव्यक्त अवस्था को प्राप्त होता है। इस अवस्था में विश्व ज्ञानरूप में योगियों की अन्तर्दृष्टि के सामने भासमान होता है। जो विश्व पहले आनन्द अवस्था में संविद् से अभिन्न था, इच्छाशक्ति के प्रभाव से जो इच्छा में अव्यक्त रूप से विद्यमान था, ज्ञानशक्ति के विकास से वह अभिव्यक्त होकर ज्ञान स्वरूप में स्थित होता है। इसके बाद ज्ञान की तरंगित अवस्था में वह ज्ञान में स्थित होकर ज्ञेय रूप से पृथक् आकार में अपने को प्रकट करता है। यह आकार ज्ञान का ही आकार है इसमें सन्देह नहीं है। इसके पश्चात् क्रिया शक्ति का उन्मेष होने पर वह आकार ज्ञान से च्युत होकर कार्य का आकार धारण करता है। यही हम लोगों का परिचित स्थूल आकार है। यह मायिक या प्राकृत रूप है! अवश्य इसमें भी स्थूल और सूक्ष्म का विभाग है।

समष्टिरूप से सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति भी वैसी ही है। मोटे तौर पर यदि कहा जाय तो आत्मस्वरूप या भगवत्स्वरूप से विश्व को बाहर कर जानने का एकमात्र उपाय इच्छाशक्ति की क्रिया है। इच्छाशक्ति का भेद हो जाने पर विश्वभेद हो जाता है, तब विश्व आत्मस्वरूप में अभिन्न रूप से प्रतिबिम्ब के तुल्य दिखाई देता है। यह आनन्द की अवस्था है। अभिन्नसर्वज्ञत्व इस स्थिति का लक्षण है। योगी की जागतिक स्थिति में इच्छाशक्ति प्रधान रहती है, किन्तु पारमार्थिक स्थिति में आनन्द का भेद कर चित्‌शक्ति प्रधान होती है—किन्तु मूल में सब एक महाशक्ति का ही खेल है।

मनोवैज्ञानिक परामनोविद्या में क्यों रुचि लें ?

डा० भीखनलाल आत्रेय, एम०ए०, डी-लिट्०, दर्शनाचार्य, पद्मभूषण

(गताङ्क से आगे)

अब प्रश्न यह उठता है कि परामनोविद्या क्या है और इसकी महत्त्वपूर्ण खोजें क्या हैं ? सन् १८७० के आसपास सर विलियम क्रुक्स (Sir William Crooks) और सर विलियम बैरेट (Sir William Barrett), इन दो महान् विज्ञानवेत्ताओं ने कुछ विचित्र और "अलौकिक" तथ्यों की आश्चर्यजनक छानबीन की और इससे सन् १८८२ में इङ्गलैण्ड में एक संस्था का निर्माण हुआ जिसके उद्देश्य निम्नलिखित थे :—"एक मन का दूसरे के ऊपर पड़ने वाले साधारण-प्रत्यक्षेतर प्रभाव के स्वरूप और विस्तार की जाँच; सम्मोहन और मोहनिद्रा में होने वाले दूरदर्शन इत्यादि बातों का अध्ययन ; मृत्यु के या अन्य जो छाया में दिखाई देती हैं और भूत-प्रेत के कारण घरों में जो उत्पात होते हैं उनके बारे में विश्वस्त सूत्रों से प्राप्त प्रामाणिक जानकारी की सावधानी से जाँच-पड़ताल ; 'आत्मा और परलोक'—सम्बन्धी तथ्यों की मीमांसा और उनके कारण तथा सामान्य नियम निर्धारित करना। उक्त संस्था के संस्थापकों के शब्दों में इस संस्था का उद्देश्य उपर्युक्त विविध प्रश्नों का निष्पक्ष भाव से उत्तर पाना होगा और इसके कार्यों के पीछे सत्यानुसन्धान की विशुद्ध प्रेरणा रहेगी जिसके द्वारा विज्ञान ऐसी-ऐसी समस्याओं को हल करने में समर्थ हुआ है जो किसी समय अत्यधिक जटिल, दुर्बोध और विवादास्पद थीं।" जब से इस संस्था की स्थापना हुई तबसे यह अमेरिका और योरप महाद्वीप में अपनी विविध शाखाओं के द्वारा नितान्त वैज्ञानिक विधि से अपने खोजपूर्ण कार्यों को आगे बढ़ाती रही है। प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता, दार्शनिक और साहित्यिक जिनमें बहुसंख्यक लोग सत्यप्रियता और

ईमानदारी के लिये विख्यात हैं, इस संस्था के सक्रिय सदस्य, मन्त्री अथवा सभापति रह चुके हैं। प्रोफेसर हेनरी सिज्विक (Henry sidgwick) जो इङ्गलैण्ड में एक अत्यधिक सतर्क और सन्देहवादी व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध थे, इसके ख्यातनामा सभापतियों में प्रथम थे। प्रो० स्टूअर्ड (Steward) अर्ल ऑफ़ बालफ़र (Earl of Balfour), प्रो० विलियम जेम्स (William James), सर विलियम बैरेट (William Barrett), सर ओलिवर लॉज (Oliver Lodge), प्रो० चार्ल्स रिचेट (Charles Richet), प्रो० हेनरी बर्गसां (Henry Bergson), प्रो० सिलर (F' C. S' Schiller), प्रो० गिल्बर्ट मरे (Guilbert Murray), प्रो० विलियम मैकडूगल (William Mcdougall) और प्रो० हन्स ड्रीश (Hans Drisch) जैसे महापुरुषों ने इस संस्था के सभापति-पद को सुशोभित किया। पत्रों और ग्रन्थों दोनों के रूप में इसकी खोजों का वर्णन और समीक्षा करने वाले वृहत् और मूल्यवान् साहित्य की सृष्टि हुई। प्रो० विलियम जेम्स को भी यह कहने को बाध्य होना पड़ा कि "वास्तव में यदि कोई मुझे पूछे कि ऐसा वैज्ञानिक पत्र कौन है जिसमें निर्भ्रान्त विचार और गलतियों के उद्गमों की सावधानीपूर्वक छानबीन, दोनों पूर्ण विकास में हों, तो मैं आश्वस्त होकर 'प्रोसीडिंग्स ऑफ़ दि सोसाइटी फ़ार साइकिकल रिसर्च' (Proceedings of the society for Psychical Research) का नाम लूँगा" (Will to Believe and other Essays, p. 303-4)। इस संस्था का स्वयं अपने अनुसन्धानों के प्रति इतना अधिक आलोचनात्मक रुख था जितना इसके आलोचकों का हो सकता था। इसके अनुसन्धानों के विरुद्ध कोई आलोचक जो आपत्ति कर सकता था, स्वयं इसके सदस्यों ने उस आपत्ति को उठाया, उसके ऊपर वाद-विवाद किया और उस पर विस्तारपूर्वक विचार किया। जिस विषय की छानबीन की गई उसके लोकोत्तर रूप को स्वीकार करने से पूर्व जितनी भी साधारण व्याख्यायें हो सकती थीं उनकी पूर्णरूपेण परीक्षा की गई। कैरिंगटन (Carrington) के शब्दों में "सतर्क अन्वेषकों ने छल के सभी सम्भव तरीकों पर खूब विचार किया और ऐसी शर्तें

लागू कीं कि सभी परीक्षात्मक गोष्ठियों में धोखा देना एक तरह से असम्भव हो गया। अतीत में छल करने वाले माध्यमों का पर्दा फ़ास करने के जितने मामले हुये लगभग सभी स्वयं 'साइकिकल रिसर्च' संस्था के सदस्यों द्वारा हुये।.......... परामनोविद्यासम्बन्धी सभी प्रयोगों में हमने परिस्थितियों को ऐसा बनाने का प्रयत्न किया कि उनसे प्राप्त निष्कर्षों की व्याख्या ठगी के किसी भी सम्भावित रूप से न हो सके।

वैज्ञानिक विधि में निपुण अनुसन्धानकर्त्ताओं की इस संस्था के द्वारा जितनी भी खोजें हुई हैं और निरीक्षण तथा प्रयोग से प्राप्त विचित्र और रहस्यमय तथ्यों की व्याख्या करने के लिये उन्होंने जो परिकल्पनायें पेश की हैं, वे निश्चय ही मनोविज्ञान और दर्शन के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हमारे पास इतना समय नहीं है कि हम यहाँ परामनोविद्या-सम्बन्धी अनुसन्धानों में प्रत्येक का विस्तृत और सांगोपांग विवरण प्रस्तुत कर सकें। हम केवल उन्हीं का उल्लेख करेंगे जिनका मनोविज्ञान से अत्यधिक सम्बन्ध है। इस प्रसङ्ग में कुछ विख्यात और सर्वमान्य विद्वानों के उद्धरण देना ठीक रहेगा। प्रा० चार्ल्स रिचेट ने, जो कि पेरिस विश्वविद्यालय में शरीर-विज्ञान के प्राध्यापक थे, तीस वर्ष से अधिक परामनोविद्या-सम्बन्धी अनुसन्धान करने के बाद लिखा "प्रच्छन्नसंवेदन (Cryptesthesia), दूर क्रिया (Telekinesis}), ectoplasm और पूर्वज्ञान (premonition) कड़ी चट्टान अर्थात् सैकड़ों निरीक्षणों और सैकड़ों कट्टर प्रयोगों पर आधारित हैं। ......ज्ञान की एक ऐसी शक्ति है जो साधारण ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति से मौलिक रूप से भिन्न है (प्रच्छन्न संवेदन)। दिन की भरपूर रोशनी में भी वस्तुओं में कुछ गतियाँ बिना छुये होती हैं (दूर क्रिया), समूचे हाथ, शरीर और वस्तुयें एक बादल से आकृति ग्रहण करते हुए प्रतीत होते हैं और उनमें जीवन के सभी लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं (ectoplasm)। पूर्वज्ञान होते हैं जिनकी व्याख्या न तो दैवयोग से हो सकती है और न सूक्ष्मदृष्टि से तथा जिनकी सूक्ष्म बातें तक कभी-कभी सत्य सिद्ध हुई हैं ये मेरे दृढ़ और वैज्ञानिक निष्कर्ष हैं।"

(Thirty years of Psychical Research, p. 599)। विख्यात मनोवैज्ञानिक प्रो० विलियम मैकडूगल ने लिखा है :—

मेरा विचार है कि विचार-संक्रमण (telepathy) के पक्ष में अकाट्य प्रमाण हैं। ……मैं समझता हूँ कि ऐसे जोरदार प्रमाण काफी संख्या में इकट्ठे हो चुके हैं जो यह दिखाते हैं कि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य बिलकुल नष्ट नहीं हो जाता बल्कि उसके व्यक्तित्व का कुछ अंश तब भी जीवितों के ऊपर प्रभाव डालता रहता है। मेरी धारणा है कि दूरदर्शन (clairvoyance) के पक्ष में इतनी जोरदार दलील है कि एतद्विषयक अनुसन्धान को आगे बढ़ाना नितान्त आवश्यक है और वही मैं माध्यम (Medium) से सम्बन्धित अधिकांश "अलौकिक" बातों के बारे में भी कहूँगा (Religion and Science of Life, p. 80)। प्रसिद्ध जर्मन जीवशास्त्री प्रो० हन्स ड्रीश लिखते हैं :—"परामनोविद्या का अध्ययन सही रास्ते पर चल रहा है (Man and the Universe, p. 98)। विचार-संक्रमण (telepathy) एक निश्चित और मौलिक तथ्य। ……मनःपर्याय (thought-reading) भी काफी निश्चित रूप से स्थापित हो चुका है। ……निष्पक्ष निरीक्षण से दूरदर्शन की सत्ता भी प्रतीत होती है …… लेकिन शायद यह विचार-संक्रमण के ही कारण होता है। Psychometry) पहिली दृष्टि में सत्य मालूम पड़ता है। भविष्यवाणी (prophecy) को मैं सत्य के करीब कहूँगा" (Psychical Research)। एक योग्य जीवशास्त्री डा० राइन (Rhine) के द्वारा ड्यूक विश्वविद्यालय में किये गये हाल के प्रयोगों ने असन्दिग्ध रूप से अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (extra-sensory perception) को सत्य सिद्ध कर दिया है। डा० राइन ने लिखा है :— "अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष एक ऐसा तथ्य है जिसका वस्तुतः प्रदर्शन किया जा सकता है।" (Extra-Sensory Perception, p. 222)। "अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं है।" वही, (पृ० २२३) "यह संवेदना से मूलतः भिन्न है।" (New Frontiers of Mind, p. 144)। यह शक्ति उपयुक्त परिस्थितियोंके मौजूद रहने पर बराबर सक्रिय रहती है और इसके ऊपर निर्भर रहा जा सकता है।"

(Extra-sensory perception, p. 220)। प्रो० प्राइस (H. H. Price) अक्तूबर १९४० के 'फ़िलासफ़ी' के अंक में 'क्वेश्चन्स अबाउट टेलीपैथी ऐण्ड क्लेयरवायन्स' (Questions about Telepathy and Clairvoyance) नामक लेख में लिखते हैं :—"विचार-संक्रमण और दूर दर्शन के पक्ष में अच्छे और चतुर प्रमाण हैं; तथा पूर्वज्ञान, जो कि अलौकिक तथ्यों में शायद सर्वाधिक विरोधाभासयुक्त है, के पक्ष में भी काफी प्रमाण हैं।" परामनोविद्या के क्षेत्र में ३५ वर्ष से अधिक बहुत अच्छा काम करने वाले हियरवार्ड केरिंगटन (Hereward Carrington) ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'दि स्टोरी ऑफ़ साइकिक सायंस' (The story of Psychic Science) में लिखा है : "प्रायः प्रत्येक परामनोविद्याविद् इस बात से सहमत है कि आत्मा के पक्ष में अब इतना प्रमाण इकट्ठा हो चुका है कि इसे एक कामचलाऊ सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करना उचित है" (पृ० ३२३)। "मृत्यु के बाद आत्मा के अस्तित्व के पक्ष में प्रबल प्रमाण है" (पृ० ३२४)। इस तरह के असंख्य उद्धरण दिये जा सकते हैं; किन्तु इतना पर्याप्त होगा। इससे यह ज्ञात होता है कि परामनोविद्या के अन्वेषकों को कुछ ऐसे सच्चे और अच्छी तरह से छानबीन किये हुये दृष्टान्त मालूम हैं जो दूरक्रिया (telekinesis), ectoplasm, अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष (extra-sensory perception), विचार-संक्रमण (telepathy), psychometry, पूर्वज्ञान (premonition) और मृत्यु के बाद आत्मा के अस्तित्व (survival) को असन्दिग्ध रूप से प्रमाणित करते हैं। इनके समान ही विचित्र किन्तु वस्तुतः होने वाले ऐसे अन्य तथ्यों को फ़िलहाल छोड़ा जा सकता है, जैसे, levitation, dowsing, raps, poltergeists, (स्वतन्त्र लेख) (independent writing), (स्वतन्त्र भाषण) (independent voice), भौतिकीकरण (meterialisation), स्वयंलेखन (automatic writing) स्वयंभाषण (automatic speech), दूरदर्शन clairvoyance), दूरश्रवण (clairandience), छाया (apharition), प्रेत-बाधा (haunting) तथा "पूर्वजन्म" की स्मृति।

—क्रमशः

गुरुपञ्चकम्

श्रीवेदानन्द झा

उस गुरुवर को लाख प्रणाम।
जो संसृति यह लख अपने में
है रहता निश्चल दिनयाम। उस०
माया के चलचित्र अनेकों
जो मिथ्या कर लेता भान।
दृश्य सभी आरोप मात्र ये
दर्पण में प्रतिबिम्ब समान।
अपने को आनन्द ज्ञान घन
समझ रहा जो गति विश्राम। उस० ॥१॥
छिपा वृक्ष वट का नन्हें से
बीज बीच जैसे संसार।
अन्तस्तल में समझ रहा जो
देश काल का सब व्यापार॥
स्मृति सा जड़ जो यती देख ले
संसृति का सारा विस्तार।
'वही, वही तुम' एक मात्र जो
गाता गाता करे प्रचार।
हट जाते हैं लख कर जिसको
ये सारे भय दुविधा काम। उस० ॥२॥
भास्वर दीपक सा अविचल जो
करणों का प्रज्ञा, विश्वास।
आभा अपनी केन्द्रित कर सब
समझ रहा तन को अध्यास।
एकमात्र मैं हुआ न होगा
मेरा जन्म, मरण, परिवार।

शून्य समान समझता है जो
बुद्धि, प्राण, मन का व्यापार।
माया से मोहित मानव को
ले चलता जो प्रभु के धाम। उस० ॥३॥
होता अस्त सभी संसृति का
होने से ही नींद प्रगाढ़।
जगा हुआ भी जो सुषुप्ति में
लेकर एक भावना गाढ़ ॥
युवा, वृद्ध, बालक हैं जिसको
नर नारी सब एक समान।
रहता सभी अवस्था में सम
जो आदर्श विमल कल्याण ॥
स्वयं प्रतीक सदा शिव का जो
पृथ्वी का शृङ्गार महान। उस० ॥४॥
कारण कार्य विभेद समझ कर
बना हुआ रहता निर्वेद।
गुरू शिष्य या पिता पुत्र सा
ईश विश्व में लखे अभेद ॥
क्षर, अक्षर का पुरुषोत्तम जो
देख रहा महिमा विस्तार।
है सर्वात्मत्व समझाना
एकमात्र जिसका उपचार ॥
उस आनन्द सघन शिव प्रभु का
गाते गुणगण वेद तमाम।
उस गुरुवर को लाख प्रणाम ॥५॥

श्री श्री माँ आनन्दमयी-प्रसङ्ग

श्री अमूल्यकुमारदत्त गुप्त, एम्० ए०, बी० एल्०

(गताङ्क से आगे)

श्री श्री माँ किसी को दीक्षा देती हैं या नहीं

२—८—५० श्रीकाशीधाम—

गत गुरुपूर्णिमा के दिन जो दीक्षा जातीय घटना हुई थी उसे अनेक लोगों के मुख से सुनकर भी श्री श्री माँ के निकट उसे सुनने की मेरी बड़ी इच्छा थी। इसलिए जब ग्यारह बजे पाठ समाप्त हुआ तो मैंने माँ से कहा, "माँ, गुरुपूर्णिमा के दिन जो घटना हुई वह तुम्हारे मुख से नहीं सुन सका।"

माँ—(हँस कर) ओह, वह बात। घटना कुछ विशेष नहीं। गुरुपूर्णिमा के दो तीन दिन पहले मैंने देखा कि कई लोग आकर मेरे पीछे खड़े हैं। मैं और लोगों से बात कर रही हूँ और उनको भी देखती हूँ। उनमें से एक इस शरीर का जेठ था। वह बहुत दिन हुए मर चुका था। वह डाक्टर था और गम्भीरप्रकृति का आदमी था, उसका जब द्वितीय बार विवाह हुआ तब इस शरीर की उम्र ग्यारह, बारह वर्ष की होगी। उसके साथ इस शरीर की विशेष बातचीत भी नहीं थी। उस दिन रात को आकर उसने मुझसे कहा, "मुझे कुछ दो।" मैंने उससे कहा, "यह शरीर तो साधारण भाव से किसी को दीक्षा नहीं देता।" इसके उत्तर में वह उपस्थित लोगों को दिखाकर बोला, "तुम्हारे पास तो ये सब लोग हैं। इनमें से कोई यदि बेलपत्र पर कोई मन्त्र लिखकर तुमसे स्पर्श करवा कर दे दे

तो उससे भी (काम) हो जायगा।" कैसे यह काम करना होगा यह उसी ने मुझसे कह दिया। इस शरीर के मुख से भी हठात् निकल गया "अच्छा"। इस शरीर ने तो ऐसा कर ही डाला है। कोई तुलसीपत्र पर हरिनाम लिखकर उसे माला में गूँथ कर जब इस शरीर को देता है तब भी तो यह शरीर उस माला को दूसरे को दे देता है। अबनी (शर्मा) पिताजी अनेक समय बेलपत्र में बीजमन्त्र लिखकर इस शरीर के सिर और हाथ में देते हैं। यह बेलपत्र भी तो यह शरीर किसी न किसी को दे देता है।

जो हो, मैंने दीदी (खुकुनी दीदी) से सब बात बताकर कहा, "मैंने तो वचन दे दिया है। तू गुरुपूर्णिमा के दिन यह मुझे ख्याल करा देना, और भी एक काम करना। तू बेलपत्र पर रक्त चन्दन से शिव और शक्तिबीज लिख देना और तुलसीपत्र पर श्वेत चन्दन से वैष्णव बीज लिख देना। कौन बीज लिखना होगा यह मैंने नहीं कहा, पर दीदी तो मुझसे नाना बीजों की बात सुन चुकी थी, इसलिए उसने उसी से ठीक कर लिया कि बेलपत्र पर कौन कौन से बीज वह लिखेगी।

उस दिन और भी देखा कि एक तरफ बहुत से बेलपत्र और दूसरी तरफ तुलसीपत्र सजा कर रक्खे हैं और ये लोग अर्थात् आश्रम की कुमारियाँ चन्दन घिस रही हैं। दीदी बेलपत्र पर रक्त चन्दन से कुछ लिख रही है। इसके बाद उसने तुलसीपत्र हाथ में लेकर साफ किए, किन्तु कौन बीज उन पर लिखे—इस सम्बन्ध में उसे कुछ धारणा नहीं हुई और वह वैसे ही चली गई, किन्तु यह सब कुछ सूक्ष्म में देखा गया।

गुरुपूर्णिमा के पहले दिन रात में मैं लेटी थी पर नींद नहीं आती थी। सिर्फ करवटें बदल रही थी। कई दिनसे नींद का भाव ही नहीं था। चबूतरे के ऊपर खटिया डाल दी गई थी। कुछ देर वहाँ लेटी रही फिर दोतले पर जाकर लेट गई। कुछ देर बाद लड़कियोंके कीर्तन का शब्द सुनकर मालूम हुआ कि सबेरा हो गया।

दीदी (खुकुनी दीदी) की इच्छा थी कि गुरुपूर्णिमा के दिन इस शरीर को सजाकर पूजा करे। पर सवेरे मैंने नीचे आकर कहा कि वह सब कुछ नहीं होगा। नये मन्दिर (अर्थात् विरलामन्दिर) में जा, विशु से यह बात कह कर ऊपर लेटने चली गई। जब दीदी ने देखा कि जो उसके मन में था उसके होने की कोई सम्भावना नहीं है तो वह इस शरीर के पैर की जो छाप ली गई थी, उसके ऊपर पूजा का आयोजन कर खाना बनाने चली गई। उस दिन आश्रम में बहुत लोगों के प्रसाद पाने की बात थी। मैंने जो बात उसे ख्याल कराने को कही थी उसे वह एकदम भूल गई।

इधर मैं सवेरे बिस्तरे पर लेटी थी, इतने में देखा कि इस शरीर का वही जेठ आकर उपस्थित है। इस बार उसकी स्त्री भी उसके साथ थी। उन्हें देखते ही मैंने उदास को दीदी को बुलाने भेजा। मजा यह कि मुझे ख्याल होने के साथ ही साथ दीदी को भी पहले कही बात याद आ गई और वह उदास के खबर देने के पहले ही मेरे पास आई। तब उसके साथ मैं नवीन मन्दिर में गई।

दीदी ने जल्दी जल्दी दो बेलपत्रों पर रक्त चन्दन से शिव और शक्ति बीज लिखा। लिखकर उसने मुझसे पूछा, "इनका क्या करूँ ?" मैंने भी कहा, "वही तो, क्या किया जाय ?" दीदी बोली, "तो इन्हें गंगा के जल ही में दे दिया जाय।" मैंने भी कहा "यही अच्छा है।" इसके बाद वह तुलसीपत्र हाथ में लेकर साफ करने लगी उसका भाव बड़ा चञ्चल था। वह चूल्हे के ऊपर खाना चढ़ा आई थी, कहीं वह जल न जाय इसीलिए वह इतनी व्यस्त हो रही थी। इसी समय कोई दीदी को बुलाने आया। तब वह तुलसीपत्र विशु के हाथ में देकर चली गई। विशु ने तुलसीपत्र हाथ में पाकर मुझसे पूछा कि वह उस पर कौन सा बीज मन्त्र लिखे। मैंने उससे कहा, "तुम लोग तो नारायण पूजा करते हो, तुलसीपत्र पर इसी भाव का मन्त्र लिख सकते हो।" उसने वैसा ही करके वह तुलसीपत्र मेरे हाथ में दिया। मैंने फिर उसे उसी को लौटा दिया।

इस विशु ने ही छः साल पहले स्वप्न में इस शरीर से तीन बीज मन्त्र पाए थे। उनमें से दो उसे याद थे और तीसरा वह बिलकुल ही भूल गया था। यह बात उसने पहले भी बीच बीच में इस शरीर से कही थी। परन्तु तब इस शरीर को कुछ ख्याल न होने से यह शरीर कुछ नहीं बोला। एक बार विन्ध्याचल जाकर फिर उसने वही बात उठाई तो इस शरीर ने उससे कहा कि उसको जो दो बीज याद हैं वह उन्हीं दो बीजों का जप करता जाय। तब से वह यही करता आ रहा था। आज जब मैंने तुलसीपत्र उसके हाथ में लौटा दिया तो उसे हठात् याद आया कि तुलसीपत्र में जो बीज मन्त्र लिखा था वही उसका तृतीय बीज था। उसने यह बात मुझसे पूछी। मैंने उसे स्वीकार किया। आनन्द से उसका मुख और नेत्र उज्ज्वल हो उठे।

अब बाकी रहे इन दो बेलपत्रों पर लिखे हुए दो बीज। वह किसे दिये जायँगे इसका अब तक कोई ख्याल नहीं था। जब विशु को इस प्रकार पत्र देना हुआ तो इस शरीर को ख्याल हुआ कि यह मन्दिर (अर्थात् विरलामन्दिर) तो मना बाबा (मनमोहन घोष) ने तैयार किया है। उसे एक बेलपत्र देना चाहिए। तब उसे बुला कर उसे एक पत्र दिया गया। बाकी रहा एक और। तब फिर ख्याल हुआ कि अगर कोई अदीक्षित व्यक्ति इस समय कमरे में आए तो उसी को यह दिया जायगा। यह जैसे लौटरी डालने की तरह था। (सबका हँसना) इस शरीर ने बाहर दृष्टि डाली तो देखा कि गोपाल बाबा (डा० दासगुप्त) की स्त्री खिड़की के पास खड़ी है। उससे पूछा, "क्या भीतर आएगी।" उसने तत्काल भीतर आकर मुझे प्रणाम किया। प्रणाम करके जब वह लौट रही थी तो मैंने विशु से पूछा, "इसको यह बेलपत्र दे दूं?" विशु ने कहा, "अच्छा तो है दे दो।" उससे तीन बार यह पूछा, उसने तीनों बार यही उत्तर दिया। तब बेलपत्र गोपाल बाबा की स्त्री को दे दिया गया। यही हुई गुरुपूर्णिमा के दिन की घटना।

मैं—गुरुपूर्णिमा के दो दिन पहले जो तुम्हारे जेठ सूक्ष्मदेह में आए थे। उस दिन उनके साथ और भी कई सूक्ष्मदेहधारी पुरुष थे यह बात तुमने कही थी।

माँ—हाँ।

मैं—मालूम होता है वे सभी मृत थे ?

माँ—नहीं।

मैं—तो वह कौन थे ?

माँ—क्यों ? जो जीवित हैं वे क्या सूक्ष्मदेह में नहीं आ सकते ?

मैं—आ सकते हैं। वे भी क्या दीक्षाप्रार्थी थे ?

माँ—हाँ।

मैं—जिन्होंने तुमसे स्थूल में बिल्वपत्र पाया उनकी भी सूक्ष्मदेह उनके साथ थी ?

माँ—यदि ऐसा न होता तो उन्होंने पाया कैसे ?

मैं—यह जो घटना हुई, इसको दीक्षा कह सकते हैं ?

माँ—तुम्हारी जो इच्छा।

मैं—तुम क्या कहती हो ?

माँ—यही जो मैंने कहा "तुम्हारी जो इच्छा"।

मैं—यदि हम इसे दीक्षा कहें तो इन्हें किसके पास से दीक्षा मिली ?

माँ—(हँसकर) भगवान के पास से।

मैं—यदि मैं कहूँ कि तुम्हारे पास से दीक्षा मिली ?

माँ—यही जो कहा, "भगवान के पास से"।

स्वामी शंकरानन्दजी—यह तो एक ही बात हुई।

मैं—अच्छा तुमने अपने जेठ से कहा था कि "यह शरीर साधारणतः किसी को दीक्षा नहीं देता।" अब इसी को यदि हम तुम्हारी सीमा समझें अर्थात् एक काम तुम नहीं कर सकती हो—वह है दीक्षा देना।

माँ—सीमा देकर भी सीमा नहीं रख सकोगे।

मैं—क्यों ? जिस नियम का कोई व्यभिचार नहीं वह सीमा छोड़ और क्या है ?

माँ—तुम लोगों में जिस तरह से दीक्षा होती है, साधारणतः यह शरीर उस तरह से दीक्षा नहीं देता। फिर इस शरीर के मुख से भी तो मन्त्र निकलते हैं और उन्हें अन्य लोगों ने ग्रहण किया है, क्योंकि किसी न किसी तरह मन्त्र तो बोल ही दिया गया। इसके अलावा एक एक जन उलटा पलटा करके अपने मन्त्र का जप कर रहा है। उनमें से कोई कोई आकर इस शरीर से कहते हैं, "माँ, मैं ऐसे जप कर रहा हूँ पर मन में होता है कि ठीक नहीं हो रहा। तब क्या ऐसे जप करूँ ?" कैसे करने से जप ठीक ठीक होगा यह बताने का इस देह को ख्याल हुआ है, परन्तु उन्होंने भी ठीक उसी तरह से जप करना चाहा था।

मैं—माँ तुम जो यह कहती हो कि तुम साधारणतः दीक्षा नहीं देती हो इसका कोई अर्थ नहीं, क्योंकि भोलानाथ और भाईजी ने तुम्हारे मुख से मन्त्र पाया था। इसके अतिरिक्त तुमने स्वयं कहा है कि तुम जो लोगों को फूल, माला इत्यादि देती हो वह शक्ति संचार का काम करता है। शक्ति संञ्चार को ही दीक्षा कहते हैं। दीक्षा का एक नाम है शक्तिपात।

माँ—(हँसकर) केवल फूल माला क्यों ? किसी को जो सन्देश इत्यादि खाने को दिया जाता है वह भी उसी प्रकार का है।

नारायण स्वामी—तुम्हारे जेठ ने जो चाहा था वह क्या उन्हें मिला ?

माँ—हाँ।

मैं—इसी नए मन्दिर में क्या उन्हें वह मिला था ?

माँ—हाँ ! वह, उसकी स्त्री, उसके छोटे भाई, सभी ने पाया।

—क्रमशः

श्रीकृष्ण-कीर्तन की महिमा

रामनरेश दीक्षित 'नैमिषतीर्थ-पुरोहित'

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः ।
जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम् ॥

जो 'हे कृष्ण ! हे कृष्ण !! हे कृष्ण !!! ऐसा कहकर मेरा प्रतिदिन स्मरण करता है, उसे जिस प्रकार कमल जल को भेदकर ऊपर निकल आता है, उसी प्रकार मैं नरक से निकाल लाता हूँ। जो विनोद से, पाखण्ड से, मूर्खता से, लोभ से, अथवा छल से भी मेरा भजन करता है, वह मेरा भक्त कभी कष्ट में नहीं पड़ता। मृत्युकाल उपस्थित होने पर जो कृष्ण नामकी रट लगाते हैं, वे यदि पापी हों तो भी कभी यमराज का दर्शन नहीं करते। पूर्व अवस्था में किसी ने सम्पूर्ण पाप किए हों तथापि यदि वह अन्तकाल में 'श्रीकृष्ण' का स्मरण कर लेता है, तो निश्चय ही मुझे प्राप्त होता है। मृत्युकाल उपस्थित होने पर यदि कोई 'परमात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है' ऐसा विवश होकर भी कहे तो वह अविनाशी पद को प्राप्त होता है। जो कृष्ण का उच्चारण करके प्राण त्याग करता है उसे प्रेतराज यम दूर से ही खड़े होकर स्वर्ग को जाता देखते हैं।

श्मशाने यदि रथ्यायां कृष्ण कृष्णेति जल्पति ।
म्रियते यदि चेत्पुत्र मामेवैति न संशयः ॥
दर्शनान्मम भक्तानां मृत्युमाप्नोति यः क्वचित् ।
बिना मत्स्मरणात् पुत्र मुक्तिमेति स मानवः ॥

अर्थात्—कृष्ण-कृष्ण का उच्चारण करता हुआ कोई श्मसान में अथवा सड़क पर भी मर जाय तो वह मुझे ही प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है। जो मेरे

भक्तों का दर्शन करके कहीं मृत्यु को प्राप्त होता है, वह मनुष्य मेरा स्मरण किये बिना भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

पापरूपी प्रज्वलित अग्नि से भय न करो। श्रीकृष्ण के नामरूपी मेघों के जल की बूँदों से उसे सींचकर बुझा दिया जाता है। तीखे दाढ़ों वाले कलिकालरूपी सर्प का क्या भय है? श्रीकृष्ण के नामरूपी ईन्धन से उत्पन्न आग के द्वारा वह जल कर नष्ट हो जाता है। पापरूपी अग्नि से दग्ध होकर जो सत्कर्म की चेष्टा से शून्य हो गए हैं, ऐसे मनुष्यों के लिए श्रीकृष्ण नाम स्मरण के सिवा दूसरी कोई औषधि नहीं है। जैसे प्रयाग में गङ्गा, शुक्लतीर्थ में नर्मदा और कुरुक्षेत्र में सरस्वती हैं, उसी प्रकार सर्वत्र श्रीकृष्ण का कीर्तन सब पापों का नाश करने वाला है।

संसार-समुद्र में डूबकर जो महान् पापों की लहरों में गिर गये हैं, ऐसे मनुष्यों के लिए श्रीकृष्ण-स्मरण के सिवा दूसरी कोई गति नहीं है। जो पापी हैं, जिनमें श्रीकृष्ण-स्मरण की इच्छा नहीं है ऐसे मनुष्यों के लिए मृत्युकाल में तथा परलोक की यात्रा के समय श्रीकृष्ण-चिन्तन के सिवा दूसरा कोई पाथेय (राह खर्च) नहीं है। जिस मन्दिर में प्रतिदिन कृष्ण-कृष्ण का कीर्तन होता है, वहाँ गया काशी, पुष्कर, नैमिषारण्य और कुरुक्षेत्र सब तीर्थ हैं।

जीवितं सफलं तस्य मुखं तस्यैव सार्थकम्।
सततं रसना यस्य कृष्ण कृष्णेति जल्पति॥
सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षस्य गमनं प्रति॥
नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः॥

अर्थात्—उसी का जन्म और जीवन सफल है तथा उसी का मुँह सार्थक है,

जिसकी जिह्वा सदा कृष्ण-कृष्ण का कीर्तन करती है। जिसने एक बार भी 'हरि' इन दो अक्षरों का उच्चारण कर दिया उसने मोक्ष के लिए जाने को कमर कस ली। समस्त पापों को भस्म कर डालने के लिए मुझ भगवान् के नाम में जितनी शक्ति है उतना पातक कोई पातकी मनुष्य कर ही नहीं सकता।

कृष्ण-कृष्ण के कीर्तन से मनुष्य का शरीर और मन कभी श्रान्त नहीं होता। उसे पाप नहीं लगता और विकलता भी नहीं होती, जो श्रीकृष्ण नामोच्चारणरूपी पथ्य का कलियुग में त्याग नहीं करता उसके चित्त में पापरूपी रोग नहीं पैदा होते। श्रीकृष्ण नाम का कीर्तन करते हुए मनुष्य की आवाज सुनकर दक्षिण दिशा के अधिपति यमराज उसके सौ जन्मों के पापों का परिमार्जन कर देते हैं।

सैकड़ों चान्द्रायण और सहस्रों पराक व्रतों से जो पाप नष्ट नहीं होता वह कृष्ण-कृष्ण के कीर्तन से चला जाता है। श्रीकृष्ण-नाम का उच्चारण करने से अधिकाधिक प्रीति बढ़ती है। कोटि-कोटि चन्द्रग्रहण और सूर्य-ग्रहण में स्नान करने से जो फल बतलाया गया है उसे मनुष्य कृष्ण-कृष्ण के कीर्तनमात्र से पा लेता है। जैसे सूर्य-किरणों के ताप से बर्फ गल जाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णनाम-कीर्तन से गुरुपत्नीगमन और सुवर्ण की चोरी आदि महापातक तक नष्ट हो जाते हैं।

अगम्यागमन आदि महापापों से युक्त मनुष्य भी यदि अन्तकाल में एक बार श्रीकृष्ण नाम का कीर्तन कर ले तो वह उससे पापमुक्त हो जाता है। जो जिह्वा कलिकाल में श्रीकृष्ण के गुणों का कीर्तन नहीं करती वह दुष्टा मुँह में न रहे, रसातल को चली जाय। जो कलियुग में श्रीकृष्ण के गुणों का यत्नपूर्वक कीर्तन करती है, वह जिह्वा अपने मुख में हो अथवा दूसरे के मुख में वन्दना करने योग्य है। जो दिन-रात श्रीकृष्ण के गुणों का कीर्तन नहीं करती वह जिह्वा नहीं मुख में कोई पापमयी लता है, जिसे जिह्वा के नाम से पुकारा जाता है।

पततां शतखण्डा तु सा जिह्वा रोगरूपिणी।
या कृष्ण-कृष्ण-कृष्णेति श्रीकृष्णेति न जल्पति ॥

अर्थात्—जो श्रीकृष्ण-कृष्ण-कृष्ण श्रीकृष्ण इस प्रकार श्रीकृष्ण-नाम का कीर्तन नहीं करती वह रोग-रूपिणी जिह्वा सौ टुकड़े होकर गिर जाय। जो आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी की महिमा का गान करता है वह जीतेजी सम्पूर्ण कामनाओं को और मरने पर परमगति को पाता है।

अन्त में हम श्रीकृष्ण वन्दना के साथ इस लेख का उपसंहार करते हैं :—

वासुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

॥ ॐ मां ॥

मातृ-सत्सङ्ग

(श्रीनैमिषारण्य में)

(द्वितीय खण्ड)

श्रीरघुनाथदासगोस्वामी (ब्रह्मचारी कान्तिभाई)

प्रस्तावना

गत अंक में मैंने नैमिषारण्य के संयम सप्ताह में हुए मातृ-सत्सङ्ग का विवरण दिया था। इस अंक में श्रीमद्भागवत सप्ताह के सिलसिले में जो मातृ-सत्सङ्ग हुआ था उसका विवरण देने की मैं कोशिश कर रहा हूँ। ता० २८ अक्टूबर से ता० ३ नवम्बर तक श्रीमद्भागवत सप्ताह का पारायण मनाया गया था। एक बड़े पण्डाल में श्रीमद्भागवत सप्ताह के १०८ मूल पारायणों का आयोजन किया गया था। भारतवर्ष के अच्छे पण्डितों ने पारायण में भाग लिया था। इसके मुख्य आचार्य थे पंडित अग्निष्वात्त शास्त्री (बाटूदा)। जब सब एक साथ पाठ में बैठ जाते थे तब बड़ा अद्भुत सुन्दर, पवित्र वातावरण पैदा होता था। दूसरे पण्डाल में श्रीमद्भागवत की हिन्दी में व्याख्या करते थे—परमपूज्य दंडी स्वामी श्रीविष्णु आश्रमजी महाराज। इसके बाद माननीय महात्माओं के प्रवचन होते रहते थे। मौन के बाद रात को ९ से ९॥ तक मातृ-सत्सङ्ग का समय रखा हुआ था। वहाँ हुए मातृ-सत्सङ्ग का यथाश्रुत और यथागृहीत विवरण दिया जाता है। यथासम्भव माँ के शब्दों को दुहराने की मैंने चेष्टा की है। किन्तु मैं यह दावा नहीं कर सकता कि 'माँ' के मुख से निःसृत प्रत्येक शब्द मैं यहाँ लिख

सका हूँ। जिस प्रकार गंगाजी के पुनीत प्रवाह में से लोग निज निज शक्ति के अनुसार गंगाजल ले आते हैं उसी प्रकार मैं अपनी अल्प मति के अनुसार श्री माँ के कथारूपी गंगाप्रवाह में से जो संग्रह कर सका हूँ उसे यहाँ अंकित कर रहा हूँ। त्रुटियों के लिए श्री श्री माँ के श्रीचरणकमलों में क्षमायाचना करता हूँ।

ता० २८ अक्टूबर से ता० ३० अक्टूबर तक—भक्तों की विनीत प्रार्थना पर 'माँ' ने बहुत सुन्दर कीर्तन किया और सुन्दर सुन्दर भजन भी गाये थे। माँ के कीर्तन से सारा वातावरण सच्चिदानन्दमय बन जाता था। सब लोक स्थिर शान्त चित्त से माँ के साथ कीर्तन करते थे। अहा! क्या आनन्द! क्या शान्ति! इसका विवरण लिखने की शक्ति मेरी कलम में नहीं है।

× × × ×

ता० ३१ अक्टूबर '६०

प्र०—तपश्चर्या करने से किसी किसी को गुस्सा क्यों आता है? हमने देखा है कि गंगोत्री में बरफ में बैठे हैं लेकिन वहाँ भी ज्यादा गुस्सा आता है? दुर्वासा ऋषि बड़े तपस्वी थे। अम्बरीष के ऊपर उन्होंने बड़ा गुस्सा किया। गुस्सा कमजोर पर आता है। क्रोध के लिये आपका क्या इलाज है? ऐसा कोई पुरुष या स्त्री जगत् में है जिसको गुस्सा न आता हो?

माँ—जब तक परमात्मा की प्राप्ति अथवा पूर्ण आत्मस्वरूप में स्थिति न हो अथवा पूर्ण रूप से सब ग्रन्थियों का भेद न हो ले तब तक गुस्सा आवेगा।

प्र०—माँ के काशी के आश्रम में एक हाल था। (अब वह हाल नहीं रहा—गङ्गा मैया ने वहाँ आसन लगा लिया है)। उसके एक कमरे में माँ के एक परम भक्त रहते थे। वह उस समय कहीं बाहर गये थे। उसी दिन आश्रम में कोई बीमार था। माँ ने कहा..............व्यक्ति बीमार हैं। उनको अभीतक क्या

जगह नहीं दी है ? उस कमरे में उन मातृभक्त की भी खाट बिछी हुई थी। उस पर उनका बिस्तर रखा था। माँ ने उस भक्त के बिस्तर को हटवा कर रोगी का बिछौना बिछवा दिया। आधे घण्टे के बाद वह माँ के भक्त आये ? उन्होंने पूछा—गुस्से से,—"मेरा बिस्तर किसने हटाया है ?" किसी ने कहा—"माँ ने यहाँ रखवाया है।" उन्होंने कहा—माँ ! तुमको क्या अधिकार है कि मेरे बिस्तर को नीचे रखकर दूसरे किसी को वहाँ लेटा दिया है। माँ ने उस समय क्या उत्तर दिया था—जानते हो ? माँ ने शान्ति से कहा,—"मेरी गलती हो गई (सब लोगों का हास्य)।

प्र०—मान लो किसी ने 'माँ' की तस्वीर फेंक दी—क्या हमको गुस्सा न आयेगा ?

माँ—किसी भी हालत में क्रोध का आना अच्छा नहीं है। सोचो इससे तुम नीचे गिर जाओगे।

प्र०—मान लो कोई 'माँ' की निन्दा कर रहा है—क्या उसको कुछ कहना नहीं चाहिये ?

माँ—सोचो उस रूप में 'माँ' ही बोल रही है। दूसरा कोई है ही नहीं।

प्र०—रामायण में लिखा है कि 'हरि' और 'गुरु' की निन्दा सुनना 'गोघात' के समान है।

माँ—जिस स्थिति में जो रहता है वह उसके अनुसार करेगा। जहाँ गुरु की निन्दा होती हो वहाँ से चले जाओ। अपनी अपनी स्थिति के अनुसार बात होगी।

प्र०—इसको क्रोध कहोगे कि नहीं ?

माँ—क्रोध को क्रोध नहीं कहोगे तो क्या पानी कहोगे ?

प्र०—क्रोध हटा कहाँ ?

माँ—क्रोध के शमन के बारे के महात्मा लोग कितने सुन्दर सुन्दर तरीके बताते हैं।

प्र०—संसार में देखा गया है कि कभी कभी क्रोध होता है सत्य को बाहर निकालने के लिये। हम तो साधारण मनुष्य हैं—बड़े बड़े व्यक्तियों को जैसे कपिलजी को क्रोध आ गया। लेकिन बाद में चर्चा करते हैं क्रोध की—उसके लिये हो गया वह अपराधी है।

माँ—सिर्फ भगवान की तरफ जाने की ही आलोचना करनी चाहिये। किसी भी अप्रिय बात की आलोचना करना ठीक नहीं है। लोगों को ऐसी बातों में interest लगता है और चर्चा शुरू कर देते हैं। स्थितिमान् लोक गुस्सा की बात लेते ही नहीं। गुस्से की चर्चा करने से, दोष वर्णन करने से लौटकर दोष करने वाले के ऊपर आ जाता है। उसमें हिस्सा नहीं लेना चाहिये। ख्याल करो—क्रोध साधन, भजन में बहुत बड़ा विघ्न है। महात्मा का गुस्सा तो पानी में दाह जैसा है। वह गुस्सा साधारण गृहस्थी के गुस्से के समान नहीं है। जितना जितना 'सत्' गुण बढ़ता जायेगा उतना उतना गुस्सा ढीला पड़ जायेगा। कितना सुन्दर है ? इस ढंग से रहने से गुस्सा नहीं आता है। अच्छे गुण में पण्डित हो जाय तो गुस्सा आ नहीं सकता। और एक बात स्थिति की दृष्टि से अनंत स्थितियाँ हैं। जहाँ अखण्डपूर्णता है वहाँ की बात अगर कही जाय तो वहाँ तो गुस्सा करने वाला, गुस्सा सुनने वाला और गुस्सा अलग नहीं है—खुद वही है। वहाँ गुस्सा की अलगरूप से बात नहीं आ सकती। 'ब्रह्मतेज' की बात जहाँ है वहाँ तो "एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" है—वहाँ गुस्सा भी ब्रह्मतेजमय है। यह शरीर जब ढाका में था तब किसी ने पूछा था कि ऋषिमुनि क्रोध से किसी किसी को भस्म कर देते थे। यह शरीर तो कुछ पढ़ा लिखा नहीं है। उस समय तो बहू के रूप में था—लम्बा घूँघट था सिर पर। उस समय कहा था कि कम से कम एक बात का ख़्याल करो कि जो ऋषि-मुनि अपने तेज से भस्म

कर सकते थे वे लोग अपनी शक्ति से उसको फिर से जिन्दा भी कर सकते थे। यदि वैसी शक्ति तुममें भी है तब तो तुम गुस्सा कर सकते हो।

प्र०—रजोगुण की सृष्टि में गुस्सा जरूर रहना चाहिये। सृष्टि जब तक रहेगी गुस्सा कहाँ जायेगा ?

माँ—तुम जहाँ खड़े हो वहाँ से ऐसा ही दीखता है—ठीक है। गुस्सा तो हो ही रहा है। संसार माने संशय का स्थान—अज्ञान में सारा गुस्सा आता ही है।

प्र०—नैमिषारण्य में सीता पाताल में चली गयी—क्या गुस्सा करके पाताल में चली गई ?

माँ—सीता के पातालप्रवेश में ऐसे गुस्से की बात नहीं है। इसमें और कोई बात है। इस ढंग के गुस्से की बात नहीं है। कोई स्थान होता है—जहाँ अपने स्थान में जाना पड़ेगा। सीता कहाँ नहीं हैं ? सब सीता हैं।

प्र०—मैं सीता नहीं हूं।

माँ—तुम सीता हो—जो सीता है वही राम है।

प्र०—मैं राम नहीं हूँ।

माँ—राम "मैं" नहीं है। तुम कौन कहाँ 'राम'—"मैं" राम को राम कहा। पिताजी—नाराज मत होओ। यह शरीर तो जरूर कहेगा कि तुम ही राम हो और तुम्हीं सीता हो। रामसीता कहाँ नहीं हैं ? सब में रामसीता मौजूद हैं।

प्र०—सब राम नहीं हैं—सब में राम हैं।

माँ—एक राम ही हैं।

प्र०—नैमिषारण्य में 'राम' नहीं हैं।

माँ—राम ही राम हैं। राम कहो या कृष्ण कहो, काली कहो या दुर्गा कहो जो कहो वही कहो।

प्र०—सीता किस भाव से पाताल में चली गयी ?

माँ—रामायण में वर्णन किया है। तुम स्वयं वाल्मीकि हो। तुम्हीं हो पिता-पुत्र और पति रूप से।

प्र०—तुम राम बनो, सीता बनो—क्या भाव लेना ?

माँ—बनने से नहीं होता—जो है वही है। अभी आ नहीं रहा है। तुम्हें जैसा बजाना चाहिये वैसा बजाया नहीं जैसा बजाओगे वैसा सुनोगे।

प्र०—सती, पार्वती, काली, रुद्र भगवान् यह सब क्रोधरूपी नहीं हैं ? सीता, रुद्राणी-काली ने भी क्रोध करके शत्रुओं को मारा ?

माँ—चण्डी रूप धारण करके मारा। ध्वंस होने वाले का ध्वंस कर रहा है। ध्वंस के रूप में उनका कल्याण कर रहा है। जैसा बच्चे को थप्पड़ लगाना और मामला क्या है ? धक्का देकर यात्रा। माँ जो करे—क्योंकि वह परम पिता, परमात्मा, परम बन्धु है—जो करे वही ठीक है। स्थान विशेष से बात आती है। अच्छी तरह से साधन चले तो बिलकुल क्रोध नहीं आवेगा। क्रोध आवे तो फिर साधन कहाँ हुआ ? भगवान् से बार बार प्रार्थना करो कि हे प्रभु ! हमारे गुस्से को कृपा करके हटाओ। क्रोध रूपी बाधा के बीच में तुम्हारे शरीर मन में कितना जोर लग रहा है। बाधा का स्थान रहता है। अच्छी तरह से यदि साधन में लग जाय तो फिर बाधा रहती नहीं। जैसा भी हो चेष्टा करो कि कभी गुस्सा आवे ही नहीं। बाहर में तुम साधन भजन करो और भीतर से भगवान् को खूब पुकारो। भगवान् के कार्य में गुस्सा आ जाय तो यह ठीक नहीं है—सोचो कि इससे भगवत्-पथ में बाधा आ जायेगी। गुस्सा होने से भगवत्-गति से आउट हो जाता

है। गुस्सा न हो तो लगातार साधन भजन चलता रहता है। गुस्सा यदि आ जाय तो भगवान को पुकारो। भगवान के पास खूब रोओ।

प्र०—क्रोध छोड़ें क्यों? वह तो भगवान का दिया हुआ है?

माँ—भगवत् दृष्टि नहीं हमको इसलिए ये ऐसी बातें होती हैं और क्रोध छोड़ें क्यों? भगवान ने मनुष्यशरीर भगवान का भजन करने के लिये दिया है फिर क्रोध के ऊपर इतनी प्रियता क्यों?

प्र०—क्रोध भगवान को दे दें या क्रोध को दबा दें? कैसा करें?

माँ—सारा सब कुछ भगवान को अर्पण करो। इससे गुस्सा करना नहीं होता है। एक है अर्पण करना और एक है अर्पण होना। अर्पण हो जाना चाहिये।

ता० १ नवम्बर '६०

प्र०—नैमिषारण्य में हजार ऋषि थे। उनमें सिर्फ शौनक का नाम सुना है। दूसरों का भी नाम बोलो।

माँ—आता नहीं।

प्र०—यहाँ तो अग्निहोत्री ऋषिलोग रहते थे उन लोगों ने परमहंससंहिता बनायी—यह सब क्या बात है?

माँ—अभी कुछ बोलने का ख्याल आ नहीं रहा है। जैसा बजाओगे वैसा सुनोगे? शास्त्र तो नहीं खोला। जब स्थिति आवेगी तब प्रत्यक्ष हो जावेगा। तुम तो किताब पढ़ के या सुन के बोलते हो।

प्र०—हमारी जानने की भूख है।

माँ—जैसा तुम्हारी भूख है वैसा तुमने बजाया नहीं।

प्र०—मैं तो बजाना जानता नहीं हूँ।

माँ—शास्त्र में क्या रखा है—तुम जानो। अभी इस ढंग की बात बोलने का ख्याल नहीं आ रहा है।

प्र०—जब हम लोग एक बार माँ के साथ पुरी में थे। भोलानाथजी उस समय साथ में थे। भोलानाथजी प्रश्न कराते थे।

माँ—भोलानाथजी को बुलाकर लाओ। अभी बोलने का ख्याल नहीं है। इसके बाद कीर्तन भजन हुआ। ता० २ और ३ नवम्बर को भी—मातृसत्सङ्ग के समय में सिर्फ कीर्तन, भजन इत्यादि ही हुआ। माँ ने भी बीच बीच में सुन्दर कीर्तन किया था।

पुरातन स्मृति

स्वामी नारायणानन्द तीर्थ

(गताङ्क से आगे)

(७)

श्री श्री माताजी के संस्पर्श में आने के पश्चात् शनैः शनैः उनकी आकर्षणी शक्ति का भी प्रभाव मैं अच्छी तरह से अनुभव करने लगा। जितनी देर तक आपके चरणों में बैठने का सौभाग्य तथा सुयोग पाता था, उसको कभी मैं छोड़ता न था। जिस तरह पतितपावनी कलिकलुषनाशिनी माता श्री श्री गंगाजी के पवित्र जल में अवगाहन और स्नान करने से देह, मन तथा प्राण पवित्र और शीतल होते हैं; उसी तरह माँ के समीप में अवस्थान व बैठने से कम से कम उतने समय के लिए भी शरीर, मन और प्राण शुद्ध एवं शीतल होते हैं, यह मैं अच्छी तरह समझने लगा। जितनी देर तक श्री श्री माँ के सान्निध्य में बैठा जाय, उतने समय तक मन में किसी तरह की पंकिल अथवा मलिन भावना भासती ही नहीं है। कुभावना मन में उठने पर भी माँ के प्रभाव से वह अधिक समय तक ठहर नहीं सकती—यह मैं हृदय में अच्छी तरह से अनुभव करता था।

जितना ही मैं माँ के साथ थोड़ा थोड़ा करके घनिष्ठ प्रकार से मिलता था, उतना ही मेरा संकोचभाव भी धीरे धीरे घटता जा रहा था। इन माँ से बढ़कर संसार में कोई भी स्वजन हो सकता है, यह मैं कभी अपने मन में बहुत चिन्तन करने पर भी किसी तरह निश्चय नहीं कर पाता था। जैसे जैसे माँ के ऊपर खिंचाव बढ़ता जा रहा था, वैसे वैसे जगत के दूसरों की तरफ़ से आसक्ति कम होती जा रही थी।

श्री श्री माताजी के भक्तों में से किसी के साथ भेंट होने से केवल माँ की ही चर्चा होती थी। माँ के सम्बन्ध में एक ही बात बार बार कहने पर भी कभी अरुचि नहीं होती थी। उनके विषय में वार्तालाप करने का नशा हम लोगों को जैसे हमेशा चढ़ा रहता था। प्रायः रोज ही सायंकाल को श्रीमत् स्वामी शंकरानन्दजी और मैं माँ का समाचार संग्रह करने के लिए श्री निर्मल बाबू के मकान जाया करते थे। वहाँ बहुत रात तक माँ के बारे में नाना प्रकार की चर्चा होती थी। इसी तरह मेरे अनजाने में न मालूम कब और कैसे माँ ने मेरे हृदय तथा मन पर अधिकार कर लिया।

मनुष्यों को अपनाने की माँ की अद्भुत शक्ति है। विभिन्न जाति, विभिन्न प्रकृति, विभिन्न संस्कार और विभिन्न रुचि के नर-नारियों को माँ बहुत ही अल्प समय में ऐसा अपना लेती हैं कि जान पड़ता है कि न मालूम माँ से कितने दिनों का परिचय है और न मालूम माँ कितनी ही घनिष्ट व निकट हैं। क्या बच्चा, क्या वृद्ध, क्या युवक, क्या पुरुष और क्या स्त्री जो भी कोई माँ के साथ एक बार घनिष्टरूप से मिले हैं; वे ही समझते हैं कि माँ उन्हीं को सबसे अधिक प्यार करती हैं। यह भी मैंने खूब अच्छी तरह देख लिया कि क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या स्त्री, क्या पुरुष सभी माँ के पास से स्नेह तथा प्रेम प्राप्त करने के लिए बहुत ही लालायित और उत्सुक रहते हैं। दो चार दिनों तक माँ से प्यार अथवा आदर न मिलने पर छोटों की तो बात छोड़ ही दीजिये, वृद्धों को भी माँ के ऊपर कितना ही अभिमान नजर में आता है; उसकी कोई गिनती ही नहीं है। मुझे तो मालूम होता है कि श्रीभगवान को पहचानने का यह भी एक उत्कृष्ट और प्रकृष्ट उपाय है। क्योंकि एकमात्र वही तो जीवों के हृदय में आत्मा रूप से निवास कर रहे हैं और आत्मा ही तो संसार में सबसे अतिशय प्रिय है। कठोपनिषद् में श्रुति भगवती बोल रही हैं :—

"आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।"
"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।"

यह आत्मा प्रत्येक जीव की हृदयगुफा में अवस्थित हैं। अङ्गुष्ठ-परिमित अन्तरात्मा पुरुष सभी के हृदय में निवास कर रहे हैं। विचार करने पर हम यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि इस जगत् में माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र, बन्धु, सखा, स्वामी यहाँ तक कि अपना शरीर तथा इन्द्रियादि की अपेक्षा भी आत्मा प्रिय है। आत्मा की ही प्रियता के कारण संसार की यावत् वस्तुओं और मनुष्यों से हम प्रेम करते हैं। इसी कारण बृहदारण्यकोपनिषद् में श्रुति भगवती घोषणा करती हैं :—

"स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो
भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।
न वा अरे जायायाः कामाय जाया प्रिया
भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।
न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया
भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।
न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं
भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।
न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं
भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति।
न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं
भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति।
न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया
भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति।
न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया
भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवा प्रिया भवन्ति।

न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि
भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति।
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं
भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयात्मनो
वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।

बृहदारण्यकोपनिषत्—२।४।५

ऋषि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से बोले—हे प्रिये, पति के कारण ही पति जाया को प्रिय होता है, यह बात नहीं है; जाया को आत्मप्रयोजन से ही पति प्रिय होता है। हे प्रिये, पत्नी की कारण ही पत्नी अपने पति को प्रिय होती है, यह बात नहीं है, पति के आत्म-प्रयोजन के कारण ही पत्नी प्रिय होती है। हे प्रिये, पुत्रों के कारण ही से पुत्रगण माता-पिता के प्रिय होते हैं, यह बात नहीं है; माता-पिता के आत्म-प्रयोजन के कारण ही पुत्रगण प्रियहोते हैं। हे प्रिये, सम्पदाओं के कारण ही सम्पदाएँ प्रिय हैं, यह बात नहीं है; मनुष्यों के आत्म-प्रयोजन के कारण ही सम्पदाएँ प्रिय होती हैं। हे प्रिये, ब्राह्मणों के कारण ही ब्राह्मण दूसरों के प्रिय होते हैं; यह बात नहीं है, दूसरों के आत्म-प्रयोजन के कारण ही ब्राह्मण प्रिय होते हैं। हे प्रिये, क्षत्रियों के कारण ही क्षत्रिय दूसरों को प्रिय होते हैं, यह बात नहीं है; दूसरों के आत्म-प्रयोजन के कारण ही क्षत्रिय प्रिय होते हैं। हे प्रिये, लोकसमूह के कारण ही लोकसमूह जीवों को प्रिय होते हैं, यह बात नहीं है; जीवों के आत्म-प्रयोजन के कारण ही लोकसमूह प्रिय होते हैं। हे प्रिये, देवताओं के कारण ही देवता याज्ञिकों के प्रिय होते हैं, यह बात नहीं है; याज्ञिकों के आत्म-प्रयोजन के कारण ही देवता प्रिय होते हैं। हे प्रिये, भूतगणों के कारण ही भूतगण प्रिय होते हैं, यह बात नहीं है; आत्मा के कारण ही भूतगण प्रिय होते

हैं। हे प्रिये, सर्व वस्तुओं के कारण ही सर्व वस्तुएँ प्रिय होती हैं, यह बात नहीं है ; आत्मा के कारण ही सर्व वस्तुएँ प्रिय होती हैं। हे प्रिये मैत्रेयि, आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निश्चित रूप से ध्येय है। हे प्रिये, श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा आत्मा का दर्शन होने से ही यह सब ज्ञात होता है। यही बात जगद्गुरु भगवान श्री शंकराचार्य जी ने भी अपने विवेक-चूड़ामणि नामक ग्रन्थ में कही है:—

आत्मार्थत्वेन हि प्रेयान् विषयो न स्वतः प्रियः।
स्वत एव हि सर्वेषामात्मा प्रियतमो यतः ॥१०८॥

"विषय स्वतः प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्मा के लिए ही प्रिय होते हैं; क्योंकि स्वतः प्रियतम तो सबकी आत्मा ही हैं।"

इसीलिए क्या हम लोगों की श्री श्री माँ को सब कोई अतिप्रिय और स्वजन मानकर प्यार करते हैं ? कारण माँ ही तो सबकी हृदय-गुफा में आत्मा रूप से विराजमान हैं। माँ ही तो सब जीवों की आत्मा हैं अथवा आत्मा ही तो माँ हैं। माँ और आत्मा अभिन्न और एक ही है। माँ ही तो जगत में नाना नामों और नाना रूपों में अभिव्यक्त हैं—फिर अनाम तथा अरूप में भी तो माँ ही हैं।

केवल इसी देश के मनुष्य ही माँ के प्रति आकृष्ट होते हैं तथा माँ को प्यार करते हैं, ऐसी बात नहीं है। विदेश के मनुष्य भी, जो कि माँ की बोली नहीं समझते। माँ के विषय में कुछ भी नहीं जानते उनमें से भी बहुत से माँ को केवल देखकर ऐसे आकृष्ट हुए हैं कि वे अपना देश, आत्मीय, स्वजन तथा सगे-सम्बन्धियों को छोड़कर भाँति भाँति के क्लेशों को स्वीकार करते हुए भी श्री श्री माताजी के चरणों में पड़े हुए हैं। मेरे विचार में तो इसका कारण माँ की सबसे बड़ी और प्रधान विभूति है। मैं तो आश्चर्य में पड़कर यही देख रहा हूँ कि

इस देश अथवा परदेश के भिन्न भिन्न अवस्था, भिन्न भिन्न प्रकृति, भिन्न भिन्न संस्कारों और भिन्न भिन्न रुचि के सब नर-नारी माँ के प्रति कैसे एकांतिक भाव से आकृष्ट होते जा रहे हैं।

केवल मनुष्य ही श्री श्री माँ के प्रति आकृष्ट होते हों, यह बात नहीं है। पशु भी माँ को देखने के लिए, माँ के पास जाने के लिए और माँ का आदर तथा प्रेम प्राप्त करने के लिए बड़ी उत्कण्ठा से माँ के निकट भागे हुए आते हैं। श्री श्री माँ की शक्ति अपूर्व है। यहाँ एक छोटी-सी घटना का उल्लेख किये बिना रहा नहीं जाता।

१९५१ ई० के मार्च महीने में फगुआ के अवसर पर हम लोगों में से बहुत लोग श्री श्री माताजी के साथ श्रीधाम वृन्दावन में थे। तब तक वहाँ माँ के वर्तमान आश्रम का निर्माण नहीं हुआ था। उस समय माँ श्रीहरि बाबाजी महाराज के श्री श्री कृष्णाश्रम के निकट एक मकान में निवास कर रहीं थीं। हम लोग भी माँ के साथ उसी स्थान में रहते थे। एक दिन की बात है, श्री महाराजजी का सत्सङ्ग और "रासलीला" समाप्त होने पर दिन को करीब ग्यारह बजे श्री श्री कृष्णाश्रम के पश्चिम तरफ के दरवाजे से माँ अपने स्थान को जा रही थीं। हम लोग भी उनके साथ साथ अपने रहने के स्थान पर जा रहे थे। ज्योंहीं हम सब माँ के साथ आश्रम से निकलकर बाहर गली में पहुँचे, त्योंही नजर में आया कि उत्तर दिशा से एक काली रंग की सुन्दर हृष्ट-पुष्ट गाय अपनी पूँछ ऊँची उठाती हुई हम लोगों की ओर दौड़ती हुई आ रही है। उसको अपनी तरफ भागती हुई आती देखकर हम सब लोगों ने गली के दोनों ओर दो हिस्सों में अलग अलग होकर उसके जाने के लिए मार्ग छोड़ दिया। परन्तु वह गाय हम लोगों के निकट आते ही एकाएक श्री श्री माताजी के बिलकुल सामने आकर खड़ी हो गई। उसको अकस्मात् रुक जाते देखकर हम सब माँ को लेकर अपने रहने के मकान के फाटक के अन्दर प्रवेश करने लगे। यह देखकर

वह गाय भी माँ के पीछे पीछे फाटक के भीतर जाने के लिए तैयार हो गई। किसी प्रकार भी हम लोग उसको फाटक के अन्दर जाने से रोक न सके। जितना ही हम सब उसको फाटक के अन्दर जाने से रोकते गये, उतना ही वह भीड़ को ढकेलती हुई माँ के कमरे के अन्दर जाने के लिए एकदम पागल हो उठी। मनुष्यों की भीड़-भाड़ और धक्काधुक्की में न मालूम माँ किस अवसर में और कैसे अपनी कुटिया में आकर अपने बिस्तर पर बैठ गई थीं। वह गाय भी हम लोगों की बाधा को न मानकर मनुष्यों को ढकेलती तथा धक्का देती हुई एकदम माँ के घर के दरवाजे पर आ पहुँची। माँ के समीप जाने का उसका इतना आग्रह देखकर स्वयं जननी ही अपनी चौकी और पलंग पर से उठकर दरवाजे पर आकर खड़ी हो गईं और उस गाय के माथे पर अपना करकमल फेरती हुई बड़े प्रेम से वंग-भाषा में बोलने लगीं, "एइ तो माँ देखा हलो, एखन एसो तो माँ, एखन एसो।" अर्थात् हे गोमाता, अब तो भेंट हो चुकी, अब तुम अपनी स्थान में पधारो। माँ से प्यार प्राप्त कर और उनके हाथ का स्नेहमय स्पर्श अनुभव करके वह गौमाता शान्त होकर धीरे धीरे जिस ओर से आई थी, उसी ओर चली गई। उस परिस्थिति में यही मालूम हो रहा था कि वह गाय केवल माँ के प्यार तथा स्नेह को प्राप्त करने के लिए ही भागती हुई माँ के पास आई थी। परमस्नेहमयी माँ का प्रेम पाकर परितृप्त होकर चली गई।

महापुरुषों के मुखारविन्द से सुनते हैं तथा भागवतादि ग्रन्थों में भी लिखा है कि द्वापरयुग में श्रीभगवान नन्दनन्दन यशोदाजीवन गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण श्रीधाम वृन्दावन में आविर्भूत होकर नाना प्रकार की गोष्ठलीला करते थे। उस समय श्रीगोविन्द की मनोहर वंशीध्वनि तथा सुमधुर प्रेमपुकार का श्रवण कर वृन्दावन की सारी गौएँ और बछियाँ भगवान श्रीगोपालजी के पास दौड़ती हुई आती थीं। जो बात सुनी थी अथवा पुस्तकादि में पढ़ी थी, वही बात आज

अपने नेत्रों से देखी! तथापि सन्दिग्ध और अविश्वासी मन किसी तरह से भी मानना नहीं चाहता है और विश्वास करने को भी राजी नहीं है कि वही श्रीभगवान आज कलियुग के जीवों का उद्धार करने के लिए ही स्नेहमयी मातृरूप धारण करके इस धराधाम में अवतीर्ण हुए हैं। माँ होकर आने का कारण यही है कि वर्तमान युग के मानवों को शासन करके धर्म के मार्ग में लाना कदापि सम्भव नहीं है। केवल स्नेह, प्यार और प्रेम से ही कलियुग के जीवों को धीरे धीरे धर्मपथ में लाया जा सकता है। इसी हेतु श्री श्री माँ का "आनन्दमयी" रूप में आविर्भाव है। इस अलौकिक शक्ति का प्रभाव देखते हुए भी यह दुष्ट मन किसी तरह से भी विश्वास करना नहीं चाहता ।

जीवों का स्वभाव ही है विश्वास न करना। इसी कारण माँ सर्वदा कहती हैं, जीवत्व-बुद्धि जब तक मनुष्य में है, तब तक वह सम्पूर्णरूप से किसी का विश्वास नहीं कर सकता। इसलिए किसी को किसी प्रकार से भी दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यही जीव-स्वभाव वा जीव-प्रकृति है। जीवों की बुद्धि शुद्ध न होने तक कभी भी पूर्ण विश्वास नहीं हो सकता। अगर मान लिया जाय कि थोड़ी देर के लिए किसी को विश्वास हो भी गया हो, फिर भी वह कभी स्थायी नहीं हो पाता। इस हेतु ही चित्त-शुद्धि का इतना माहात्म्य हमारे शास्त्रों में वर्णित है।

× × × ×

विदेशीय मानवगण भी श्री श्री माँ को किस प्रकार प्यार करते हैं उसी, का एक विवरण यहाँ "आनन्दवार्ता" के सहृदय पाठक और पाठिकाओं की जानकारी के लिए लिख रहा हूँ। १९५७ ई० की गुरुपूर्णिमा वा व्यासपूजा के पश्चात् माँ देहरादून से वाराणसी पधारी थीं। उसी समय एक दिन अमेरिका के एक प्रौढ़ साहब और मेम (शायद वे पति-पत्नी ही हों) श्री श्री माताजी के दर्शन की

अभिलाषा से दोपहर के समय आश्रम में पहुँचे थे। माँ उसी समय मध्याह्न भोजन के अनन्तर अपने छोटे से कमरे में विश्राम कर रही थीं। सर्वसाधारण का माँ के साथ भेंट करने का वह समय नहीं था। जिस समय की बात है, उस समय शाम को पाँच बजे के बाद सब कोई माँ से मिल सकते थे। उन अमेरिकन दम्पती को भी माँ के दर्शन का समय सूचित कर दिया गयाथा। वे दोनों सायंकाल पांच बजे तक प्रतीक्षा करने को भी राजी थे, तथापि वे बिना मां से मिले जाने वाले न थे। वे उसी दिन मां से भेंट करके काशी छोड़कर कहीं दूसरे स्थान को जाने वाले थे।

किसी आश्रमवासी ने जाकर श्री श्री मां को यह संवाद पहुँचाया कि वे दोनों शाम पांच बजे तक प्रतीक्षा करने को राजी हैं, पर मां से बिना मिले जायेंगे नहीं। यह बात सुनते ही करुणामयी श्री श्री मां कृपा कर उन दोनों को अपने विश्राम करने के स्थान में ही ले आने की आज्ञा देकर स्वयं उठकर बैठ गईं। उन्होंने कभी मन में सोचा भी न था कि असमय में मां का दर्शन होना संभव होगा। आशातीत रूप से इस संदेश को पाकर वे दोनों परम आनन्द से हँसते हुए माताजी के विश्राम के स्थान में एकदम आकर उपस्थित हो गये। मां अपने बिस्तर के ऊपर शान्तभाव से चुपचाप बैठी हुई थीं। एक दुभाषिये (Interpreter) द्वारा मां की बात उन लोगों को और उन लोगों की बात मां को समझायी जा रही थी। मां ने उन लोगों से बातचीत करते करते एकाएक अपनी शरीर को लक्ष्य करके कहा—"Your baby" अर्थात् तुम लोगों की छोटी बच्ची। आशा करता हूँ यहां यह उल्लेख करना अधिक अप्रासङ्गिक न होगा कि श्री श्री माताजी आजकल बातचीत करते समय बीच बीच में कभी कभी ऐसे दो चार अंग्रेजी शब्द बोल भी देती हैं। यह कहना ज्यादा अनुचित न होगा कि अंग्रेजी शब्दों का यथास्थान में प्रयोग और उनका ठीक ठीक उच्चारण करते हुए मां को देखकर कोई भी विश्वास नहीं कर सकता कि मां अंग्रेजी भाषा बिल्कुल नहीं जानती हैं।

श्री श्री माताजी के मुखारविन्द से इन दोनों शब्दों के निकलने के साथ ही साथ वह अमेरिकन महिला माँ के समीप में जाकर उनको बहुत ही प्यार करने लगी। मातृस्नेह से वह मेम एकदम आत्मविस्मृत हो उठी तथा वात्सल्य रस से उसका हृदय बिलकुल प्लावित हो गया। बहुत दिनों के बाद अपनी गर्भजात सन्तान को पाकर जैसे गर्भधारिणी माँ का वात्सल्य-प्रेम उमड़ आता है, उसी तरह माँ को पाकर उस महिला का प्रेम उभर आया। वह समझ नहीं पाती थी कि किस प्रकार वह अपने हृदय के गम्भीर प्रेम को प्रकाश करे। साहब एकदम चुपचाप बैठकर अपनी पत्नी के आन्तरिक प्रेम के प्रकाश का ढंग वा अभिव्यक्ति देख रहा था। वह भी अपने हृदय के गम्भीर प्रेम को प्रकाशित किये बिना नहीं रह सके। अस्तु, वह श्री श्री माताजी के निकट जाकर उनके मस्तक को अपने कन्धे पर रखकर ऐसे प्रेम से प्यार करने लगे, जैसे कि वास्तव में कोई अपनी छोटी बच्ची को बहुत दिनों के अनन्तर लौटते हुए देखकर प्यार करते हैं। इस प्रेम की अभिव्यक्ति में कहीं थोड़ी सी भी बनावटी वा कृत्रिमता का भाव नहीं थी—वह था एकदम विशुद्ध वात्सल्य-प्रेम। इसी कारण कहा जाता है कि कोई भी ज्ञान, कोई भी प्रेम पूर्णता प्राप्त होने से वह भगवत्-प्रेम में परिणत हो जाता है। ज्ञान तथा प्रेम का वर्णन करते हुए किसी ने कहा है—"Any Knowledge, Love Etc. raised to the power infinity is the Knowledge, Love Etc. of god". यह पवित्र निःस्वार्थ प्रेम जगत् में बहुत ही कम पाया जाता है अर्थात् दुर्लभ है। बहुत देर तक दोनों चुपचाप बैठकर माँ को पलकहीन दृष्टि से देखने लगे। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि श्री श्री माँ को देखकर उन लोगों की माँ को देखने की अभिलाषा पूरी नहीं हो रही थी। निर्निमेष नयनों से वे केवल माँ का ही अवलोकन कर रहे थे। माँ को देखते देखते वे समाहित और तन्मय हो गये, ऐसा मालूम होता था। कुछ समय तक इसी भावावस्था में रहकर वे फिर हमारे इस मर्त्य-जगत् में लौट आये। उस समय उनके चेहरे पर एक अपूर्व स्वर्गीय सुषमा छाई हुई थी।

श्री श्री माताजी से विदा लेते समय उन अमेरिकन दम्पती की आँखों में वात्सल्य-भाव के अति पवित्र अश्रुबिन्दु दृष्टिगोचर हुए। उन दोनों के भाव से यही प्रतीत हो रहा था कि वे माँ से विदा होना नहीं चाहते। वे जाते समय एक एक क़दम आगे बढ़ते थे और अपने मुँह को फेर कर माँ के मुखारबिन्द को अवलोकन करते थे तथा अपने रूमाल से अपने सजल नेत्रों को पोंछते थे। उनके भाव से यही मालूम होता था कि कोई अतिप्रिय सगे-सम्बन्धी से हमेशा के लिए विदा होकर अतिदूर देश में जा रहे हैं। उस विदाई का अतिशय करुण दृश्य आज भी मेरी आँखों के सामने वर्तमान है। उन दोनों के चले जाने के पश्चात् श्री श्री माताजी उनके आन्तरिक प्रेम के प्रकाश का ढंग वा अभिव्यक्ति को देखकर बोलीं—आज इस साहब ने जिस तरह से प्यार किया, इस शरीर (अपने शरीर को लक्ष्य कर) के पिता ने भी कभी इस शरीर को (अर्थात् माताजी को) इस प्रकार से प्यार नहीं किया।

× × × ×

केवल स्थूल शरीरधारी मनुष्य और पशु प्रभृति ही मां के प्रति आकृष्ट होकर निकट आते हैं, यह बात नहीं है; परन्तु कितने अशरीरी वा सूक्ष्म शरीरधारी आत्मा भी मां के प्रति विशेष रूप से आकर्षित होकर आया करते हैं। गत १९५७ ई० के गर्मी के दिनों में श्री श्री मां देहरादून आश्रम में थीं। उस समय उनकी तबीयत बहुत ही खराब हो गई थी। इस संवाद को पाकर काशी से मां के एकनिष्ठ परमभक्त तथा पण्डितशिरोमणि महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज सोलन से मातृगतप्राण और परमधार्मिक बघाटनरेश श्री दुर्गासिंहजी, वृन्दावन से श्री हरिबाबाजी महाराज, श्रीकृष्णानन्द अवधूतजी महाराज प्रभृति बहुत से लोग उस समय माँ को देखने के लिए देहरादून गये थे। श्री श्री माताजी की हालत देख कर हम लोग तो उनके कारण विशेष भयभीत हो गये थे। उन दिनों एक रोज रात को, जिस दिन उनके शरीर की दशा बहुत भीतिजनक हो गई थी, माँ

के प्रति गम्भीर अनुराग के कारण योगिवर तथा ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष तैलङ्ग स्वामीजी महाराज, जो कि प्रायः साठ या सत्तर वर्ष के अधिक हुए अपनी देह त्याग चुके हैं, और कई एक उच्चकोटि के महात्मा सूक्ष्मशरीर में श्री श्री माताजी के निकट आये थे। श्री श्री तैलङ्ग स्वामीजी महाराज तो माँ के पास आकर उनके सामने एकदम धरती पर ही बैठ गये थे। अवशिष्ट और जितने महात्मा लोग थे, उन सब ने माँ की प्रदक्षिणा करके उनसे क्या प्रार्थना-निवेदन किया था, वह तो केवल माँ ही जानती हैं। परन्तु यह देखा गया था कि उसी दिन से माँ की हालत और तबीयत कुछ कुछ सुधरने लगी। यह घटना श्री श्री माताजी के मुखारविन्द से सुनी गयी है।

× × × ×

कई वर्ष हुए श्री श्री माता आनन्दमयी, जब श्री वृन्दावनधाम में विराज रहीं थीं, उस समय एक दिन माँ आश्रम के खुले मैदान में टहल रहीं थीं। घूमते घूमते जिस तरफ हरिकुञ्ज, कृष्णकुञ्ज और रामकुञ्ज हैं, उसी ओर माँ पहुँच गईं। उस समय श्री श्री माँ को एकान्त में अकेली पाकर वहाँ के एक पत्थर में से एक मानव-शरीरधारी महापुरुष ने निकलकर श्री श्री माताजी के कमलसदृश चरणों में भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया। इस घटना को अकस्मात् देख लिया माँ के एक गुजराती भक्त श्री दीनबन्धु परेख, एम० ए०, एल-एल० बी० ने। बाद में अवसर पाकर श्री दीनबन्धु भाई ने माँ से पूछा—"माँ उस पत्थर में से किसने निकलकर आपको प्रणाम किया तथा आपसे क्या बातचीत की ?" माँ ने दीनबन्धु भाई से और कुछ भी न कहकर केवल यही पूछा—"क्या तुमने भी उनको देखा था ?" उसने उत्तर दिया, "हाँ माँ, मैंने देखा, उस पत्थर में से एक मनुष्य ने निकलकर आपको भूमिष्ठ हो, प्रणाम किया।" इस घटना के पश्चात् उनके मन में क्या भाव हुआ। उस पत्थर के ऊपर एक पक्की कुटिया बनवाकर उसी में

बैठकर दीनबन्धुभाई दीन के बन्धु श्री भगवान की तलाश में लग गया। वह एक उच्चशिक्षित युवक तथा धनी पिता का एकमात्र पुत्र है। वह सब छोड़छाड़ कर एकान्त में साधन-भजन कर रहा है।

× × × ×

इस तरह शरीरधारी मनुष्य, पशु, अशरीरी सूक्ष्म आत्मा तथा साधु, सन्त, महात्मा कितने ही श्री श्री माताजी के निकट आया-जाया करते हैं और उनकी कृपा, स्नेह, आदर, प्रेम आदि प्राप्त कर रहे हैं; परन्तु उसका संवाद हम लोग बहुत ही कम पाते हैं। अकस्मात् माँ के मुखारविन्द से दो-एक घटना कभी निकल जाती है। उसी से हम लोगों को मालूम हो जाता है; नहीं तो हम लोगों को ज्ञात होने का कोई भी उपाय नहीं है। ऐसी घटना तो प्रायः रोज ही हो रही है। थोड़े ही दिनों की बात है, १९५८ ई० की गुरुपूर्णिमा या व्यासपूजा के लगभग माँ सोलन (हिमाचल प्रदेश) में थीं। एक रोज बातचीत करते-करते माँ कह रहीं थीं, "भोलानाथजी के बड़े भाई ऐसे स्थान में आकर खड़े हो गये, जहाँ से यह शरीर (अपने शरीर को लक्ष्य करके) जाने वाला है। इस शरीर के उनके पास जाते ही इस शरीर के (अपने) मुँह से महामन्त्र निकल गया :—

"हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥" ❀

❀ इस महामन्त्र का दो तरह से पाठ है। एक तो कलिसन्तरण-उपनिषद्-प्रसिद्ध वह है : 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' जो श्री श्रीमाता आनन्दमयीजी के मुखारविन्द से निकली है। दूसरा वह जो गौड़ीय सम्प्रदाय में प्रचलित है : 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥'

यह महामन्त्र सुनते ही आप बोल उठे, यह तुम्हारे मुँह से सुनने के लिए ही तो खड़े हैं। इतनी बात मात्र कहकर ही वह वहाँ अदृश्य हो गये।

श्री भोलानाथजी के बड़े भाई अर्थात् जागतिक नाते से श्री श्री माताजी के जेठ स्वर्गीय रेवतीमोहन चक्रवर्ती जी (आशु के पिता) प्रायः चालीस वर्ष हुए, स्वर्गवासी हो गये। श्री श्रीमाताजी के मुखारविन्द से इस भुवन-मङ्गल कलियुग के महामन्त्र को श्रवण करने के लिए आप इतने वर्षों तक देहान्त के बाद भी अपेक्षा कर रहे थे। माताजी किस पर किस प्रकार से कृपा करती हैं, वह तो आप ही जानती हैं। स्थूलशरीरधारी, सूक्ष्मशरीरी आत्मा, साधु, सन्त तथा साधारण मनुष्य सभी माँ से लाभ उठा रहे हैं।

क्रमशः

श्री श्री माँ कहती हैं

एक छोटा बच्चा जिस प्रकार स्कूल जाता है उसी भाव से गुरु के पास जाओ। परमार्थ की ओर जितना खाली होकर जाओगे भगवान उतना ही भर देंगे। सब उनको देने पर तुम्हारा भी सब—अन्तर और बाहर—वे पूर्ण कर देंगे।

* * * *

मैं तुम्हें प्यार करती हूँ तभी तो तुम भी प्यार करते हो; मैं जितना प्यार करती हूँ उसका एक अंश भी तुम लोग मुझे प्यार नहीं करते, यह तुम लोग नहीं समझते।

* * * *

भोग मात्र ही खाद्य है। इसलिए होशियार रहना, ये खाद्य तुम्हें न खा जायँ तुम हमेशा खाद्य को आत्माधीन रखने की चेष्टा करो।

* * * *

मेरी बात में विश्वास रख नाम जप करो, निश्चय ही फल पाओगे।

* * * *

The ONE who is the Eternal, the Atman,
He Himself is the traveller on the path of Immortality.
He is all in all, He alone is.

MATRI VANI

He who is your Guru is the Guru of the whole world and the One who is the Guru of the whole world is your Guru. Strictly avoid the company of those who awaken doubt in your own Guru.

* * *

If you want to find peace you must devote a good deal of your time to the particular practice that helps you to sustain the contemplation of God.

* * *

This body always maintains that there is only one Self; therefore how can the question of separation or distance arise at all?

* * *

There are various modes of living: one is in the Ashram of the householder; another to do service regarding whomever one serves as a manifestation of the Supreme Being; a third way is to fix Self-realization as the one and only goal and advance towards it with uninterrupted speed and determination. Everyone chooses one of these modes of living in keeping with his inclinations and bent of mind. God Himself will take care of everything that concerns a man who puts his whole trust in Him.

* * *

Is it possible to train someone to be a *Brahmachari*? It is a person's nature that makes him a *Brahmachari*. Everyone is born and acts according to the dispositions and tendencies acquired in former births.

* * *

In times of adversity and distress as well as in times of well-being and good fortune try to seek refuge in the One alone. Keep in mind that whatever He, the All-beneficient, the Fountain of Goodness, does, is wholly for the best.

* * *

Everyone runs after happiness and enjoyment. Yet supreme happiness and bliss are ever '*there*' and nowhere else

That which is eternal must be revealed and then the question of going or not going in search of anything does not arise.

* * *

Truth itself will assist in every way him who has gone forth in search of Truth.

"Misfortune must not be looked upon as a disaster : it would be a sin to do so, for Who sends the misfortune ? What *He* does is all beneficial. Under no circumstances, however adverse, should man accept defeat."

"Ma"

Conversations with Sri Sri Ma Anandamayi

RECORDED BY PROFESSOR B. GANGULY

(Translated by Atmananda)

(6)

Priyadham, Ranchi
19/5/1958.

Question : Are happiness and sorrow experienced even after one has attained to the knowledge of Reality ?

Mataji : Two things cannot simultaneously be in the same place. When the knowledge of Reality has dawned, happiness and sorrow are no longer experienced.

Question : Can the Bliss of Supreme Reality (*Brahmānanda*) be *experienced* at all ?

Mataji : It is direct Knowledge.

Question : If an Enlightened-one dies in pain or distress, will he be liberated even so ?

Mataji : Where Enlightenment is there can be no question of pain, distress or death.

Question : To what level does faith belong ?

Mataji : To the realm of the mind ; everything that concerns the life of man is of the mind. However, when one penetrates to the root of things, there is only the ONE and He alone.

Ranchi Ashram,
10/5/1958.

Question : How can the macrocosm be contained in the microcosm ? The *S'āstras* declare that it is so.

Mataji : Have you no faith in the *S'āstras* ? Can anything exist that is not contained in the macrocosm ? Everything is contained in everything—materially speaking as well as in a subtle sense.

Question : Is it possible to have a vision of the Lord in His Universal Form (as described in the 11th chapter of the *Gītā*) ?

Mataji : Most certainly. First become Arjuna and then you will see. Anything is possible in God's Kingdom, even the impossible becomes possible ; on the other hand the possible also becomes impossible.

Question : What actually does microcosm signify ?

Mataji : Just as one distinguishes between three kinds of bodies, namely material, subtle and causal, so one may speak of three different microcosms. It is you who exist in the limitation of the body and also as the all-pervading Self. To know oneself means to know the microcosm and through it to have knowledge of everything in the whole universe.

Question : The Lord's Universal Form as described in the Gīta is extremely terrifying. How can a human being behold it ?

***Mataji* :** In God's Creation everything may become possible by God's Grace.

Question : If one realizes that craving and attachment are at the root of all troubles, does this indicate that one's creative Power (*Kundalini*) has been awakened ?

Mataji* :** Just as it is quite unmistakable when one's hunger has been appeased, so also when the power of ***kundalini has been awakened there is no room left for a question.

Question : Does a person in whom *Kundalini* has been awakened not sleep anymore ?

***Mataji* :** Only full awakening is real awakening, that is to say, right up to the thousand petalled lotus at the crown of the head. The vibration that is felt on occasions from the base of the spine upwards does not signify a complete awakening If trembling etc. is experienced in consequence of a partial rousing of the *Kundalini*, this is not its full revelation, but only a glimpse as it were. One must try to preserve perfect calm. The eight *sattvic* signs or other bodily phenomena exhibited, have by no means in all cases the same significance

A *sattvic* disposition is of the utmost importance. To the degree that desire, passion, anger have diminished, one may take it that one has progressed in one's *sadhana*. Tranquillity is not inertia: from real calm will arise one-pointedness knowledge, bliss and peace.

Question : Why is one not always full of bliss while engaged in *japa*, meditation or other spiritual exercises ?

Mataji : When the object of one's supreme desire has been realized, then only there is bliss. By the sustained practice of *japa* a state is reached where one feels that the mind has become one's obedient servant, then there is the bliss of attainment, the bliss of visions and similar experiences. But one cannot keep up this condition at all times and therefore bliss is not felt.

Question : What should one do in order to be always supremely happy ?

Mataji : One has to be constantly engrossed in *japa*, meditation, contemplation etc. You want to enjoy worldly happiness and at the same time experience the bliss of Reality—how can you have both ? The mind is roaming in all directions and so what can be the result of a little *japa* done by fits and starts ? By the *yoga* of sustained and regular practice the mind must be made one-pointed.

A South Indian Mystic

T. KRISHNAJI, B.A., B.L.

India is rich in sacred lore, saints and seers. Unlik the West, in India philosophy and religious life are blende together. The mystics of India have lived and experience philosophic truths. South India or *Dravida Des'a* has a prou record of saints and their sayings and songs, so much so tha the *Bhagavatha Mahatmya* narrates that the Damsel o Devotion had her birth in *Dravida Des'a*.

South Indian mysticism flows into two stream devotion to God Siva by the Nayanamars and devotion t God Vishnu by the Alwars. The sixty three Nayanamars an the twelve Alwars have been canonized and worshipped in th South Indian shrines. Their devotional outpourings hav been collected and chanted in the temples. The devotiona literature of the Nayanamars is called Tevaram and ha influenced the Saiva Siddhanta school of philosophy. Th devotional songs of the Alwars, collected and known a '*Prabandham*,' treated as Dravida Veda, moulded the thoug of Sri Ramanujācharya in formulating Visistadwaiti Philosophy. His thought has enriched the devotional life an literature of India.

The credit of rehabilitating Hindu faith and religio goes to the Nayanamars and Alwars and due to the upsurge devotional life in the South, the Buddhist and Jaina creeds fled from these parts. The Nayanamars and Alwars did much to popularize temple worship, and their devotional outpourings enriched the religious literature of South India. They lived between the 2nd and the 9th centuries A. D

Vipra Narayana, one of the Twelve Alwars, was a Brahmin by birth and lived at about 700 A.D. at Thirumandam, a village 5 miles from Kumbakonam. Though deeply learned, he developed devotion for God and the Divine Preceptor Sri Visvaksena initiated him. As he was a great devotee he is called *Bhaktisvara*. Because of his humility and devotion to Godmen or Bhaktas, he is called Thondar adippodi Alwar or Bhakta Anghri Renu. His devotional life had a brief romantic interlude and therefore has been a popular theme for drama and the screen.

Narayana Alwar, deeply devoted to God, led a detached, dispassionate and dedicated life. He left his village and settled at Srirangam, the centre of Vaishnavite devotion in South India. The life of Malakara, narrated in the *Srimad Bhagavata*, impressed him. He tended a garden of flowers and *tulasi* plants and supplied flowers and garlands to Sri Ranganātha as his *malakara* or florist. Daily, before dawn he would stand with his offerings before the bed chamber of God Ranganātha and sing *Suprabhātam*, to awaken Him. It is called *Tiruppalli Yellichi* (*prabodhaki*). The Alwar sings,

"Oh, Ranga, be pleased to awaken and receive
worship from thy devotees, who have

thronged here. The Sun has risen,
dispelling the darkness of the night.
Indra and other devas are waiting for you.
Narada and Thumburu are here to sing ;
Awake, and bestow Thy grace on all.
Let dark ignorance flee.
Heavenly Beings wait to sing and play on their
musical instruments. Awake, receive
their homage and worship.
Thondar adippodi waits on you with
flowers ; confer Thy grace,
make him fit to be a devotee of Thy devotees."

While the Alwar led a God-intoxicated life, *prārabhd*
karma schemed to lead him astray. The obstacles to a godl
life are many and one must be a hero to be able to rejec
worldly life and sense attractions. Two damsel sisters of eas
virtue happened to pass on the road side of the Alwar'
garden. The fine fragrance of the flowers drew them ther
They saw a handsome youth watering the plants, recitin
God's name. He was oblivious of his surroundings. Th
elder sister remarked to the younger that the youth wa
possessed of dispassion and detachment. The younger girl
called Deva Devi, replied by vowing that if she failed to temp
the youth to return to worldly life, she would serve her siste
as a slave.

Deva Devi schemed how best she could seduce Vip
Narayana to a sensuous life. She approached him in the gar
of an ascetic, feigning dispassion and abhorrence of the worl

She implored him to allow her to stay in the garden and attend to the flower beds and to his personal service. A true devotee of God is guileless and kind to all. The Alwar, simple and childlike, pitied her and allowed her to remain in his garden. A crisis came into his life.

Some time passed. One evening, a heavy gale broke out and rain poured down in torrents. Deva Devi was drenched and stood shivering in the cold night. Vipra Narayan saw her plight and his scruples were overpowered by pity for her. He invited Deva Devi into his hut and gave her dry clothes. Even Viswamitra, prince among *tapasvis*, succumbed to the charms of Menaka. The charms of Deva Devi ensnared the Alwar and he gave himself upto her completely. His mind deserted God Ranga. In his abasement Deva Devi triumphed, puffed up with pride, and vanity she began to spurn his advances. The ever merciful Goddess Sri Ranganayaki saw the miserable plight of the Alwar and interceded on his behalf, imploring Ranganātha to save the devotee. God had declared that none of his devotees would go to perdition. "*Name Bhaktah Pranasyati*"

On one occasion Deva Devi turned Vipra Narayana out of her house. In vain he pleaded with her. He went and sat on a neighbour's pial, Deva Devi in his thoughts. Sleep deserted him. God's ways are mysterious. Rangadas, a messenger with a golden goblet met Deva Devi and delivered it to her as a present from the Alwar. Her renewed solicitations brought the Alwar again to her. But the spell of darkness began to run out and the dawn of Divine awakening was near.

The next morning, the temple priest discovered the loss of the golden goblet. When it was found in the house of Deva Devi, she and the Alwar were taken into custody.

Deep distress and anguish sharply reminded the Alwar of his fall. In remorse, he wept for Sri Ranganātha. The King of that place dreamt that the Alwar was innocent. God admonished him to release His devotee, Deva Devi was transformed and became a devotee of God. Narayana Alwar on release from custody, hastened to Sri Ranganātha, gratitude and devotion welling forth from his heart. He sang a garland of 45 verses in praise of sri Ranganātha, called *Thirumalai* (sacred garland) in Tamil. It is sweet with the fragrance of devotion and is sung daily, before sri Ranganātha at Sri Rangam as a part of the temple ritual.

"Oh Ranga : Thy devotees sing Ranga, Ranga, to save people, though sinners, who utter Thy name, from Yama and his forces, You abide for ever betwixt Kaveri waters.

Oh Ranga : Achyuta : I enjoy to drink the nectar of Thy beauty. Thy body shines like a mount of emeralds, lips, coral-like, lotus-like eyes, Lord of cows and cowherds, beauty's feast.

I do not care for Indraloka, I seek not another human birth. The Veda says human life lasts a hundred springs, of which half go in sleep, and the rest in youth, old age, sickness.

Oh Ranga ; You are ever ready to redeem. Alas, leaving Thy service, life is wasted in misery and servitude to the senses ; but we are saved by uttering Thy name.

Oh Ranga ; I am Thine. I forsook Thee for a life of idle pleasures till your grace rescued me and revived devotion to Thee. O Mind, how can you forget Him and His Grace.

O Lord : I know not austerities, *sadhana*, or devotion ; I appear as a thief, fool, ensnared by damsels ; shameless am I. But You are Gracious : You are my life, my *Antar-atma*.

Though a sinner, I shall serve Thee and none else. In Trivikrama Avatara, saints and sinners came under Thy foot. To save cows and cowherds, You held aloft Govardhan Mount. Why have you delayed to rescue me ?

Devotees have no caste. If a learned Brahmin reviles a devotee, he is no better than a *chandala*. Siva, Brahma, performed austerities to know Thee. They failed to serve.

But you saved the elephant Gajendra. Save me. Oh Ranga : you rescue me. This composition may have defects, nevertheless, it will please You.

The above verses are, in substance, the prayer of the Alwar to Sri Ranganātha. The Alwar lived for 105 years in deep devotion practising *Yoga*. The life of the Alwar exemplifies that a spiritual aspirant should be careful in the choice of his company and that God's grace rescues and redeems devotees even when they lapse. He is '*patita pāvana*' who declared in the Gita that none of His devotees will perish. That is the glory of God Ranganātha, who feigns to be asleep but is ever alert to save all from the ills of worldly life, and to lead them to Life Divine.

The Fundamental Principles of the Dhyana School in China

DR. CHOU HSIANG-KUANG, PH. D. (DELHI)

Asstt. Professor of Chinese, Allahabad University

Buddhism is both a religion and a philosophy, based upon the doctrine of Gotama, the Buddha. Dhyana Buddhism is a school of Mahayana Buddhism, first founded in China by Bodhidharma of the Liu Sung Dynasty (420–478 A. D.). It aims at immediate insight into the nature of Reality. The aspirant climbs with empty hands from the level of 'everyday life' to the heights of spiritual Enlightenment. The experience of *dhyana* unites the knower, the known and the act of knowing into one. Oneness is to be achieved by passing through the diversity of the many. Through ignorance to Enlightenment, through life in its infinite aspects to the Source of life is the way of *Dhyana*. It is at once a way of approach and a way of rejection. "Among men reject none among things reject nothing, this is called comprehensive intelligence."

The successors of Bodhidharma were Hui-K'o, Seng-t'san, Tao-hsin, Hung-jan and Hui-neng. Hui-neng was recognized as the 6th Patriarch of the Dhyana School. Since then the Dhyana School has been divided into the Southern and Northern Sects, the former led by Hui-neng and the latter by

Sheng-hui who was a staunch advocate of the doctrine of "Watching over the Heart." The Southern Sect again was split up into five sub-sects and each sub-sect has its own methods of teaching, but their fundamental principles are not so different from one another. In the following I shall point out three important principles of the teaching :

(1) **Emphasis on Self-depedence rather than on another's Strength.** Bodhidharma, the father of Dhyana Buddhism in China, had not made the long journey in order to get involved in academic discussions, nor to gain favour among the famous. His teaching is enlightenment of the heart and beholding the Buddha-nature within oneself. It goes straight to the Ocean of *Sarvajña* (Ocean of Buddha-wisdom). It is quite clear that the Dhyana School does not depend on any support or crutch and will not accept assistance either from the Buddha or the Dharma or the Sangha for the attainment of Buddha-hood. All that is necessary is to reveal your own Buddha-nature, which is eternally present. No one can add anything to it, no one can take anything away from it. From the ancient patriarchs up to this day and in the Twelve Divisions of the *Tripitaka*, not a single word is said about it. The *Vimalakirti Nirdesa Sutra* states : "The Norm has no analogy, since it is not a relative term." The 6th Patriarch Hui-neng also said : "Within yourself you can see the *Buddha* who is the manifestation of the essence of the mind, which is not to be sought without ; know your own heart by yourself, see your own inner nature by yourself, ignorance manifests as the individual and Enlightenment as the Buddha ; if you say you take refuge in the Buddha, do you know where he is ?

Hereafter let the Enlightened One be your teacher." The Dhyana Master Hsuan-an said: "This gate is beyond the Vairocana Stately World, and much superior to the convenient gate leading to truth by Śākyamuni. From this very moment to the future, it does not allow you to have a sight-perception of a single thing." There is a *Kung-an* (a problem given to a Dhyana student for solution) showing the idea that we must depend on ourselves and renounce the strength of another.

Once when the Dhyana Master Ma-tsu was to commence lessons in the Dharma-hall, he kept silent for a little while. At that moment the Dhyana Master Paichang took away the mat lying in front, while Ma-tsu also descended from the upper seat to the hall. Such an incident happened. It is indeed due to this that the teacher had this pupil. All the protests and thoughts, all the instructions and words, were gathered in the centre of wordlessness.

Chih-hui was asked by a monk: "How to walk on this smooth Road?"

Chih-hui answered: "If I point it out, you will wander here and there."

It is quite clear that no one can describe to another the state of Enlightenment; each one must achieve it by himself.

(2) Emphasis on Practice rather than Knowledge. The doctrine of Dhyana Buddhism came down to the present day in a direct line, generation after generation. Although it is transmitted directly, it has nothing to do with "teaching and learning." Therefore when Bodhidharma came from India, he simply declared, "Directly pointing to one's own soul, my doctrine is unique and is not hampered by the canonical teachings ; it is the absolute transmission of the 'Seal of the Buddha-heart.' The great truth of Dhyana Buddhism has nothing to do with letters, words or *Sutras.* It only asks you to grasp the point directly and to find your peaceful abode." There is a Kung-an mentioned in our Dhyana Buddhist records which corroborates this idea :

Shen-chen saw his fellow-student reading Sutras while a bee was creeping over the paper-window. Thereupon Shen-chen said : "The world is so vast, be pleased not to creep there but wish to study the writings of the ancients ; I don't think there would be a date for him to enlighten ?" His fellow-student therefore requested Shen-chen to preach Buddha-Dharma and then the door to Enlightenment opened for him.

This shows that if we want to learn the truth of Dhyana Buddhism we shall never achieve it ; for the truth is not in a book. We should lay emphasis on practice rather than on theory. The Dhyana Master Yi-chung also said : "If you constantly seek an interpretation of sentences, it is like your looking towards your native place from far, far away." So we shall have to find out some other way of achieving Buddha-hood. The following Kung-an has given the answer to it :

A monk was asked by the Dhyana Master Chao-chow : "How many volumes of *sutras* can you read in a day ?"

The monk answered: "Sometimes seven or eight, at other times I am able to read *sutras* covering ten volumes."

Chao-chow said: "Acharya, you don't know how to read *sutras*."

The monk said: "How many volumes of *sutras* can you read in a day?"

Chao-chow said: "I only read one word a day."

What Chao-chow said about his daily reading of one word did not mean the word in the canon but reading one's original nature styled by Hsin—"Essence of mind." Therefore there is in the Dhyana School a method of attaining to Enlightenment by meditating on wordlessness. It is recognized as a path for seeking the great truth of Dhyana Buddhism. In short, the great truth of Dhyana can be revealed only to those who have fulfilled the conditions for its realization. A teacher may hint at the way or help to guide a pupil; but the work as well as the accomplishment are the pupil's.

(3) **Emphasis on Surpassing Sagehood rather than Dwelling in it**—In the Dhyana School the enlightened person himself knows that he is enlightened; all the same he will not forsake this world but live in it, so as to do service for the improvement and welfare of all living beings and make valuable contributions to human society.

The Dhyana Master Hwang-po while on a sight-seeing tour at Tien-tai met a monk on the way. They seemed to be old friends and had an amusing conversation. As they were proceeding they saw a stream in floods. Hwang-po took off his bamboo hat and made his stick stand up in the stream. The monk crossed over the water and looked back to Hwang-po, saying: "Come on, come on". Hwang-po said: "You are a person who has no regard for others. Had I known this earlier, I would have cut off your shin bone."

The monk said with admiration: "Indeed, he is one who obeys the Mahayana Doctrine of the Buddha."

The man who has attained to perfect Enlightenment will understand that he and all living beings are one. He cannot remain aloof when seeing others suffer. Therefore such beings renounce the lofty heights of their sagehood and descend to manhood to save mankind from this world. At that time, the Enlightened one who enters into the *Rūpadhātu* will not be deluded by it; when he enters the *S'abdadhātu*, he will not be deluded by it; when he enters the *Rasadhātu* he will not be deluded by it and when he enters the *Dharmadhātu* he will not be deluded by it either." (See Records of the Sayings of Lin-chi.)

The layman remains in the layman's region due to his delusion; later, due to his wisdom he enters sagehood; and then he again enters laymanhood out of compassion and fellow feeling. He who at the time of delusion is moved by desires will not be moved by desires at the time of awakening; and when he enters the world at the time of compassion, he will turn to the Ultimate; to attain to the Ultimate is to attain to the truth of *Dhyāna*.

Prajnā—The Light of Intuition

PROFESSOR MADAN GOPAL, M. A. (ALLD.), B. LITT. (OXON), C. P. E. S. (RETD.)

The psychology of a spiritual experience remains one of the most difficult problems to be tackled by the human mind. In the first place, the processes involved even in the early stages take place in a region of the *psyche* that has yet been only partially explored. Then the phenomena, as experienced in the depth of the psyche, can be interpreted variously according to the mental and emotional equipment of the *sādhaka*. There are so many systems of *yogic sādhana* each with its own philosophic affiliations aud each with its own *mythology*. Therefore, it is exceedingly difficult to lay down any clear scheme according to which these experiences can be evaluated. All the same, in the setting of Modern Knowledge, it is also necessary to give its proper place to mystical experience, however elusive that may be.

Epistemology, the theory of knowledge, occupies a central place in modern philosophy ; but it is conditioned by the experience of the European psyche, which has so far confined itself to the exploration of the outer worlds. Some thinkers admit the possibility of higher experiences but are puzzled by them. The well-known Professor Juug, in spite of his deep sympathy for *yoga* and inner vision almost shrinks away in horror from their full implications. The idea of the loss of a personal self, and its replacement by some kind of a diffuse impersonal consciousness seems frightening to him. The mystic, he says, loses as much in clarity and definiteness as he gains in width and universality. He also is unable to sacrifice the splendid structure of scientific thought for what appears to him a web of childish dreams about outer nature. The fact is, up to the present time very few thinkers have arisen who have been able to assimilate both Western thought with its brilliant analysis of physical nature and deep interest in human welfare and the Eastern inheritance with its profound knowledge of inner phenomena, and relative contempt for both outer nature and the organization and welfare of society.

There are hints, no doubt, in ancient Hindu literature about a true Map of Knowledge which would include in its ambit all human possibilities of *vidya* at all levels. These are however often expressed in mythological terms, difficult to interpret at the present day. Perhaps the clearest passage to be found in our ancient literature about the problem of knowledge is in the Kathopanishad, which reads as follows :

"*Indriyebhya parā hyarthā arthebhyasca paro manah. Manasastu parā buddhir, buddher ātmā mahān parā. Mahatāt param avyaktam avyaktāt puruṣo parā. Puruṣānnā parā kascitsākāstā sāparāgatih*" (1st Valli, 2nd Chapter.)

This may be translated as follows :

"Higher than sense knowledge is knowledge of their objects (objective knowledge), and higher than the knowledge of objects is mental (or intellectual) knowledge; higher than mental knowledge is *buddhi* (*prajñā* or intuition) and higher than *buddhi* is the Great *Atmā*. Higher than the Great *Atmā* is the Unmanifest (*Parāśakti*) and higher than the Unmanifest is the *Puruṣa* (also called '*S'āntatmā*'." This is made clear in the next verse which says:" *Yatced vān manasi prajñāh tadyaced jñānatmanih, jñānātmani mahatinaced tad yaced śāntātmani.*" "Let the wise man dissolve all sense impressions (here symbolised by *vāk* = speech) into the mind (the intellectual principle) i.e. integrate all sense knowledge by the help of the Mind.). "Then let him dissolve the Mind into the intuitive principle (here called *jñānatmā*; and let him further dissolve intuitive knowledge into the Great *Ātmā* (*Mahat*). The knowledge of the *Mahat* (the great Principle) has further to be dissolved into what is called the *S'āntātmā* (the Peaceful Self) which here embraces both the *Avyakta* (*Parāsakti*) and *Purusa* (the Supreme Self).

This suggests a hierarchical scale of knowledge far exceeding in its scope anything glimpsed by European philosophy.

The first three kinds of knowledge are common to most human beings and consequently not much space need be devoted to them. As anthropologists have pointed out, the earliest kind of knowledge is "animistic", wherein objects of nature are thought of as possessing a life similar to our own, and consequently to be pacified or propitiated by what is called "sympathetic magic". This is the stage which is represented at present only by primitives and savages, though like all past experiences of humanity it is deeply imbedded in human nature and comes out sometimes with surprising force in superstitions and manifestations of mass hysteria. Next comes the stage at which man begins to perceive that objects in nature have a *law* behind them and consequently it is necessary to recognize this *law* in order to manipulate its forces. This is the stage in which the vast majority of human beings are today. Their interest is to utilize the powers of nature for their personal ends, but there is little aspiration after philosophical knowledge. When the Mind becomes active the interest shifts from the mere mechanical movements of nature to the laws underlying them. This leads to attempts at unifying this knowledge by means of general concepts and laws which can be applied as widely as possible. This is the stage of scientific knowledge, which is so brilliantly illustrated in our civilization and which colours the whole of our approach to Nature. There is no need to explain this in further detail as scientific mentality is widely spread and is at the basis of our whole civilization.

The limitations of this kind of knowledge are beginning to be perceived in present day philosophy, though the European mind can seldom see a way beyond it. Briefly, all scientific and intellectual knowledge is ultimately based upon sense perception unified by the intellectual method of analysis and comparison. This leaves out all knowledge which cannot be brought directly or indirectly under sense-observation; for example we can know a lot about the atom by scientific methods but nothing about the mind which perceives the atom ; therefore all intellectual knowledge remains one-sided, and when mistaken for complete knowledge, can lead to grave errors. The most important questions of life cannot be answered without understanding the nature of the mind and of the forces which lie behind it. It is becoming evident to keen observers of mental phenomena that all our mental attitudes are deeply coloured by our emotion and desire attitudes ; and in spite of all precepts with regards to scientific detachment, even the greatest scientific thinkers remain under the domination of their subconscious impulses. These things prevent a full view of either outer or inner nature. It is worthy of note that scientific method has succeeded best in those fields where human emotions, hopes and fears are relatively absent. For example, science has achieved brilliant success in the fields of physics and chemistry, which study so-called dead nature ; but when the same methods are applied to fields like economics, sociology, etc. they lead to wide divergences and conflicts of opinion. It is obvious that even so-called great thinkers are not free from inner prejudices, desires and inhibitions, and cannot therefore think *freely.* Besides that the subject matter is so vast and difficult to arrange that a full consideration of it is impossible for any one human mind. The progress of science itself has demonstrated that its problems are constantly becoming more complex and specialised and its methods do not suggest any scheme by which the whole of this vast accumulation could be unified. Besides that, problems of the highest interest to humanity, like the true goal of the human being, his destiny on earth, his relationship to other human beings and to nature, cannot be successfully attacked at all by scientific methods ; and even a brilliant scientific thinker like Bertrand

Russel is driven after an analysis of science to a rather belated and lame plea for Christian love and charity.

I think enough has been said to illustrate the character and limitations of intellectual knowledge. There is another form of it which is not to be seen so much in the modern West as in the ancient East. Here in Asia, where monastic life was highly developed, it enabled thousands of people to lead a sheltered existence, which in some cases they devoted to a dry useless "intellectualism". If we read the literature of Hindu and Buddhistic controversy, we shall find the highest energies of the mind devoted to questions which are both trivial and remote from human interests. There are thousands of Vedantists in India who have convinced themselves (for the time being) that they are pursuing the highest knowledge, because they have mastered the intricacies of a complex intellectual system. Yet these people may be narrow, prejudiced and vain and may lack true spiritual perception. The mere fact that the intellect is turned towards the higher objects of philosophical contemplation instead of the objects of sense as in physical science, does not make this study or learning truly 'spiritual'. So neither the lower part of the intellectual mind which turns towards science based on sense perception nor the higher part which turns towards philosophy and metaphysics can free us from our basic prejudices. Without this freedom, the higher unifying and liberating Truth cannot be perceived.

Considering all this, we have to look elsewhere for the guidance that we need. Unless we can find some more luminous principles than the ponderous instrument of the intellect, we are helpless in face of both the huge accumulations of knowledge that confront us, and also of their application to *human problems* which is so necessary at the present day. So we come to the next principle, called *buddhi* in the above passage, in which perhaps we shall find a clue to our present problem. I may say that hereafter I shall exclusively use the word *prajñā* instead of *buddhi*, as the latter has become corrupted in common usage to mean merely the intellectual principle. An analysis of our mental processes, however deep and wide, can never lead us beyond the stultifying vision of ever changing appearances and a mind incapable of coping with the vast and shifting material of sense observation and of the intellectual generalisations based upon them. Moreover, most human beings are not even capable of any high intellectual effort and are deeply enmeshed in the tasks of their daily life. This faculty can also be called intuition, though the philosophy of intuition as developed in the West has tended to confuse it with the instincts and the automatic mechanism of nature. Hence a clear understanding of this principle is desirable for any comprehension of the path of *yoga*.

(To be continued).

Pages from My Diary

GURUPRIYA DEVI

(Translated from Bengali)

5th June, 1959.

Mataji is at present in the Kishenpur Ashram at Dehradun. Her health is not too good. The following, although apparently an insignificant episode, is yet noteworthy. At night Mataji was lying on Her bed and Pushpa came to fan Her, but Mataji asked her not to. A little later She called her, explaining: "Someone or other is busy fanning this body." Needless to say that this refered to what was taking place on a subtle plane.

Afterwards Mataji said to me: "At times although the door is bolted and nobody in the room, yet someone is fanning this body."

6th June 1959.

At 9 p. m. when the silence was over, Mataji was talking to us. In the course of the conversation She remarked (about Herself): "This is a tiny little child and therefore everyone loves her. One who calls nobody and nothing his own is loved by everyone and this is why all bring food and clothes for this body and lavish their affection on it."

Hiru Brahmachari put in: Why, it is Mataji Herself who attracts people !

Mataji replied laughingly: Who attracts whom and to what purpose ?

Kunjan : It almost looks as if Mataji is using a *mantra* to hypnotize people.

Mataji : In order to master such a *mantra* two things at least are necessary—a Guru and education ; but this body has neither.

Dr. Pannalall : Mataji, you once said that none who have come to you can come to harm (spiritually).

Mataji : Perfectly right ! Nobody will come to harm, everyone will become, very good indeed, certainly, certainly, certainly !

Batuda : Ah, now we have all received Mataji's blessing.

Mataji : What I said is quite true. How can anyone be harmed by coming to his little daughter ? This body is Father Pannalal's doll (little girl). Is it possible for a small child to bring harm to her own father ?

Myself : Put it in any way you please—the supreme fact remains unaltered !

8th June 1959.

Mataji's health is not at all satisfactory. Today She has again a severe tooth-ache. Suddenly in the late afternoon, while in that painful condition, Her body began to manifest a variety of *yogīc kriyās.* Afterwards I heard Mataji say: "The pain became concentrated in the head; you would call it a very bad symptom and it was indeed acute. How peculiar this body felt at the time! If the *kheyāl* had been there the pain might have stopped; however the *kheyāl* was to let things run their own course. This body then passed through all kinds of strange conditions."

On many occasions I have watched Mataji's body go through *yogic krīyās*, even while seriously ill, and then Mataji would not be aware of the illness any longer and in fact was perfectly healthy once again.

Mataji remarked: "This body may get quite well or it may also become much worse and be gone altogether. This may occur even while laughing heartily or while weeping profusely."

12th June 1959.

Today a gentleman from Columbia in South America arrived. He had come from Delhi by taxi for a few hours in order to see Mataji and to talk to Her. He had a long private interview with Her about spiritual things and seemed deeply satisfied and impressed with Mataji's *darshan* as well as Her words. Yesterday the Ambassador of Chile with a few other foreigners came for Mataji's *darshan* on their way down from Mussoorie. They had been to visit the Dalai Lama and related to Mataji about their conversation with him. They put similar questions to Her and seemed highly pleased with Her replies.

19th June 1959.

A devotee has arrived with his wife and daughter-in-law. The gentleman is a *vānaprasthi** and his daughter-in-law also intends to take up the same kind of life. She seems to be in some special state; her father-in-law at least praises her a lot. He says that their *Guru* who lives in Varanasi has on seeing her declared that her condition was a highly spiritual one. He wanted to know Mataji's opinion about this.

Mataji asked the young woman: "What do you experience while meditating?" "At first I feel intense bliss and at the end again," she replied; "in between nothing at all."

Mataji commented to the gentleman: "This is still an elementary stage. You can understand it for yourself: as long as the ego-mind persists, there can be no *samādhi*. Nevertheless her mind and body may be said to have attained to a certain degree of stillness. Her own words give the clue: 'at first there is bliss, then nothing at all'—who is the experiencer of all this? So long as the individual mind is active there is no *samādhi*."

After a pause Mataji continued: "Someone else also came to this body, declaring that he was no longer interested in any work or occupation, since his mind got absorbed in

---

* The 3rd stage or *ashrama* in the life of a Hindu. The *Vānaprasthi* has abandoned his life as a householder (*grihastha*) with its manifold duties as well as its comforts, in order to devote the rest of his days entirely to the search after God or Truth.

samadhi and that his *Kundalini* power had been aroused. While speaking he frequently used the words 'I' and 'mine'. He was given to understand that there could be no question of *samadhi* so long as there was 'I' and 'mine'. In real *samadhi* none of this survives. Look, a mango when ripe on a tree does not call out : 'I am ripe, come and take me'. If nobody plucks it, it falls to the ground of itself. Do you see the beauty of it ? It returns to the very place from which it has originated."

The gentleman seemed extremely pleased with what Mataji had said. She then introduced the big girls of the Ashram to him with the words : "They all are my friends ; they come from good families and are well educated. Some have passed their M. A., B. A. or M. Sc. etc., yet renouncing everything have gathered round this body to tread this path. This body does not know how to serve anyone, all the same my friends in their kindness have great affection for this little child."

The gentleman expressed his wish to leave his daughter-in-law in Mataji's charge. She comes from a well-to-do family. At first she seemed to be full of enthusiasm, but on hearing all that Mataji had said, a change had obviously come over her.

Mataji further remarked : "It is not always possible to keep the girls with me. They live a somewhat secluded life. Even of those who are prepared to put up with all the inconveniences and hardships that travelling about with this body entails, only a very few can travel. Friend, this path is very difficult. Everyone who comes has a different upbringing and a different way of looking at things. All this has to be ignored. Whoever blames or reproaches one has actually contributed thereby to one's spiritual progress."

20th June 1959.

Today the gentleman left together with his wife. Mataji asked the daughter-in-law : "You won't cry at the parting, will you ?"

In the evening Dr. Gopinath Kaviraj left for Kashi. Mataji went by car to see him off at the station. The gentleman and his wife were travelling by the same train and so we met them once more on the platform. Their daughter-in-law also had come with Mataji.

On seeing her the gentleman exclaimed full of enthusiasm : "Mataji, has the girl already passed her test ? You yourself seemed doubtful as to whether she would be able to bear Ashram life."

Mataji smiled ; "It is the final test that alone counts," was Her laconic reply.

22nd June 1959.

Yesterday two telegrams arrived from the girl's husband, requesting her to return home without delay. Since then she is feeling very restless. Early morning her father-in-law turned up in person to take her home. Many who had witnessed the whole incident were greatly surprised at his sudden return. But Mataji knows everything; already much earlier She had remarked: "Wait and see what will be the final outcome of it all. In the end the truth must come to light, whatever it may be. Never prevent people from having their own way."

As regards the telegrams Mataji told the gentleman: "Father, if during those three or three and a half years your son had not enjoyed his married life fully, he would not be so impatient to have his wife back."

At long last the gentleman had come to understand the meaning of all that Mataji had said. That very day he departed with his daughter-in-law.

26th June 1959.

To-night Mataji was resting while Buni massaged Her feet. Suddenly Mataji said: "This place has a very concentrated and powerful atmosphere. All of you should make a concerted effort at transformation. Become immersed in *japa* and meditation; give your heart and soul to the remembrance, the contemplation of the ONE."

New Diary Leaves

ATMANANDA

(5)

Kishenpur,
12th October 1960.

This morning a very young French lady arrived here from Kabul. She had gone there for some professional work and was able to break journey in India for ten days only on her way to Paris. When seeing a film of Mataji and Her surroundings, which Mr. Arnaud Desjardin is showing in France, she was so profoundly stirred that she seized this rare opportunity to come and see Mataji. She left Kabul only yesterday, arrived in Delhi in the evening and took the night train to Dehradun. After an hour of Mataji's *darshan* in a fairly big crowd, having to listen to questions and answers in Hindi and Bengali, of which she could not understand a single word, I asked her what was her impression of Mataji. "My expectations were very great," was her reply, "but I have found much more than I expected." To the question whether she did not want to see anything of India, she answered without hesitation: "No, I want to remain with Mataji."

* * *

Naimisharanya,
26th October 1960.

Question : It has been said that in 1962 the planetary constellations are very inauspicious and that there will be a great disaster in the world. What is the means to save ourselves from it ?

Mataji : You hear people say all kinds of things and since you are full of fear you feel apprehensive. Remember that there is a state in which there is no fear : to attain to that state must be your endeavour. Tread the path that leads to fearlessness. There is no such thing as a "means." You must have recourse to the means which is no means and beyond all means. In the world there is always some trouble or difficulty. The only way out is to reach a condition in which one is not afraid of anything.

Question : But what about the rest of the world ?

Mataji : First become fearless yourself.

Question : What is your opinion about the prophesy itself ?

Mataji : This body does not reply to questions of this kind.

* * *

Question : We are asked to practise self-restraint and *sādhanā.* We are trying our best, but we do not find God. What are we to do?

Mataji : Do not relax your efforts, go on steadily. Just as when you study you pass your exams. and then become an officer automatically and in course of time get your pension, similarly in the spiritual field also if you persevere and continue with steadfastness, everything will come to you of itself.

The Questioner : What you say gives us great hopes.

Mataji : It is indeed as has just been explained.

Question : Is it possible for a liberated person to have a desire ?

Mataji : To be liberated and have a desire is a contradiction in terms. Liberation implies desirelessness. How can one be liberated and still have a desire ?

Question : But has not God divided Himself into the many because He desired so to do ?

Mataji : Yes, that is so.

Question : But you have just said that one who is liberated cannot have desires.

Mataji : There is a great difference between God's desire and personal desire. Divine desire is Divine Will and quite another matter.

* *

Naimisharanya,
31st October 1960.

This evening Sri Akhandananda Swamiji of Vrindaban gave a brilliant talk on anger. The main points of it were that desire was the cause of anger and the ego (*abhiman*) the cause of desire. Unless one surrenders completely to the

Guru and becomes absorbed in His service, anger cannot be conquered. Anger is a fire that saps the atmosphere generated by one's spiritual endeavour, and interrupts the current of one's *sadhana*.

A little later, during the half hour in which Mataji usually replies to questions, people referred to his talk.

Question : Mataji, I have noticed that *sadhus* who live in places such as Gangotri and can do without clothes and blankets in the icy cold of the mountains, are those who get most violently angry. How is this to be explai

Mataji : So long as one is not established in the state where no more 'I' and 'you' exists, where one knows by first-hand experience that the Self is One and all-pervading, how can anger be wholly conquered ?

Question : What difference is there between such a man and God ? Moreover have you ever come across a human being that is incapable of anger ?

Mataji : When this body was very young someone asked : 'We hear that even the *Rishis* could get so angry that on occasions their anger burnt people to ashes. How then can you expect us to conquer our anger ?' This body has had no education and at that time had not had any *satsang* with *sadhus* and *mahatmas* either. It replied : "Yes it is true that the *Rishis* could burn someone to ashes, but they also had the power to call back to life whom they had burnt. Their anger was on quite a different level. You are unable to create, so you should not destroy either."

Question : Suppose I have a picture of my Mother and someone comes and knocks it down. Should I not get angry ?

Mataji : No, you should say to yourself : 'My Mother Herself has knocked down the picture. Whatever happens is Her doing.'

Question : Suppose I have a picture of my Mother in my heart and someone insults it. Should I not get angry ?

Mataji : No, you should say : "Mother Herself has spoken. She is all-pervading. She has spoken in this manner so as to test my endurance, to give me a chance not to get angry even when there seems to be a very good reason for it."

Here someone in the audience quoted a verse from the *Ramayana* in which it is said that if anyone abuses one's Guru one should not listen and avoid the company of the scoffer.

Mataji : The quotation is beautiful indeed. At a certain stage this is the right behaviour.

Question: When Sita entered the earth after having been subjected by Rama to the test in public, was her motive not anger ?

Mataji : No, there was no anger. Circumstances had arisen under which Sita simply could not remain in the world any longer. It was imperative for Her to leave.

Question : What exactly did Sita feel ?

Mataji : You are not playing the instrument * the reply does not come. But you yourself are Sita, you yourself are Rama.

The Questioner : No, I am neither Rama nor Sita.

Mataji : No, indeed, "I" am not Rama. Where the 'I' is, Rama cannot be. I did not say : 'I am Rama.' There is only Rama, nothing but Rama. All are Rama.

* * *

November 1960.

The following is a letter with instructions by Mataji to some *sadhikas* : "At every single moment try to be aware of Him ; for have you not chosen this path to dedicate your lives to Him ! Therefore when speaking, speak of Him ; when thinking, think of Him ; when listening, listen to His words or to what is said about Him. Further try each one of you to keep a diary, so as to check your mind from turning outward. This may also make you watchful and help you in your striving. Those who are pilgrims on the path must develop great inner strength, energy, mobility and swiftness, so that their lives may become beautiful and so as to fill their new life with a new current. It will not do to sit and ride in a rickety, jolting bullock-cart. At all times the mind must be intensely vigorous, energetic and alert—then only can forge ahead with great speed. Remember that every person has to mould his or her own life. Accept cheerfully whatever He may bestow on you or take away from you."

---

* Mataji often says of Herself : "As you play the instrument so you hear the sound ;" which means that Mataji's replies respond exactly to the attitude of mind of the questioner.

Another letter. January 1961.

"By constant practice one finally achieves. They all should make up their minds to try and follow the advice of their friend * to the minutest detail. At what moment He will grace us with His touch, lies with Him ; our duty is to continue to invoke Him without interruption. Enough time has been spent in wandering hither and thither aimlessly, leaving the Path in order to enjoy the sights of the world and to have fun in various ways in the manner of the world. Now all one's time should, as far as possible, be spent in the attempt to find one's Self. Vain and idle talk is of no benefit and only prevents one from advancing towards Him— it is but an obstacle o one's efforts. Ages and ages have been wasted in this way. Now, friend, return to your real home! By lingering on the way you only prolong the agony of the troubles and difficulties that have to be endured on the pilgrimage. Ever remember that one who is eager to advance towards Him and practises His Name and His Presence, progresses; no matter what his condition may be. To say: 'I do not feel His response' and therefore to take pleasure in mundane things, can never be for one's good—always bear this in mind."

---

* Mataji refers to Herself in this manner.

MATRI LILA

(JANUARY 15TH—APRIL 15TH, 1961.)

In the last issue we already mentioned that Mataji reached New Delhi on January 20th, at the cordial request of Sri Haribabaji Maharaj, who had arranged to attend a programme of the chanting of the Ramayana and of the dramatic performance of scenes from the life of Sri Chaitanya Mahaprabhu that was being held for 40 days in the Feroze Shah Kotla grounds at New Delhi. A huge pandal with a tin roof had been erected for the purpose and the *Satsang* took place every morning and every afternoon, with an attendance that became larger and larger daily and grew enormous towards the end of the function.

Mataji used to be present every morning for an hour or two. Many devotees and admirers were thereby enabled to enjoy Her *darshan*, who found it impossible to visit our Ashram, which is miles away from the centre of New Delhi and about a mile's walk from the nearest bus stop at Kalkaji colony. At about 1 p. m. Mataji would return to the Ashram and give *darshan* there from 6-7 p. m.. after which She spent two or three more hours giving private and semi-private interviews.

One day Mataji related that while She was at Naimisharanya last November, it was discovered that although Naimisharanya is supposed to be the place where all the

Puranas were composed, not even one complete set of those *Puranas* could be found anywhere in that town, much less did anyone read them systematically. It was therefore suggested to arrange for a regular daily reading of a portion of one of the *Puranas* continuing throughout, so that all the *Puranas* should thus be read one after another and started again from the beginning on the completion of the reading. A pandit has already been engaged and entrusted with the task and copies of most of the *Puranas* have been secured. Anandamayee Sangha is planning to build a *Purana Mandir* for this purpose on a plot of land that has been acquired on the banks of the Gomati river.

* * *

During Mataji's stay in New Delhi a special programme was arranged to sustain uninterrupted Kirtan of the *Mahamantra* for a whole month ending at *Dolpurnima* (March full moon) which is the *Holi* festival on which falls the birthday of Sri Chaitanya Mahaprabhu. The Kirtan was held at our Chandraloka Ashram from January 31st until March 2nd for 12 hours daily, namely, from 6 a. m.—6 p. m. while silent *japa* continued throughout the night, six *Brahmacharis* and *Sannyasis* of our Ashram taking turns every two hours. A party of six excellent *Kirtan* singers had been brought from Vrindaban expressly for the occasion and ashramites as well as visitors joined in at all times. People who chanced along were struck by the atmosphere of joy and peace that was created by this constant singing of the names of the Lord.

On February 3rd Mataji interrupted Her sojourn in Delhi by a visit to Hardwar that extended over *Sivaratri*. On Her way She halted in Modinagar, where She spent the night. Rai Bahadur G. M. Modi had invited Her to see the temple that is being constructed there. The building work has gone on for the last four years and is nearing completion. Rai Bahadur Modi is keen to have every detail in the temple arranged exactly in keeping with the *Shāṣtras*.

On the 4th morning Mataji alighted in Hardwar, where She and Her party were accommodated at Baghat House, Kharkhari. Raja Saheb of Solan had arranged there for the reading of the *Siva Purana*, which was completed just before *Sivaratri*. On the 5th February a preliminary rite was performed in connection with the initiation into *Naishthik Brahmacharya* of three Brahmacharis of our Ashram, which took place on *Sivaratri* day.

There are two kinds of *Brahmacharya* : the first is the ordinary *Brahmacharya* Ashram, followed by the *Grihastha* and *Vanaprastha* Ashrams and finally by *Sannyasa*. The second, namely *Naishthik Brahmacharya* may lead straight to *Sannyasa*. The life of a *Naishthik Brahmachari* is strictly regulated and the whole of his time devoted to various religious practices and the study of scriptures. He has to cook his own food, attend with his own hands to all his personal work, such as cleaning utensils etc. He eats one cooked meal at midday and only milk and fruit at night. He has to rise early, bathe in the Ganges (if possible) or else in any river or pond and is not permitted to sleep during the day. He is expected to live up to a very high ideal of conduct. Praise, blame and even abuse must be borne with equanimity. He is enjoined to regard everyone as a manifestation of the Brahman. The whole idea is to prepare oneself for self-realization and this is one of the ways. A *Naishthik Brahmachari* does not work for money and avoids all worldly pursuits and contacts. He should preferably stay in a place, which is favourable to the performance of *Sadhana* and where it is possible to go for solitary walks in the open country.

* * *

On February 6th Mataji motored to Dehradun accompanied by only a few, while the rest of the partyr emained at Hardwar. It was bitterly cold at Hardwar at the time, but the temperature at Kishenpur was very near freezing point. The surrounding hills were covered with snow and ice, presenting a most entrancing spectacle, which reminded Mataji of Her trip to *Kailash* with Bholanath, Bhaiji, Didi and her father, the late Swami Akhandananda. Mataji thus related some amusing details of that trip, which made us forget that our hands and feet were numb with cold. The next day Mataji returned to Hardwar, taking with Her most of the inmates of the Kishenpur Ashram.

* * *

Sivaratri was celebrated in Hardwar on February 13th. Many devotees arrived from far and near to take part in the complete fast for over 36 hours and the four *Pujas* during *Sivaratri* night with Kirtan in the intervals. The function was as beautiful and solemn as ever in Mataji's presence. Mataji did not only stay up throughout the night, but also led the Kirtan for over an hour, starting at about 2 a. m. This is the time when people usually begin to feel drowsy and easily fall asleep even while sitting. It goes without saying that everyone was wide awake as soon as Mataji's voice rang out in its inimitable sweetness that penetrates to the very depth of one's heart and stirs one again and again to profound religious fervour. We counted seven foreigners belonging each to a different nation, who sat on the gallery watching the *Pujas* with great interest at least for part of the night. A lady from Canada took photos and a Finnish gentleman was busy with his tape-recorder.

On February 15th the solar eclipse was observed by *Kirtan* and on February 16th Mataji returned to New Delhi. From there She motored to Vrindaban on February 25th to be present at the consecration of a temple of *Lakshmi Narayan* at the invitation of Sri Prabhudatta Brahmachari of Jhusi. On the 26th evening Mataji was again in New Delhi.

On March 2nd Sri Haribabaji's birthday was celebrated by *Ramarchana*, *Kirtan* and *Katha*, followed by the distribution of sweets and fruits to all present. The hall was packed to capacity and the overflow of visitors spread out on the verandas and the lawn. On March 3rd Mataji played Holi in the morning and again in the afternoon when She suddenly appeared in the hall in the company of Srimati Raihana Tyabji, the famous Mohammedan lady saint, who is the author of the book "The Heart of a Gopi." Everyone present agreed that they had never before seen Mataji play Holi quite like this. It was a unique experience which has left its traces.

Raihana Tyabji was in close contact with Gandhiji for several years. Even now she resides in Rajghat, New Delhi with Kaka Kalelkar and his family. She is a well-known personality, not only in India, since many foreigners seek help and advice from the extraordinary old lady. A few days before Holi she had come to pay a visit to Mataji, which was greatly enjoyed by everyone present. When Mataji requested her to sing, she on the spot composed a new song to Krishna. At her invitation Mataji attended a meeting at Rajghat held in memory of Srimati Kasturba, Mahatma Gandhi's wife. A number of Mohammedans and Europeans or Americans were present at the meeting and Mataji delighted everyone by singing Kirtan. At the end Raihanaji embraced Mataji with such vigour as if she never again wanted to part from Mataji.

During Mataji's stay in Delhi and Hardwar a great many foreigners made contact with Mataji. A few of them had travelled all the way for the purpose of seeing Mataji face to face and coming in living touch with Her. Others, after meeting Her once or twice had become so fascinated that they could be seen in the Ashram on every single day. Quite a number of foreign Ambassadors and High Commissioners had long and interesting interviews with Mataji and were obviously greatly impressed by Her radiant presence as well as by Her terse, enlightening words.

On March 4th Mataji left for Hoshiarpur. She halted at the Savitri Devi Ashram at Jullundur for an hour on the 5th, visiting the Girls' College there, run in Her name. On the 15th morning She travelled through Delhi to Vrindaban to attend a function in commemoration of Sri Uriababaji's *Mahasamādhi*. On the 16th She returned to Delhi by car halting in the Ashram for a couple of hours and then proceeded to Hardwar where She alighted on the 17th morning. Immediately after Her arrival a *Bhagavata Saptah* and a reading of the *Ramayana* were begun. The one function took place in the hall of Baghat House and the other on the veranda of the Shiva Temple, which forms the centre of Baghat House.

Mataji was not keeping very good health and remained upstairs for 5 days. However She came out on the gallery adjoining Her room at least twice daily to give darshan and to be present at the *ārati* performed in the hall downstairs every morning and evening.

On April 3rd Mataji, together with Her whole party, moved to *Shantiniketan* at Kankhal. It is the Ashram of a devotee, Sri Nitai Chandra Basu Mallik, situated very charmingly between the Ganges and the Ganges canal, adjoining a Shiva temple called *Dakshalaya*, which, as we came to know afterwards, Mataji had visited long ago together with Bhaiji and spent a night there under a wonderful old banyan tree.

Although the space available seemed inadequate for such a large party, Sri Nitai Babu managed to make excellent arrangements. The whole thing was almost like a miracle. Mataji gave *darshan* under a bel-tree twice daily. A great many of the local women gathered in the late afternoons and sang with deep feeling portions of the Ramayana.

On April 13th, *Chaitra Samkranti*, the Sannyasa Utsava of Sri Muktananda Giriji (Didima) was duly celebrated. Didima's disciples flocked in good numbers from Dehradun, Delhi, Calcutta, Varanasi and even Bombay, Poona and Ahmedabad to pay homage to their revered Guru. A dust-storm on the 12th night pulled down the pandal as soon as it had been pitched on the common just outside of the compound of Shantiniketan. Since another storm broke out early next morning the *Satsang* had to be improvised in the compound itself under a large tree. Mataji Herself supervised the arrangements, using every inch of the space available. "Whatever God does is for the best" She remarked cheerfully ; it really all worked out surprisingly well. Some well known Mahatmas, amongst them Sri Krishanand Avadhutaji, Mahamandaleshwar Sri Maheshwaranandaji of the Sannysa Ashram at Vile Parle and others gave interesting discourses on the meaning of Sannyasa. In the meanwhile the weather had cleared up and a large number of Sannyasis and sadhus were entertained to a feast in the newly pitched pandal. The programme continued until 9-30 p. m.

The next morning Mataji visited a *satsang* at '*Bhagavat Dhama*' Hardwar where She sang "*He Bhagavan*" and then was taken to Modi House for a short while.

On April 16th Mataji left via Delhi for Gwalior at the special invitation of Her Highness Maharani Saheba Vijaya

Raje Scindia of Gwalior where She is to be present at the consecration of a new temple. From Gwalior She is expected to proceed to Allahabad. A *Bhagavata Saptah* will take place there from April 22nd, followed by Her birthday celebrations from May 2nd—4th.

Sri Sitaram Jaipuriaji came to Hardwar to invite Mataji and all Her devotees to celebrate the next Durga Puja in his compound at Kanpur. The next *Samyam Varta* is expected to be held at Sukhtal, some twenty miles off Muzaffarnagar in November.

Mataji is about to complete Her sixty-fifth year. On this joyful occasion Her devotees and admirers all over the world join in the fervent prayer that She may keep radiant health for many many years to come. It is impossible to express in words what Her divine presence means to this sorrow-stricken world.

श्री श्री माँ आनन्दमयी

लेखिका—श्रीमती गुरुप्रिया देवी

श्री श्री माँ आनन्दमयी भावमयी मातृमूर्त्ति हैं। स्वभाव की प्रेरणा और सन्तानों की कल्याण-कामना से उनका प्रत्येक कार्य स्वतः होता है। वह द्रष्टा—साक्षी मात्र हैं। साधारण दृष्टि से भी उनका यह निर्मल लीला-विलास प्रत्यक्ष होता है। उनकी वाणी में कैसा अपूर्व माधुर्य है—मातृस्मृति कैसी अमूल्य सम्पद है—उसे भावग्राही भक्त हृदयंगम कर सकते हैं। उस विमल भाव-विलास की मधुमय स्मृतियाँ ही गुरुप्रिया देवी की ग्रन्थमाला है।

१९२५ ई० से सुदीर्घ ३५ वर्षों तक श्री श्री माँ के घनिष्ठ भाव से संग तथा उपदेश लाभ का सौभाग्य केवल इस महाग्रन्थ की लेखिका से भिन्न बहुत ही विरल है। श्री श्री माँ के सम्बन्ध में कुछ लिखने की योग्यता उन्हीं में है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। लेखिका की व्यक्तिगत डायरी ही भक्तवृन्दों के एकान्त आग्रह से पुस्तकाकार में अब तक पाँच भागों में हिन्दी में प्रकाशित हुई है। श्री श्री माँ के दिव्य जीवन की अनेक कहानियों, विविध सूक्ष्मदर्शन के विवरणों, अलौकिक घटनाओं तथा श्रीमुख से निर्गत बहुत ही अमूल्य उपदेशों की समष्टि को लेकर इन भागों की रचना हुई है। भक्तजनों के लिए ये पुस्तकें अनमोल सम्पत्ति है।

❋ मूल्य ❋

प्रथम भाग से पंचम भाग—प्रति भाग—दो रुपये।
चतुर्थ भाग— तीन रुपये।

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA
LIST OF PUBLICATIONS.

Hindi

Mātri Darshan—by "Bhaiji"	2 50
Sad Vāni " "	1·00
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi	
Vol. I–III and V	each 2·00
Vol. IV	3·00
Ma Anandamayee—Dr. Pannalal	(In Press)
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1·50
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2·50
Kīrtan Rasa Swarūpa	6·00
Mātri Līla Sankīrtan	0·31

Bengali

Mātri Darshan—by "Bhaiji"	2·00
Sad Vāni " "	1·00
Mātri Vani	·75
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi	
Vol. I–IX	each 2·00
Vol. X, XI	each 2·50
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1·50
Akhanda Mahāyajña " "	2·50
Kīrtan Rasa Swarūpa	6·00
Suno Bali Maer Kotha—Sailesh Brahmachari	1·25
Mātri Lila Sankirtan	0·31

Gujarati

Matri Darshan—by "Bhaiji"	1·50
Ma Anandamayee Ke Sannidhyame, Part I & II—Br. Kantibhai	2·00
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2·00

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"	(out of print)
Mother As Seen by Devotees (A Symposium)	3·00
Mātri Vani (Sayings)	1·25, Special edition 1·50

Photos etc.

Album	1·50
Photos—various sizes ranging from	0·37 to 16·00
Lockets	1·25

Ananda Varta

HINDI & ENGLISH

Vol. IX August, 1961 No. 2

श्री श्री माँ आनन्दमयी

लेखिका—श्रीमती गुरुप्रिया देवी

षष्ठ भाग

मानव-मन चिर-जिज्ञासु है। श्री श्री माँ कौन हैं? उनका उद्देश्य क्या है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न मनुष्य के मन में उठते रहते हैं। मातृरूपा पूर्णब्रह्म नारायणी माँ सन्तानों के कल्याण के लिए, देश-देशान्तरों में घूम-घूमकर भिक्षा माँग रही हैं—'तुम लोग सत् हो जाओ, मेरे ऊपर दया करो।' इस प्रकार की अविराम जीवनधारा का इतिहास ही इस भाग में है।

श्री श्री माँ के तारापीठ आगमन से आरम्भ करके साधना के विविध विवरण, तारापीठ में विचित्र दर्शनादिकी बात, नानाजी का शरीर-त्याग, हरिद्वार के सेवाश्रम में माँ के स्वतः आसन और प्राणायाम, कल्याणवन की बात, हरिद्वार में कुम्भस्नान, देहरादून में भोलानाथ जी का महाप्रयाण तथा माँ के अपूर्व मातृभाव के प्रकाश से इस भाग की समाप्ति हो गयी है।

[अग्रहायण, १३४४ से वैशाख, १३४५ वंगाब्द]

Mata Anandamayee Ashram Libra
Vadaini, Varanasi.
3/8761

Ānanda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teachings of Shree Shree Ma Anandamayee and with other religio-philosophical topics.

Board of Editors

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M.A., D. Litt.
Kumari Lalita Pathak, M.A.
Kumari Padma Misra, M.A., Acharya.
Kumari Bithika Mukerji, M.A., D. Phil.
Brahmacharini Atmananda.
Sri Sailesh Brahmachari.
Sri Amulya Kumar Dutta Gupta, M.A., B.L.
Sri K. Bose—*Managing Editor.*

* * *

Annual subscription (postage free) India—Rs. 5/-
Foreign—Rs. 6/- or 10 shillings or dollars 1·25 only.

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English in the beginning of the months of May, August, November and February. The year begins from May.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha, Bhadaini, Varanasi, (U.P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U P.).

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent *latest by the second week of the month of publication.*

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to "dishonour" any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a considerable loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Contents

HINDI SECTION

Page No.

1. मातृ-वाणी 57

2. मातृ-कथामृत—'नीलमणि' 60

3. श्री श्री माँ आनन्दमयी-प्रसङ्ग—श्री अमूल्यकुमार दत्तगुप्त, एम्० ए०, बी० एल० 63

4. डायरी के कुछ पन्ने—गुरुप्रिया देवी 74

5. मनोवैज्ञानिक परामनोविद्या में क्यों रुचि लें—डा० भीखन लाल आत्रेय, एम्० ए०, डी-लिट्०, दर्शनाचार्य, पद्मभूषण 79

6. चलती हुई गीता–श्री श्री माँ — स्वामी नारायणानन्द तीर्थ 84

Contents

ENGLISH SECTION

Page No.

1. Matri Vani 51
2. Essential unity of all Religions—
Dr. M. Hafiz Syed, M.A., Ph.D., D.Litt. 54
3. Raja Yoga or the Path of Mind Control—
Swami Sivananda, Rishikesh 59
4. Prajna—The Light of Intuition—
Prof. Madan Gopal, M.A. (Alld.),
B. Litt. (Oxon), C. P. E. S. (Retd.) 63
5. Two Incidents—Vijaiananda
(Dr. Weintrob) 69
6. Pages from my Diary—Gurupriya Devi 79
7. New Diary Leaves—Atmananda 85
8. Matri Lila 93

Printed & Published by K. Bose for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi,
at the Kamala Press, Godhowlia, Varanasi.

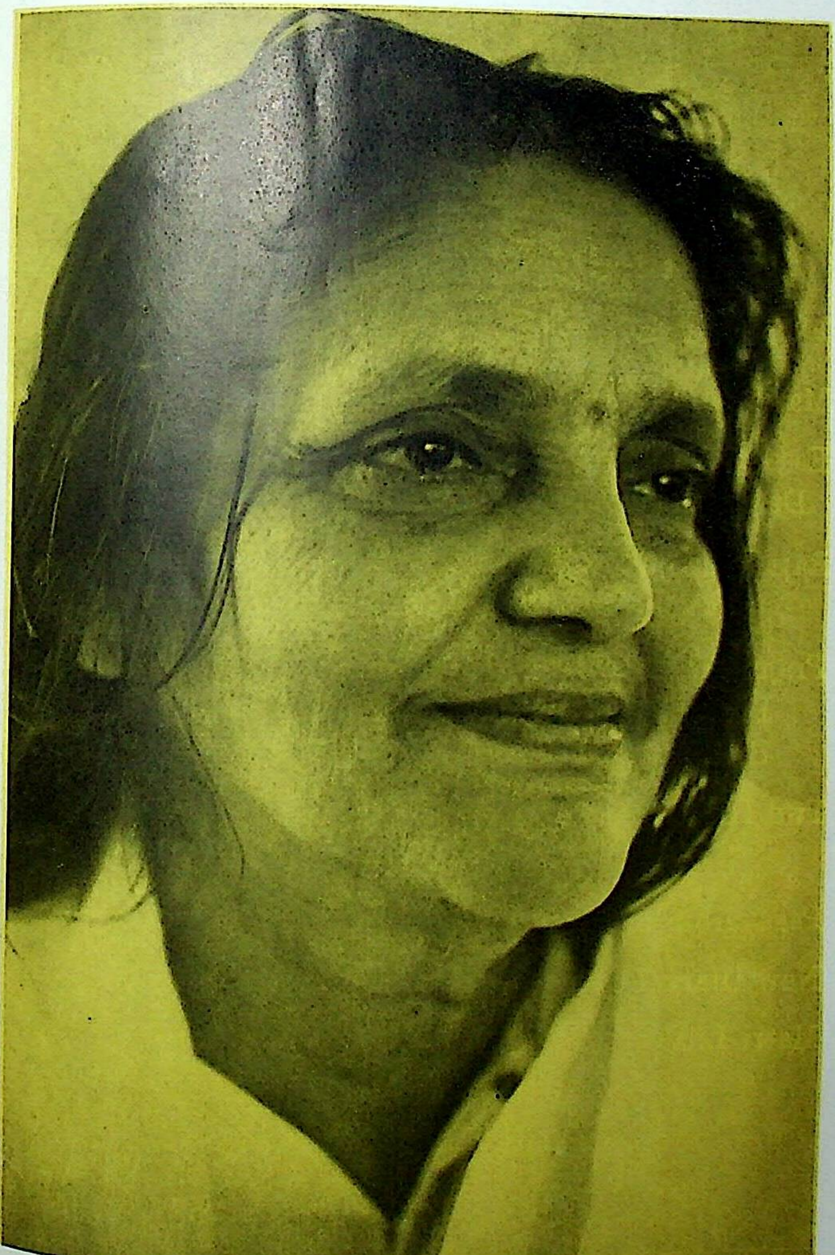

ĀNANDA VĀRTĀ

अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपने में आप

VOL. IX] AUGUST, 1961. [NO. 2

—मातृ-वाणी—

"माँ का नामकीर्तन करना चाहिये, माँ का ध्यान करना चाहिये एवं माँ को ही सर्वमय देखने की चेष्टा करनी चाहिये। माँमय होने की प्रवृत्ति होनी चाहिये।"

× × ×

"अमृत का यात्री कभी भी मृत्यु का ध्यान नहीं करता। अमृत के चिन्तन से मृत्युभय दूर हो जाता है, यह स्मरण रखना चाहिये। भगवान् का चिन्तन जितना ही अखण्ड होगा उतनी ही अखण्ड प्रकाश की ओर गति होगी।"

× × ×

मन के दुःख-दर्द की बात सुनना बोलना अपने में ही तो होता है। निकट और दूर भी अपने में ही है। अखण्ड साधक की धारा भी अपने में ही है। जिस

साधना में परम धन का धनी होने का अधिकार स्वभावतः ही है उसी धारा में अखण्डरूप से रहना चाहिये। सदा ही अहङ्कार बुद्धिरूप में तो अपने आप ही खेलता है। अहंक्रिया रूप में जो हैं विशुद्ध क्रियारूप में भी स्वयं वही हैं। उसी प्रकाश के लिए बुद्धि गति में जो स्थिति का बोध करती है—जहाँ स्वक्रिया गति में सुबुद्धि निज स्वरूप में प्रकाशित होनी चाहिये। वैसा होने पर ही दुर्बुद्धि और सुबुद्धि के बोद्धारूप में भी वही हैं—जो प्रकाश हैं और प्रकाश होते हैं। वही स्वयं अनन्त—अन्त हैं। उन्हीं को पकड़ कर बिना नीचे उतरे अन्तरायशून्य होकर निरन्तर अग्रसर होने की चेष्टा करनी चाहिये। उस धारा में जो जिस रूप में अपने को धर दे उस विशुद्ध मन और बुद्धि में जो कुछ बोध में आ जाय उन सभी को स्वयंप्रकाश की ओर से ग्रहण करना चाहिये।

× × ×

श्रद्धा-भक्ति की ओर चलने की चेष्टा करना मनुष्य का कर्तव्य है। संसार में रहना स्वाभाविक है। इससे संसार क्या वस्तु है इसकी शिक्षा प्राप्त होती है। उसके अनन्तर भोग की प्रवृत्ति में शिथिलता आती है।

× × ×

प्रेय और श्रेय में से श्रेय ही ग्रहणयोग्य है। जो त्याग का अवलम्बन कर भगवान् की ओर जाने की चेष्टा करता है उसी की तो अपनी गति की ओर प्रवृत्ति है। अपनी अपनी आत्मोन्नति की चेष्टा करना तो मनुष्यमात्र का कर्तव्य है।

× × ×

सभी भगवान् की सन्तान हैं। छोटे बड़े का प्रश्न नहीं है। जो गोद में जाना चाहता है उसकी ओर वे हाथ बढ़ा देते हैं।

× × ×

जो उनकी सेवा करता है वह कदापि असहाय नहीं है। उनके जप में, उनकी सेवा में, उनके ध्यान में अपने को जितना अधिक संलग्न रखने की चेष्टा करेगा उतना ही वे पूर्णरूप में प्रकाशित होंगे।

"कृपा तो भगवान् सदा ही कर रहे हैं। केवल समझने का अधिकारी होने के लिए उनकी ओर ध्यान लगाकर बैठे रहना पड़ता है।"

"माँ"

मातृ-कथामृत

'नीलमणि'

(गताङ्क से आगे)

राँची आश्रम, २० मई १९५८—

प्र०—जप क्या कभी जापक से जोर जबरदस्ती करके करा लेना चाहिये ?

उ०—हाँ, ऐसा भी हो सकता है।

प्र०—भगवान् क्या कभी कभी जीव का जप स्वयं कर देते हैं ?

उ०—हाँ, तुम्हीं तो भगवत्स्वरूप हो। तुम्हीं अपना जप करो। फिर दूसरी ओर की बात है—जप की आवश्यकता क्या ? कौन जप करता है। लीला में सभी आवश्यक होता है। लीला के लिए सीता, लक्ष्मण, महावीर आदि सभी चाहिये। किन्तु वास्तव में भगवान को किसी की आवश्यकता नहीं है।

प्र०—यह दुःख की लीला क्यों ?

उ०—उनकी मौज।

प्र०—रोदन और कितने दिन रहेगा ?

उ०—जब तक स्वयं अपने को न पा जाओ।

प्र०—भगवान् का नाम लेने से तो भगवान् प्रसन्न होते हैं ? इसलिए भगवान् को स्वार्थी कहना चाहिये।

उ०—भगवान् का नाम लेकर तुम आनन्द पाते हो। भगवान् दूकानदार नहीं हैं। तुम्हीं कहते हो मैं नाम लेता हूँ। भगवान् ने कृपाकर उन्हें प्राप्त करने के लिए नाम का मार्ग दिया है।

प्र०—निग्रह कृपा और अनुग्रह कृपा का क्या हिसाब है ?

उ०—भगवान् किसी को हिसाब नहीं देते, सन्तान के कल्याण के लिए जो आवश्यक होता है वही वे करते हैं।

प्र०—यदि हम लोगों के हृदय में विश्वास रहे तो जप और ध्यान का प्रयोजन क्या ?

उ०—प्रश्न जो करते हो। विश्वास नहीं है। विश्वास यदि ठीक ठीक रहे तो आवश्यकता नहीं है।

राँची आश्रम २१वीं मई १९५८—

प्र०—चण्डीपाठ में लिखा है कि महामाया ज्ञानियों के चित्त को भी मोह में डुबा देती हैं। यह बात क्या ब्रह्मज्ञानियों के लिए भी लागू है ?

उ०—साधारण ज्ञान की स्थिति में यह बात लागू होती है। ब्रह्मज्ञानी के लिए यह नहीं घटती। ज्ञान और अज्ञान के पर पार की जो स्थिति है उसमें मोह का प्रश्न ही नहीं।

प्र०—गीता में लिखा है 'उपद्रष्टा, अनुमन्ता, कर्ता, भोक्ता, महेश्वर' क्या वे पर पर क्रमानुसार अनुभूत होते हैं ?

उ०—हाँ क्रम के अनुसार भी अनुभूत हो सकते हैं।

प्र०—'गुरुकृपा हि केवलम्' इस कथन का क्या मतलब है ?

उ०—गुरुकृपा से सब कुछ हो सकता है।

प्र०—गुरु और इष्ट में क्या कोई भेद है ?

उ०—दुनिया की दृष्टि में वे पृथक् पृथक् हैं ; पारमार्थिक दृष्टि में एक ही हैं। गुरु के रूप में ही ईश्वर हैं।

प्र०—यदि किसी को गुरुप्रदत्त नाम अच्छा न लगे एवं वह यदि सत्कार्य करे, तब क्या होता है ?

उ०—ऐसी स्थिति में सत्कार्य का फल पावेगा, गुरुवाक्यपालन का फल नहीं पावेगा।

प्र०—गुरु, वेदान्त या ईश्वर का मनन किये बिना क्या अद्वैतबोध नहीं होता।

उ०—देही गुरु, वेदान्त शास्त्र और मायिक जगत्स्रष्टा सगुण ईश्वर के सम्बन्ध में यह बात है।

प्र०—साधना में गुरु का जोर अधिक नहीं अपना जोर अधिक है क्या ?

उ०—गुरुकृपा से सब कुछ होता है। किन्तु अहंकार से सब कुछ नहीं होता। इसलिए गुरुकृपा अधिक बलशाली है। तीनों की आवश्यकता है—गुरु, मन्त्र और साधना। साधना माने अपनी कृपा। एक स्तर तक अपनी कृपा चाहिये। उसके पश्चात् गुरुकृपा।

प्र०—नाम, गुरु और इष्ट एक किस अर्थ में हैं।

उ०—नाम नामी एक हैं। गुरु ब्रह्म, गुरु विष्णु, उसी अर्थ में एक हैं। सिद्धि में एक, साधनान्तर में भिन्न। विग्रह में ईश्वरबुद्धि रखनी चाहिये। उसी प्रकार गुरु में मनुष्यबुद्धि रखने पर पाप होता है। मेरे इष्ट ही उन्हें पाने के लिए मेरे मन्त्र को गुरुरूप में आकर प्रदान करते हैं—ऐसी भावना करनी चाहिये।

श्री श्री माँ आनन्दमयी-प्रसङ्ग

श्री अमूल्यकुमारदत्त गुप्त, एम्० ए०, बी० एल्०

(गताङ्क से आगे)

श्री श्री माँ के हँसने और रोने का कारण

८ ज्येष्ठ बृहस्पतिवार (२१–६–४१) प्रातःकाल श्री श्री माँ आश्रम के पूर्व के वरामदे में बैठी थीं। हम लोग भी माँ को प्रणाम करके वहीं बैठ गये। आगरा कालेज के अध्यापक श्यामाचरण वावू ने माँ से पूछा, "आप कल इतना हँसी क्यों थीं ?"

माँ—इस शरीर का हँसना रोना ऐसे ही हो जाता है। तुमने तो केवल पाठ के समय हँसते देखा। शाम को चबूतरे के नल का शब्द सुनकर भी खूब हँसी थी। तुमने शायद लक्ष्य किया होगा कि नल खोलने पर अनेक बार फस् फस् करके हवा वाहर निकलती है। कल शाम को आश्रम का यह नल भी ऐसी आवाज कर रहा था। यह शब्द सुन कर मैं हँसते हँसते अस्थिर हो गई। इस शरीर का दिमाग खराब है न, इसी से ऐसा होता है। इसके वाद जब पिताजी पाठ कर रहे थे, उनके हाथ का जरा सा मामूली धक्का लगने से आसन उलट गया। यह देखकर भी मैं खूब हँसने लगी। क्या यह भी कोई हँसने योग्य घटना थी ? इस शरीर की अनेक वार ऐसी ही हँसी होती है। कोई उपलक्ष्य लेकर हँसी शुरू होती है, उस समय यदि तुम लोग हँसी रोकने की चेष्टा करो तो उसका वेग और भी बढ़ जाता है।

एक बार ढाका के आश्रम में कीर्तन हो रहा था। कीर्तनीया भाव में गद्गद होकर गा रहा था। उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे और सुनने वाले भी भाव में गद्गद थे। कीर्तनीया में भाव होने पर भी लिखाई पढ़ाई इस शरीर की तरह ही थी। इस शरीर की भी कुछ लिखाई पढ़ाई नहीं—उसकी भी कुछ विशेष नहीं थी। कीर्तन करते करते हठात् उसने एक शब्द का गलत उच्चारण किया। वह गलती कुछ विशेष नहीं थी। उससे श्रोता अथवा कीर्तनीया किसी के भाव में आघात नहीं लगा; परन्तु उसे उपलक्ष्य करके यह शरीर हँस हँस कर अस्थिर हो गया। खुकुनी मेरी हँसी रोकने की अनेक चेष्टा करने लगी। वह कहने लगी, "इस तरह हँसने से इनके भाव को आघात लगेगा।" पर यह बात सुने कौन? मैं हँसती ही रही। तब यह लोग मुझे उठाकर दूसरी जगह ले गए। मैं उसी जगह हँसते हँसते लोट पोट होने लगी। यह हुआ इस शरीर के हँसने का ढंग—हँसने योग्य कुछ होने पर ही यह शरीर हँसता है ऐसी बात नहीं है बिना कारण अथवा सामान्य किसी कारण से भी यह शरीर हँस हँस कर अस्थिर हो जाता है। लोगों के शोक के समय भी यह शरीर उच्चहास कर उठता है। जो लोग इस शरीर की इन सब अवस्थाओं की बात नहीं जानते वह इस प्रकार की हँसी देखकर मन ही मन दुःखित हो सकते हैं। वह सम्भवतः सोच सकते हैं कि मैं उनका उपहास कर रही हूँ, पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है।

और अनेक बार इस देह का ऐसा भाव होता है कि इससे ऐसा कोई प्रकाश नहीं होता जिससे किसी के प्रति अश्रद्धा प्रगट हो अथवा जिससे किसी के मन में कष्ट हो।

और अनेक बार ऐसा भी होता है कि जिसको उपलक्ष्य करके यह शरीर हँसता है वह बिलकुल ही उस हँसी का कारण नहीं रहता। किसी अतीत या भविष्यत की घटना में लक्ष्य आने से इस तरह की हँसी आ जाती है।

साधना के खेल के समय श्री श्री माँ की नाना अवस्थाएं

मानिक बेन*—माँ, यह जो आपने अतीत और भविष्यत् की घटना देखने की बात कही, वह सब आप किन नेत्रों से देखती हैं ? आपकी जो यह दो आँखें हैं उनसे देखती हैं या (भ्रूमध्य भाग दिखाकर) यहाँ के तृतीय नेत्र से देखती हैं ?

माँ—किन आँखों से देखती हूँ यह क्यों ? समस्त शरीर ही तो नेत्र है। सब चीजों के अन्दर सभी कुछ है न ? हाथ, पैर, वाल, शरीर के किसी भी अंश से देखा जा सकता है और तुम्हारी तरह जो दो नेत्र हैं उनसे भी देखा जाता है। तुमने जो तृतीय नेत्र की बात कही वह भी सत्य है। उस प्रकार के नेत्र भी लोगों के हैं। तुम्हारे समीप यह सब अद्भुत होने पर भी वास्तव में ऐसा नहीं है।

देखो, एक बार यह शरीर चार, पाँच महीने केवल तीन चावल के दाने खाकर रहा था। रोज केवल तीन चावल खाकर कोई चार पाँच महीने जीवित नहीं रह सकता। यह वास्तव में असम्भव मालूम होता है। पर इस शरीर का वह भी हो गया और वैसा होना सम्भव है, इसीलिए हुआ। इसका कारण यह है कि जितना हम लोग खाते हैं उतने की हमें जरूरत नहीं होती। जो खाने का सारांश है, देह केवल उसी को ग्रहण करती है बाकी सब शरीर से बाहर निकल जाता है। साधन के फलस्वरूप शरीर की ऐसी अवस्था होती है जब आहार न करके भी शरीर अपने प्रयोजन के अनुसार बाहर की चीजों से सारांश ग्रहण कर सकता है। इस अवस्था में स्थूल भाव से कुछ ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती। आहार के अतिरिक्त शरीर की रक्षा तीन उपायों से हो सकती है। एक उपाय की बात तो अभी अभी तुम लोगों से कही अर्थात् बाहर की भिन्न भिन्न वस्तुओं से शरीरधारण के लिए उपयोगी सारांश देह स्वयं संग्रह कर सकती है और केवल वायुभक्षण करके भी शरीर धारण किया जा सकता है ; कारण तुमसे पहले ही कह चुकी हूँ कि सब चीजों के अन्दर सभी

---

* यह महिला गुजरात में रहती हैं। यह आश्रम के श्रीयुत केशव ब्रह्मचारी की बहिन हैं।

चीजें हैं अतएव वायु के अन्दर भी चीजों का कुछ कुछ गुण है। इसलिए केवल एक चीज अर्थात् वायु ग्रहण करके भी भिन्न भिन्न वस्तुओं का गुण ग्रहण किया जा सकता है और ऐसा भी हो सकता है कि शरीर कुछ भी ग्रहण नहीं कर रहा है पर शरीर की रक्षा हो रही है जैसे समाधि की अवस्था में। इसीलिये देखते हो कि साधन के फलस्वरूप कुछ भी आहार न करके भी शरीर की रक्षा सम्भव है। इसी तरह साधन करते करते ऐसा परिवर्तन हो सकता है जिससे शरीर का कोई भी अंश आँखों का काम कर सकता है।

श्यामाचरण बाबू—सुना है कि महापुरुष लोगों का भोग काट सकते हैं?

माँ—हाँ, भोग कम करना या कर्म शेष कर देना महापुरुष तीन प्रकार से कर सकते हैं—वह स्वयं दूसरे का भोग भोगकर उसे भोग से मुक्त कर सकते हैं; अथवा स्वयं न भोग कर उसे अन्य अनेक लोगों में बाँट दे सकते हैं। इससे भी भोग बहुत कुछ घट जाता है। और ऐसा भी हो सकता है कि कोई महापुरुष कृपाविष्ट होकर दूसरे का समस्त कर्मफल जलाकर छार छार करके उसे एकदम स्वरूप में प्रतिष्ठित कर सकते हैं। अधिकतर ऐसा होता नहीं है। इसलिए कहा जाता है कि भोग करके ही भोग शेष करना पड़ता है।

मैं—माँ, तुमने कहा कि महापुरुष एक का भोग दूसरे के कन्धों पर डाल सकते हैं। यह कैसे हो सकता है—यह तो अविचार मालूम होता है।

माँ—नहीं, अविचार क्यों होगा? जो उस भोग को लेने के इच्छुक हैं केवल उन्हीं की गर्दन पर महापुरुष उसे डाल देते हैं।

श्यामाचरण बाबू—मेरा भोग महापुरुष भोगें यह मैं क्यों चाहूँगा?

माँ—यह तो बहुत अच्छी बात है—भक्त की बात है। भक्त कभी नहीं चाहता कि उसका भोग उसके उपास्य भोगें। वह अपना कर्मफल स्वयं ही भोगना

चाहता है और ऐसा भी होता है कि रोग शोक की यन्त्रणा न सह सकने से उसका एकमात्र लक्ष्य हो जाता है कि कैसे यन्त्रणा कम हो। तभी भोग काटने की बात उठती है।

इस शरीर का तो सब अपने आप ही हो गया है। तभी देखती हूँ कि इस देह ने भी अन्य का भोग गृहण किया है। इच्छा करके गृहण किया है ऐसी बात नहीं है—अपने आप ही हो गया है। एक बार एक रोगी को देखने गई थी--उसे खूब पेचिश थी। देखकर आते ही इस शरीर को खूब पेचिश शुरू हो गई। बार बार पाखाने जाने लगी—अनवरत खूनी पेचिश पड़ने लगी। इस तरह बारह घंटे बीतने पर शरीर स्वस्थ हुआ। कुछ क्षणों के लिए मानो शरीर के ऊपर से आँधी पानी वह कर अन्त में शान्त हो गया। जिसे पेचिश का रोग हुआ था वह मेरी बीमारी के साथ ही साथ स्वस्थ हो गया।

और एक बार इस शरीर ने दूसरे का ज्वर ग्रहण किया था—दो तीन दिन के अन्तर पर इस शरीर को विषम ज्वर होता। यह ज्वर तीन घंटे रहता उस समय शरीर का उत्ताप १०३ या १०४ डिग्री हो जाता। उन दिनों मैं काक्स बाजार में थी। वहाँ दीनबन्धु बाबू ने मुझे इस तरह ज्वर आते देख सोचा कि मुझे निश्चय मलेरिया हुआ है। भोलानाथ भी उसे मलेरिया सोचकर मुझे कुनैन खिलाने की जिद करने लगे। परन्तु मैं कुनैन खाने को किसी तरह राजी न थी।

दीनबन्धु बाबू को यह शरीर "बाबा" कहता और वह भी इस शरीर का लड़की की तरह आदर करते और इस लड़की के अनेकों आग्रहों का पालन करते। ब्राह्मण होते हुए भी उन्होंने गायत्री जप छोड़ दिया था। पर अन्त में मेरे कहने से फिर उसे आरम्भ किया।

जो हो, मुझे बार बार ज्वर आते देखकर वह बिगड़ कर बोले, "ये सब भक्त मिलकर मेरी लड़की को मारने पर तुले हैं। मैं अब कोई बात ही नहीं सुनूँगा।

आज रात को जबरदस्ती इसे कुनैन खिलाऊँगा।" उनकी यह बात सुनकर मैं फिर कुछ नहीं बोली। इधर शाम को यह शरीर शिथिल होकर पड़ रहा। दीनबन्धु बाबा रात को अपने कथनानुसार कुनैन लेकर आए। मुझे इस प्रकार पड़ी देखकर पहले तो उन्होंने मुझे धक्का देना शुरू किया। उनकी धक्का-धुक्की से यद्यपि मैंने आँख खोलकर देखा पर फिर आँखों के पलक गिरे नहीं तब तक दीनबन्धु बाबा ने तरह तरह से मेरी परीक्षा लेना शुरू किया। आँखों पर टौर्च की रोशनी फेंक कर, आँखों में ऊँगली डालकर देखने लगे कि मैं आखें बन्द करती हूँ कि नहीं। जब उन्होंने देखा कि किसी तरह भी मुझे बाह्यज्ञान नहीं होता तो उस रात को मुझे जबरदस्ती कुनैन खिलाने की आशा उन्होंने छोड़ दी। पर भीतर ही भीतर उनका कुनैन खिलाने का भाव रह ही गया। मैं तो जानती थी कि कितने दिन और यह ज्वर रहेगा, इसलिए मैंने उनसे बाद में कहा कि यदि अमुक दिन तक ज्वर न छूटा तो मैं कुनैन खाऊँगी। लेकिन कुनैन और खानी नहीं पड़ी, क्योंकि जिस तारीख की बात मैंने कही थी उसके बाद फिर बुखार नहीं आया।

यह जो मैंने तीन चावल खाने की बात कही वह भोग और त्याग का दृष्टान्त है। तुम त्याग कहने से जो समझते हो, इस शरीर का त्याग उस तरह से तो हुआ नहीं—क्योंकि यह शरीर पिता, माता, पति सबके ही साथ रह चुका है। इस शरीर ने पतिसेवा की है, इसलिए इसे पत्नी कहते हो। खाना बनाकर सबको खिला चुका है, इसलिए इसे खाना बनाने वाली कह सकते हो। बर्तन इत्यादि माँज चुका है, इसलिए इसे नौकरानी कह सकते हो। और अन्य दृष्टि से देखने से इस शरीर ने भगवान की सेवा के अलावा और कुछ भी नहीं किया, क्योंकि पिता, माता, स्वामी, जेठ, जेठ के पुत्र की सेवा जब करती थी तो सोचती थी कि भिन्न भिन्न रूप में एक भगवान की ही सेवा कर रही हूँ। खाना बनाने जब बैठती तब भी आसन लगाकर खाना बनाती थी, क्योंकि यह रसोई भी तो भगवान की सेवा के लिए थी। जब भी जो काम किया सब भगवत्सेवा के उद्देश्य से किया। इसीलिए मैं गृही होकर भी गृही नहीं थी,

क्योंकि लक्ष्य मेरा केवल एक था—भगवत् ज्ञान से सबकी सेवा करना, भगवत् उद्देश्य से सब काम करना।

उस समय मैं मौनी थी। सदा ही भगवत् उद्देश्य से संसार का काम लेकर रहती थी, इसलिए घर का काम समाप्त होने पर भी बहुत समय खाली मिलता था। हमारे निवासस्थान के पास ही ऊषा दीदी का घर था। वह दोपहर को महाभारत पढ़ती थी। एक दिन उसके पास महाभारत सुनने गई। उसने मुझे महाभारत पढ़ने को दिया। मैंने भी हाथ बढ़ाकर पुस्तक ली। पर पढ़ने पर देखा कि पढ़ नहीं सकती, क्योंकि उन दिनों भीतर भीतर फव्वारे की तरह नाम चलता था। वह स्वाभाविक भाव से श्वास प्रश्वास के साथ युक्त हो गया था—मैंने महाभारत पढ़ना शुरू किया तो देखा कि मेरी साँस बन्द हो रही है और मैं हाँपने लगी। इसके अतिरिक्त मेरी पढ़ाई की दौड़ तो तुम जानते ही हो। मुझे एक एक शब्द बनाकर पढ़ना पड़ता है पर इस समय पढ़ने पर देखा कि एक साथ दो शब्दों की धारणा नहीं कर पा रही हूँ। जैसे आमि शब्द उच्चारण करने जा रही हूँ, 'आ' शब्द उच्चारण किया, 'मि' शब्द उच्चारण करने पर देखा कि 'आ' शब्द भूल गई हूँ। इस प्रकार भूल गई हूँ कि उसका अस्तित्व ही मेरे अन्दर बिल्कुल मिट गया है। इस दशा में पढ़ना कैसे चल सकता है। परन्तु चरखा कातने बैठती तो उससे नाम करने में कोई बाधा नहीं होती थी। चरखा चलाना और नाम करना दोनों ही स्वाभाविक रूप से एक साथ चल सकते हैं। मैंने चरखे पर बहुत सूत काता है। बाजितपुर में रहते समय मैंने सूत कात कर अपने हाथ से एक गमछा बुना था और तांतिया के द्वारा अपने काते सूत के दो कपड़े तैयार करवाए थे।

इस समय किसी ने कहा, "माँ, एक बार मैंने देखा था कि तुम गान कर रही हो और तुम्हारे नेत्रों से आँसू बह रहे हैं।

माँ—इस शरीर का तो कुछ भी ठीक नहीं है। स्वभाव से जिस समय जो

हो जाय। यह जो तुमने गाने और आँखों से आँसू बहने की बात कही वह भी साधन की एक अवस्था है। सोच लो कि मैं नाम करने बैठी, उस समय भाव यह है कि भगवान की कृपा से ही मैं उनका नाम कर रही हूँ। नाम करते करते मन में आया कि हाय, मैं इतना पुकारती हूँ पर कहाँ, भगवान तो मुझे मिलते नहीं। इस अभाव बोध से दुःख होता है एवं इस दुःख के साथ ही साथ नेत्रों से अश्रु गिरते हैं। यह सब अज्ञान की अवस्था है न। क्योंकि ज्ञान होने पर साधन भजन नहीं रहता। जिस समय इस शरीर के अन्दर साधन की विविध अवस्थाओं का प्रकाश हो रहा था उस समय कितनी ही तरह का अनुभव होता। अनेक बार स्पष्ट सुनती थी कि कोई कह रहा है, “इस मन्त्र का जप कर,” मन्त्र पाकर अपने से ही जिज्ञासा करती, “यह किसका मन्त्र है ?” उत्तर होता, “गणेश का वा विष्णु का वा ऐसा ही कुछ,। फिर प्रश्न करती, “उनका स्वरूप कैसा है ?” उसी समय रूप प्रगट हो जाता। जब प्रश्न करती, तुरन्त उत्तर मिल जाता और प्रश्न का समाधान हो जाता।

एक दिन स्पष्ट आदेश हुआ, “आज से किसी को भी प्रणाम नहीं कर सकोगी।” मैंने पूछा, “तुम कौन हो ?” उत्तर मिला, “आपकी शक्ति” मैंने समझा कि मेरे अन्दर ही एक पृथक् शक्ति है जो आदेश देती है और मुझे चलाती है। साधना की अवस्था होने से ज्ञान खण्ड खण्ड भाव से आ रहा था। इस शरीर का अखण्ड ज्ञान उस समय खंड हो गया था और एक अज्ञानता का भाव चल रहा था। इसी समय एक बार मौनी हो गई थी और वह भी इसी प्रकार आदेश पाने के कारण। खाना पीना अत्यन्त सामान्य था। उस समय इस शरीर के पिता मुझसे मिलने आए। पिता को प्रणाम नहीं किया गया। इच्छा करके ऐसा किया यह बात नहीं है। इन सब आदेशों के फलस्वरूप यह शरीर इस भाव से चल रहा था कि आदेश के विपरीत कोई भी काम इस शरीर से नहीं होता था। मेरे प्रणाम न करने से इस शरीर के पिता मन ही मन कुछ क्षुब्ध हुए। किन्तु मैं मौनी होने के कारण अपना आचरण उन्हें समझा न सकी। उनके मन में मेरी अवस्था के सम्बन्ध में

सन्देह हुआ। उन्होंने सोचा कि मेरी अवस्था यदि धर्म के अनुकुल है तो पिता-माता के प्रति मेरी अश्रद्धा क्यों ? तो क्या मेरे ऊपर भूत का आवेश ही हुआ है ? इस सन्देह के कारण वह अनेक लोगों से मेरी अवस्था के सम्वन्ध में प्रश्न करने लगे।

इधर शिवरात्रि आ गई। इस शरीर के पिता का सारी रात जागकर शिवपूजा करने का अभ्यास था। चार प्रहर की चार बार पूजा करते एवं एक एक पूजा एक एक जन के उद्देश्य से करते। इस बार भी उन्होंने पूजा आरम्भ की और मैं सारी रात जागकर पूजा का जोगाड़ करने लगी। तीन प्रहर की पूजा तीन बार करके जब वह चतुर्थ प्रहर की पूजा इस शरीर के उद्देश्य से करने लगे तो इस शरीर से मन्त्र, स्तव इत्यादि अपने आप ही उच्चारित होने लगे। वह पूजा करते जाते थे और पूजा के जितने मन्त्र, स्तव आदि हैं वह मैं जोर जोर से बोलती जा रही थी। यह सब सुनकर वे विस्मित हुए और मुख से कुछ न कह कर भी बीच बीच में मेरी ओर देखने लगे।

जो हो, कुछ दिन वाद फिर अपने अन्दर से ही मैंने सुना "तुम किसको प्रणाम करोगी ? सभी तो तुम हो। "इस वात के साथ ही साथ मैंने देखा कि मैं ही सब हूँ। इस समय पूर्व का खण्ड ज्ञान हट कर अखण्ड ज्ञान का उदय हुआ। तब मैंने समझा कि एक ही बहु हो गया है। इतने दिनों तक प्रणाम करने का क्यों निषेध था यह इतने दिनों में समझ पाई।

मैं—इन दोनों अवस्थाओं के वीच में कितने दिनों का अन्तर था ?

माँ—अनेक दिनों का। परन्तु इस बीच में इस शरीर के भीतर सब विभूतियों का प्रकाश हुआ, यह विभूतियों का प्रकाश भी नाना प्रकार से होता। कभी अज्ञान भाव से होता जैसे किसी रोगी को स्पर्श किया और देखा कि वह उसी समय रोगमुक्त हो गया। किन्तु मेरे स्पर्श करने से वह रोगमुक्त होगा, यह ज्ञान पहले नहीं था। कभी

कभी विभूतिप्रकाश ज्ञान और अज्ञान के मिश्रित भाव से हुआ जैसे रोगी को देखकर मन में आया कि मेरे स्पर्श करने से अनेक बार रोग दूर हो गया है, इस वार भी हो सकता है ; यह सब सोचकर जैसे स्पर्श किया तो देखा कि रोग दूर हो गया और कभी कभी ज्ञान के साथ विभूति प्रकाश हुआ अर्थात् मैं निश्चित रूप से जानती थी कि मेरे स्पर्श करते ही रोग दूर हो जायगा और रोग दूर करने के लिए ही स्पर्श किया।

जितेन वाबू—इसके वाद तुम्हारा विभूति कैसे प्रकाशित हुई और अव किस प्रकार होती है ?

माँ—विभूति इस समय स्वभाव में चली गई है।

जितेन वाबू—यह मैं ठीक से समझा नहीं।

माँ—विभूति स्वभाव में चले जाने के माने हैं कि स्वभाव की प्रेरणा से जो होना है वह होता है। यहाँ इच्छा अनिच्छा नाम की कोई चीज नहीं। परन्तु इस शरीर की बचपन से यही अवस्था थी। इस प्रकार की बात अवश्य यह शरीर सदा नहीं कहता। इस समय जैसा होता जा रहा है वही कह रही हूँ। मैं इस समय जो हूँ; बचपन में भी वही थी। बीच में जब इस शरीर के ऊपर से साधन की अवस्थाएँ गुजरीं तव बहुत कुछ अज्ञान का भाव था यह अज्ञान भी कैसा ? जान कर भी न जानने के समान। बचपन की एक वात बताती हूँ। बचपन में जब यह शरीर एक वार विद्याकूट में था, एक स्त्री के गर्भ में एक वालक आया और मेरे विद्याकूट रहते हुए उसके एक लड़का हुआ। मैं पहले से ही जानती थी कि यह लड़का बचेगा नहीं। वह केवल जन्म पूरा करने के लिए आया था। जो हो लड़के की आयु एक साल की हुई। वह देखने में सुन्दर नहीं था, शरीर का रङ्ग खूब काला था, पर उसका शरीर ऐसा कोमल था कि उसको स्पर्श करने के लिए लोग उसे गोदी में ही रखते थे। और लड़के के मुख पर सदा हँसी रहती थी। उसकी उम्र एक वर्ष कुछ महीने होने पर उसकी आयु शेष हुई और वह बहुत बीमार हो गया। उसकी मृत्यु के दिन मैं उसे

देखने गई। जाते समय पेड़ से एक फूल तोड़ कर उसे हाथ में मसलती गई जिस से यह कोई न समझ सके कि मैं हाथ में क्या लाई हूँ। लड़के के पास जाकर उसके बिछौने के नीचे वह फूल रख आई। लोगों ने सोचा कि उसका अन्त समय देखकर मैं शायद कोई निर्माल्य उसके सिर के पास रख आई हूँ। यह जो मैंने किया वह सब कुछ स्वभाव की प्रेरणा से।

साधन की अवस्था में विभूति पहले आनन्द के रूप में प्रकाशित होती है। यह भगवान का नाम लेने का आनन्द है। यह आनन्द प्राप्त करके अनेक लोग समझते हैं कि साधन करके जो प्राप्त होना है, वह पा गये। इस भाव से वह बद्ध हो जाते हैं। किन्तु इस आनन्द में मग्न होकर जो आगे चलते रहते हैं उनमें और भी शक्ति नाना भाव से आती है। इस शक्ति को गुप्त रखना होता है। एक अतृप्त भाव लेकर जो सदा भगवन्मुखी होकर पड़ा रह सकता है—अर्थात् स्पर्शमात्र से रोग दूर करके जिसे आनन्द नहीं, इच्छामात्र से समस्त वासनापूर्ण होते देखकर भी जिसे तृप्ति नहीं—वही एक न एक दिन अपने स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

समय बहुत हो गया देख कर माँ को भोजन के लिए ले जाया गया। हम भी स्नान, आहार के लिए उठ आए।

—क्रमशः

डायरी के कुछ पन्ने

गुरुप्रिया देवी

२६ जून १९५६—

माँ अभी किशनपुर आश्रम में ही हैं। प्रातःकाल माँ सोई हैं। मेरे कमरे में प्रवेश करते ही माँ ने तनिक अस्फुट स्वर में कहा—"मैंने देखा गङ्गा के ऊपर सोहनानन्द बाबा खड़े हैं, हाथ में सूर्यार्घ्य है। बाईं ओर जल की धारा उनके सिर के ऊपर ही गिर रही है। थोड़ी देर बाद भोलानाथ भी आखड़े हुए। यह शरीर भी वहाँ…………" यह कहकर ही चुप हो गईं। फिर कुछ नहीं बोलीं।

७ जुलाई १९५६—

प्रातःकाल किसी बातचीत के सिलसिले में माँ ने सूचित किया कि सूक्ष्म में उन्होंने देखा काशी के शङ्करानन्द स्वामी आकर माँ से कह रहे हैं—"माँ, मैं मकान बदलता हूँ।" यह सुनकर जरा आशङ्का हुई कि कहीं उनके शरीर को कुछ न हो जाय।

शाम को स्व० चौधरी शेरसिंहजी की लड़की दर्शनकुमारी अपने लड़के रवि को लेकर माँ के निकट आईं। लड़का इस बीच लखनऊ में बहुत बीमार था। बीच बीच में समाचार आता था कि उसकी हालत बहुत खराब है।

उसकी माँ आँसू बहाते हुए माँ के निकट सारी घटना आदि से अन्त तक कह गईं। कई दिन पहले जब उसकी हालत बहुत ही खराब थी, ज्वर १०८ डिग्री के ऊपर था, सारा शरीर विषमय हो गया था एवं इसीलिए डाक्टरों ने उसे एकबारगी

बर्फ में डुवा रखा था, उस समय रवि को मालूम हुआ कि मानो उसकी सांस निकल रही है। ठीक उसी समय आनन्दमयी माँ का उसे स्मरण हुआ एवं उस विकार की अवस्था में ही वह माँ माँ कहकर चिल्ला उठा। एकाएक उस अवस्था में रोगी के मन में असीम बल आया कि आनन्दमयी माँ आई हैं—अब कोई भय नहीं है। धीरे धीरे वह स्वस्थ हो गया।

उसके स्वस्थ होने के कुछ दिन पहले ही एक दिन रवि को साथ लेकर उसकी माँ आश्रम में आई थीं। रवि के स्वभाव में कुछ दोष दीख पड़ता था। इसीलिए उन्होंने माँ के निकट बार बार प्रार्थना की थी कि उसके ये सब दोष चले जायं। माँ ने रवि से बार बार कहा था—"इन सब आदतों को छोड़ दो। ये सब मृत्यु की ओर ले जाने वाली हैं।"

अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि इस बार इस सांघातिक बीमारी के समय चिकित्सकों ने कहा कि यदि मद्यपान जीवन भर न छोड़ा गया तो उसके जीवन की रक्षा होना कठिन है। रवि के भाई और माता बार बार माँ की असीम करुणा की बात दुहराते थे। माँ के ख्याल से ही इस बार रवि की जीवन रक्षा हुई है, यही उनका दृढ़ विश्वास था।

१० जुलाई १९५९—

रात्रि में माँ मेरे कमरे में आकर बैठी हैं। पं० सुन्दरलालजी एवं और भी कई लोग बैठे हैं। पण्डितजी ने माँ से पूछा—माँ ने जब भाईजी को काशी की गङ्गा के अन्दर से सूक्ष्म में उबारा तब क्या माँ अपने इसी शरीर को लेकर वहाँ गई थीं? क्योंकि आश्चर्य की बात यह है कि उस समय सब ने माँ के शरीर के सब वस्त्र भींगे देखे थे।

माँ—"पिताजी, सब कुछ हो सकता है। समस्त शरीर ही तो मेरे शरीर हैं। यहीं पर काशी, गङ्गा सब कुछ है। यहाँ रह कर भी सब कुछ हो सकता है। इस

शरीर में भी सब कुछ हो सकता है। कपड़े भीगना यह तो केवल एक निदर्शनमात्र है।"

हालेण्ड से एक प्रसिद्ध आर्टिस्ट महिला आज माँ के समीप आई हैं। फोटो खींचना ही उनका पेशा है। सायंकाल उन्होंने माँ को अपने भांति भाँति के सुन्दर सुन्दर चित्रों का संग्रह दिखाया। माँ के दो तीन चित्र भली भाँति खींचने की उनकी इच्छा है।

११ जुलाई १९५९—

आर्टिस्ट मेम आज लगभग १ घण्टा माँ के कमरे में आकर बैठीं। किन्तु किसी प्रकार भी ठीक फोटो उतार न सकीं। कहीं न कहीं कुछ गड़बड़ी रह ही जाती थी। निराश होकर भद्र महिला ने कहा—बहुत से साधु सन्तों के फोटो भी मैंने उतारे हैं, किन्तु इस तरह और कहीं नहीं हुआ। माँ के लगभग १०/१२ प्रकार के भाव वे देख रही हैं। उनमें से किसको ग्रहण करें यह उनकी विद्या के बाहर की बात है।

किन्तु हम लोगों के लिए यह कोई नई बात नहीं है। हम जानते हैं कि आज तक माँ का चित्र या प्रतिमूर्ति कोई भी हूबहू खींच नहीं सका। लन्दन के ख्यातनामा फोटोग्राफर और चित्रकार रिचार्ड ल्यायन इस देश में आकर माँ के साथ साथ भी कुछ दिन रहे थे। नाना प्रकार से माँ के फोटो लेने का प्रयत्न उन्होंने किया। अवश्य उनके लिये हुए माँ के २, ३ चित्रों ने योरोप में विशेष प्रशंसा उपार्जन की। किन्तु उन्होंने भी आश्चर्यान्वित होकर कहा था कि माँ के मुख की आकृति निरन्तर परिवर्तित होती जा रही है। इसीलिए प्रत्येक फोटो भिन्न भिन्न प्रकार की—किसी में एकदम शिशुका मुख, किसी में फिर वृद्धा, फिर कभी सर्वथा भिन्न रूप। यह सब माँ की ही लीला है। माँ की प्रतिमा बनाने का प्रयत्न भी अद्यावधि अनेक प्रसिद्ध

शिल्पियों ने किया है एवं अब भी कर रहे हैं। किन्तु उनमें कोई पूर्णतः सफलता प्राप्त कर सके हों ऐसा स्मरण नहीं होता।

२४ अगस्त १६५६---

माँ दिल्ली के कालकाजी आश्रम में हैं। आज प्रातःकाल पण्डित नेहरू के सेक्रेटरी श्री उपाध्यायजी माँ के समीप आये थे। वे माँ के बहुत पहले से परिचित हैं एवं समय और सुयोग मिलते ही माँ के दर्शन कर जाते हैं। वे कह गये कि आज शाम को पण्डितजी ने माँ के दर्शनों के लिए आने को कहा है।

आज ही रात्रि की गाड़ी से माँ की विन्ध्याचल जाने की बात है। शाम को साढ़े तीन बजे पण्डितजी उपाध्यायजी को लेकर माँ के समीप आये। मैंने देखा पण्डितजी सरकारी गाड़ी से न आकर निज की छोटी गाड़ी से आये हैं एवं संग में सरकारी अर्दली या गार्ड कोई नहीं है। माँ के दर्शनों के लिए उसी समय आश्रम में टेहरी गढ़वाल के महाराज, मण्डी के राजा साहब, राय बहादुर नारायणदासजी, वर्मा साहब आदि अनेकों उपस्थित थे। उन सब ने पण्जितजी का सादर स्वागत-सत्कार किया। उन्हें सीधे ऊपर माँ के कमरे में ले आया गया। माँ के सामने बैठकर ही उन्होंने थोड़ा सा जलपान भी किया।

माँ के साथ उनकी कुछ दिन पूर्व ही हृषीकेश में भेंट हुई थी। वे समयाभाव वश माँ के निकट अधिक आ नहीं सकते, किन्तु उनकी पुत्री इन्दिरा इधर कई बार माँ के दर्शन कर गई हैं। उनकी स्वर्गीय पत्नी कमला नेहरूजी भी माँ के प्रति विशेषरूप से श्रद्धाभक्ति करती थीं एवं जीवितावस्था में बार बार देहरादून माँ के निकट आती थीं। ये सब बातें मेरी डायरी के पूर्व भाग में कई बार लिखी जा चुकी हैं।

पण्डितजी के सम्बन्ध में कितनी ही बातें विशेषरूप से माँ के खयाल में आई

थीं। वे ही माँ ने दो कागजों में मुझसे पहले ही लिखवा रखी थीं। माँ ने अपने मुँह से उन्हें कहा नहीं। माँ के ही निर्देशानुसार श्रीमान् पानू ने पढ़कर पण्डितजी को सुना दिया। पढ़े जाने के उपरान्त उन्होंने बड़े जतन से वे दोनों कागज अपनी जेब में रख लिये। दोनों लेखों को माँ की विशेष अनुमति के बिना प्रकाशित करना संभव नहीं, कारण उनमें पण्डितजी के व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कुछ निर्देश थे।

दोनों कागजों के पढ़े जाने पर मैं कमरे से बाहर आ गई। केवल माँ और पण्डितजी रहे। एकान्त में माँ के साथ उनकी लगभग २०/२५ मिनट बातें हुईं। तदुपरान्त माँ का स्टेशन जाने का समय हुआ यह देखकर वे उठ पड़े। माँ ने उन्हें एक रुद्राक्ष की माला और एक तुलसी की माला पहना दी। उन्होंने आनन्द के साथ उन्हें ग्रहणकर बाद को दाहिने हाथ में लपेट लिया। माँ को प्रणाम कर नीचे आ उपस्थित भक्तों के बाल-बच्चों को थोड़ी देर प्यार कर रवाना हो गये। मैंने देखा पण्डितजी माँ के निकट जितनी देर बैठे खूब शान्त और धीर स्थिर भाव से बैठे रहे। मालूम होता है माँ का यदि स्टेशन जाने का समय न होता तो और भी अधिक समय तक बैठते। जाते समय कह गये माँ के फिर दिल्ली आने पर उन्हें समाचार दें।

पण्डितजी की गाड़ी के रवाना होने के कुछ मिनटों में ही माँ भी स्टेशन रवाना हो गईं।

मनोवैज्ञानिक परामनोविद्या में क्यों रुचि लें ?

डा० भीखनलाल आत्रेय, एम०ए०, डी-लिट्०, दर्शनाचार्य, पद्मभूषण

(गताङ्क से आगे)

दूरक्रिया (Telekinesis) से तात्पर्य है "किसी माध्यम की उपस्थिति में वस्तुओं का विना स्पर्श किये हिलना-डुलना।" यदि यह सत्य है, और इसके सत्य होने में अब कोई सन्देह बाकी नहीं रहा, तो क्या आधुनिक मनोविज्ञान या शरीर-विज्ञान मानव-स्वभाव के बारे में पहिले से स्वीकृत अपने सिद्धान्तों और नियमों के द्वारा इसकी व्याख्या कर सकता है ? यदि नहीं, तो क्या उन सिद्धान्तों और नियमों पर सन्देह करना तथा उनमें इन नवीन तथ्यों के अनुसार परिवर्तन करना जरूरी नहीं है ? Ectoplasm "एक अर्धभौतिक पदार्थ होता है जो माध्यम के शरीर से निकलता है तथा उपस्थित लोगों के द्वारा देखा और स्पर्श किया जा सकता है।" माध्यम की अधोचेतन इच्छा की शक्ति से यह विविध आकारों और ढांचों का रूप ले सकता है। बैरन वॉन श्रेंक-नौट्ज़िंग (Baren von Sehrenek-Notzing) तथा मैडम जे० जे० बिसेन (Mm. J. J. Bissen) ने इवा सी० (Eva C.) नामक एक माध्यम पर प्रयोग करते हुए सर्वप्रथम ectoplasm को स्पष्ट देखा, छुवा और समझा था तथा फोटो लिया था। डा० गुस्टेव गेली (Dr. Gustave Galey) ने इवा सी० के शरीर से निकलने वाले ectoplasm से निर्मित होने वाले आकारों के बारे में लिखा :—"आदि से अन्त तक ये आकार मेरी आँखों के सामने बनते रहे।" "ये दृश्य अवयव निर्जीव नहीं बल्कि जीवविज्ञान के मापदण्ड के अनुसार सजीव हैं।" इसी प्रकार कैरिंगटन ने भी लिखा है :—"मैंने स्वयं पूर्णतया नियंत्रित परिस्थितियों में आकृतियों को बनते देखा है और एक अस्थायी हाथ को, जिसे मैं अपने हाथ से

पकड़े हुए था, अपने हाथ में समाते देखा है।" जीवविज्ञान, अवयव-रचना-विज्ञान, शरीरविज्ञान और मनोविज्ञान पराभनोविद्या के अन्वेषणों से प्राप्त ectoplasm की तरह के किसी सजीव पदार्थ से अपरिचित हैं और इसलिए इनके मानव-शरीर, उसकी शक्तियों और व्यापारों के बारे में अब तक के सिद्धान्त अपर्याप्त तथा सदोष हैं। मनोवैज्ञानिकों की यह धारणा है कि ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता तथा बाह्य जगत् का जितना भी ज्ञान है वह ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है। अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष, जिसमें दूरदर्शन और दूरश्रवण भी शामिल हैं, इस धारणा के बिल्कुल विपरीत है। किन्तु, जैसा कि राइन ने कहा है, अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष "संवेदना से मूलतः भिन्न है" तथा इससे यह सुझाव मिलता है कि "मन भौतिक पदार्थों के विस्तार और दूरी जैसे सम्बन्धों से मुक्त है।" हमारे पास पृथ्वी पर घटने वाली दूरस्थ घटनाओं के प्रत्यक्ष ज्ञान के ऐसे प्रामाणिक दृष्टान्त मौजूद हैं जिनमें घटना या तो पहिले ही घट चुकी है या भविष्य में घटने वाली है, यद्यपि दिखाई ऐसे देता है कि जैसे हमारे सामने वर्तमान में वह घट रही है। अतः अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष देश और काल के प्रतिबन्धों से मुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार इसमें पूर्वज्ञान का भी समावेश हो जाता है जो "किसी भी प्रकार की भावी घटना की एक अलौकिक सूचना होता है।" मनोविज्ञान को अभी तक इस प्रकार की किसी प्रत्यक्ष-शक्ति का पता नहीं है और यदि देश-काल के बन्धनों से मुक्त अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष सत्य है, जैसा कि परामनोविद्या की खोजों से प्राप्त प्रचुर प्रमाणों से प्रतीत होता है, तो मनोविज्ञान को अपनी कुछ मान्यताओं को छोड़ना होगा और ज्ञान-क्रिया के विषय में एक नई परिकल्पना ढूढ़नी होगी। इतना तो निश्चय है कि ज्ञानेन्द्रियों को प्रत्यक्ष-ज्ञान का एकमात्र उद्गम मानना छोड़ना होगा। प्रो० एच० एच० प्राइस ने लिखा है: "यदि विचार-संक्रमण और दूरदर्शन वास्तव में होते हैं—और मैं इससे इनकार नहीं कर सकता—तो ये अवश्य ही बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव-मन में ऐसी शक्तियां मौजूद हैं जो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष, अन्तर्दर्शन, स्मृति और अनुमान से नितान्त भिन्न हैं। यदि पूर्वज्ञान होता है तो हमें काल और कारण के

अपने सिद्धान्तों को आमूल बदलना होगा।" (Philosophy, Oct. 1940, Questions about Telepathy and Clairvoyance). Psychometry के तथ्य तो ज्ञानविषयक आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के लिए और भी कठिनाई पैदा करते हैं। Psychometry से हमारा तात्पर्य कुछ व्यक्तियों की उस शक्ति से है जिसके कारण वे "किसी वस्तु का स्पर्शमात्र करते उसका अतीत इतिहास बता सकते हैं और साथ ही उसके परिवेश के बारे में भी कई बातें जान सकते हैं।" जैसा कि पहिले ही बताया जा चुका है, प्रो० ड्रीश (Driesch) कहते हैं कि "psychometry प्रत्यक्तः सत्य है।" तथापि ज्ञान और प्रत्यक्ष के ज्ञात नियमों के द्वारा इसकी व्याख्या करने के सभी प्रयत्न अब तक व्यर्थ सिद्ध हुए हैं। महान् जीवशास्त्री ड्रीश के शब्दों में, "हमारी व्याख्याओं को भौतिक परिकल्पना को त्यागकर 'आध्यात्मिक' परिकल्पना की ओर उन्मुख होना चाहिये। हमारे नवीन विज्ञान ने जितनी चीजें पेश की हैं उनमें psychometry शायद सबसे आश्चर्यजनक है। और इसके बारे में इतना मात्र पूर्णतया निश्चित है कि इसकी साधारण भौतिक व्याख्या असम्भव है।" (Psychical Research)। मनोविज्ञान को इस तथ्य से कि हमारे वास्तविक और सम्भावित ज्ञान के क्षेत्र में अद्यावधि ज्ञात वस्तुओं से भी अधिक वस्तुएँ हैं, नम्रता का पाठ सीखना चाहिये।

परामनोविद्या के क्षेत्र में यदि कोई ऐसी चीज है, जिसकी सत्ता किसी भी अन्य चीज से अधिक निश्चित है और परामनोविद्या से कम से कम सम्पर्क रखने वाले भी जिसके बारे में लेशमात्र भी सन्देह नहीं करते, तो वह विचार-संक्रमण है। बहुत पहिले मायर्स (Myers) ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा था कि "यह किसी भी तरह के विचारों का बिना किसी ज्ञात ज्ञानेन्द्रिय के सहारे एक मन से दूसरे मन में पहुँचना है।" अब सभी परामनोविद्याविद् विचार-संक्रमण को एक दृढ़ तथ्य और वास्तविक कारण मानते हैं। विचार-संक्रमण को एक तथ्य और सभी मनुष्यों में रहने वाली एक शक्ति के रूप में स्वीकार करने का आधार वह अकाट्य साक्ष्य है

जिसका परामनोविद्याविदों तथा इसमें रुचि रखने वाले अन्य लोगों द्वारा संग्रह किया गया है। यह दो तरह का होता है: स्वाभाविक (spontaneous) और प्रायोगिक (experimental)। पहिले में ऐसे दृष्टान्त शामिल हैं जिनमें कोई व्यक्ति कभी-कभी एकाएक ऐसे असाधारण विचार, प्रतिमाएँ, इच्छाएँ अथवा संदेश अप्रत्याशित रूप से प्राप्त करता है जिनके बारे में वाद की छानबीन से यह ज्ञात हुआ कि वे किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा जीवन की किसी महान् आपत्ति में अथवा किसी गहरे संवेग के प्रभाव में ज्ञात अथवा अर्धज्ञात अवस्था में भेजे गये थे। स्वाभाविक विचार-संक्रमण के अत्यधिक रोचक दृष्टान्त वे हैं जिनमें उपलब्धिकर्ता (pescipient) किसी ऐसे विभ्रम (hallucination) का अपनी ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव करता है जो प्रेषक (agent) की किसी विपत्ति, जैसे बीमारी, दुर्घटना या मृत्यु से हूबहू सादृश्य रखता है। ऐसे दृष्टान्तों में प्रायः उपलब्धिकर्त्ता के सामने प्रेषक की एक छाया प्रकट होती है जो सीधे या सांकेतिक रूप में कोई सूचना या संदेश देती है। अनेक देशों में मात्र सत्य को जानने के लिए अधीर और वैज्ञानिक विधि में निष्णात कुछ लोगों ने विचार-संक्रमण के ऊपर प्रयोग किये। पूर्णतया नियन्त्रित परिस्थितियों में उपलब्धिकर्ताओं और प्रेषकों के ऊपर हजारों प्रयोग किये गये। उन्हें साधारण जाग्रत् अवस्था में, सम्मोहन की अवस्था में एक ही कमरे में, एक ही मकान के अलग-अलग कमरों में, एक ही शहर के अलग-अलग मकानों में, अलग-अलग देशों में कुछ फुट की दूरी पर तथा हजारों मीलों की दूरी पर रखा गया। जो संदेश भेजे गये और जिनकी प्रायः सही-सही उपलब्धि हुई उनकी संख्या अनगिनत है। संख्याओं, चित्रों, ताश के पत्तों, रेखाकृतियों, वास्तविक या काल्पनिक दृश्यों, घटनाओं, संवेगों, अनुभूतियों, विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं जिनमें पीड़ा की संवेदना भी शामिल है, कार्य करने की प्रवृत्तियों, इच्छाओं इत्यादि का सफलतापूर्वक प्रेषण और उपलब्धि हो चुकी है। इन प्रयोगों में प्राप्त होने वाली सफलताओं की संख्या इतनी बड़ी है कि उन्हें आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। इनसे यह असन्दिग्ध निष्कर्ष निकलता है कि दो मनों के मध्य किसी भी भौतिक साधन के बिना विचारों का आदान-प्रदान हो सकता है।

यदि यह सच है तो आजकल का जड़वादी शारीरिक-मनोविज्ञान (physiological psychalogy) कैसे इसकी व्याख्या करेगा ? स्पष्ट है कि इसके लिए व्याख्या करना किसी भी तरह सम्भव नहीं है। अपनी असमर्थता को देखकर तथा अपनी कमियों के ज्ञान से त्रस्त होकर यह विचार-संक्रमण के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, यद्यपि इसके समर्थकों ने न तो परामनोविद्या का कोई ग्रन्थ पढ़ा है और न कोई प्रयोग ही किये हैं। वैज्ञानिक दुराग्रह का इससे बड़ा दृष्टान्त कहाँ मिलेगा ? दुःख की बात है कि कई मनोवैज्ञानिक यह नहीं जानते कि विचार-संक्रमण को अब सभी परामनोविद्याविद् निर्विवाद एक तथ्य स्वीकार कर चुके हैं और इससे भी जटिल समस्याओं की व्याख्या इसकी सहायता से करने लगे हैं। ये लोग यह भी नहीं जानते कि विचार-संक्रमण की सहायता के बिना माध्यम को प्राप्त होने वाले अनेक संदेश, जिनकी एकमात्र दूसरी व्याख्या आत्मवाद के द्वारा ही हो सकती है, आत्मवाद को न मानने वाले नहीं समझ सकते। केरिङ्गटन के शब्दों में, "यदि हम विचार-संक्रमण को सत्य नहीं मानते तो आत्माओं के हस्तक्षेप के पक्ष में प्रमाण प्रबल हो जायगा।" जब मनोवैज्ञानिक विचार-संक्रमण को तक मानने के लिये तय्यार नहीं है तो वह एकमात्र उस दूसरे विकल्प को कैसे मान सकता है जो उसके सभी सिद्धान्तों और विश्वासों को पलट देगा ? तथापि सच्चे वैज्ञानिक के लिए तो सिद्धान्तों और विश्वासों की अपेक्षा तथ्यों का अधिक मूल्य और सम्मान होना चाहिये।

(क्रमशः)

चलती हुई गीता—श्री श्री माँ

स्वामी नारायणानन्द तीर्थ

विश्वसाहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता का वही स्थान है जो मणियों में कौस्तुभमणि का। यह महाभारत के भीष्मपर्व का एक अंश है। कौरव और पाण्डवों के युद्ध के प्रारम्भ में जब उभयदलों की सेना धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध के लिए उपस्थित हुई उस समय अर्जुन पार्थसारथि भगवान श्रीकृष्ण से बोले, हे सखा! दोनों सेनाओं के बीच में मेरा रथ खड़ा कीजिए। मैं देखूँगा कि इस भीषण प्राणान्तकर महायुद्ध में कौन कौन लोग प्राण देने के लिए कृतसंकल्प हैं। इस महारण में आज कौरवों के प्रधान सेनापति हैं महाबलवान, सत्यप्रतिज्ञ स्वयं भीष्मपितामह। उनकी सब तरह से सहायता और रक्षा करने के हेतु सन्नद्ध हैं आचार्य द्रोण, समरविजयी कृपाचार्य, महाधनुर्धर कर्ण, अश्वत्थामा, विकर्ण, भूरिश्रवा तथा अन्यान्य बहुतेरे रणधीर वीर। रथ में बैठ पीछे की ओर मुँह फेर कर आपने पाण्डवों के पक्ष में प्राण त्यागने के लिए उपस्थित द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, महारथी राजा द्रुपद, विराट, सात्यकि, धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैव्य, महापराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु, द्रौपदी के पाँचों पुत्र तथा अनेक रणचतुर और पराक्रमशाली महामहा योद्धाओं को देखा। इन लोगों में अधिकांश भीम तथा अर्जुन के तुल्य ही महावीर थे। पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में पितामहों, चाचों, आचार्यों, श्वसुरों, मामों, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, विविध मित्रों और सुहृदों को देखा। उन लोगों के साथ युद्ध कर उनके प्राणनाश का हेतु अपने को समझ कर अत्यन्त करुणावश कुन्तीपुत्र पार्थ एकदम शोक से विह्वल हो गये। उनके हाथ से गाण्डीव गिर पड़ा और वे रथ पर बैठ गये। जिन लोगों को लेकर राज्य-सुख-भोग में आनन्द

है वही लोग यदि नहीं रहेंगे तो यह स्वजन-वध-रूप महासमर किसके लिए ? इस संसार में भिक्षा माँग कर भी जीविकानिर्वाह कर लेना श्रेयस्कर है, किन्तु आत्मीय-वध रूप महापाप में लिप्त होना कदापि उचित नहीं। इसी सिद्धान्त का निश्चय कर अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से कहा, हे सखा, इस युद्ध से किसी प्रकार भी हम लोगों का कल्याण नहीं होगा। इसलिए मैं इस लोकक्षयकर महायुद्ध से विरत हुआ। यह कह कर वह विषादग्रस्त होकर, धनुष-बाण परित्याग तथा माथा अवनत कर रथ के पिछले भाग में बैठ गये। उन्होंने मन में निश्चय कर लिया कि युद्ध करके स्वजन-वध कदापि न करूँगा।

दोनों ही तरफ़ युद्ध के बाजे बज उठे। सेनापति, महारथी और महारणवीर वीरगणों ने युद्ध के प्रारम्भ में अपना अपना शंख बजाकर धनुर्बाण हाथ में ले युद्ध के लिए हम प्रस्तुत हैं यह घोषणा की। ऐन युद्धारम्भ के अवसर पर महाधनुर्धर मध्यम पाण्डव अर्जुन की इस प्रकार की कायरता, जो क्षत्रिय के लिए किसी तरह से भी उचित नहीं कही जा सकती, शोभनीय न देखकर अर्जुन को स्ववर्णोचित रण में प्रवृत्त करने के हेतु नाना प्रकार की युक्ति तथा तर्कों के द्वारा समर्थित कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग और अनासक्तियोग के विषय में भगवान श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया। समर के मैदान में युद्ध आरम्भ होने के थोड़ी ही देर पहले श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को जो उपदेश दिया गया वही श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्ध है। अठारह अध्याय सम्पूर्ण गीता श्रीभगवान के मुखारविन्द से सुनकर अर्जुन का विषाद तथा महामोह नष्ट हो गया। तदनन्तर वे बोले—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हो गई है। इसलिए मैं संशयरहित स्थित हूँ और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

वर्तमान युग में श्रीगीता का प्रचार पृथिवी के हर एक देश में, नगर में, गाँव में है तथा प्रत्येक शिक्षित नर-नारी के मुख से गीता की महत्ता सुनाई पड़ती है। आज कोई भी मनुष्य यदि कुछ नई बात कहना चाहता है तो उसके समर्थन के लिए श्रीमद्भगवद्गीता का अमूल्य रत्नस्वरूप श्लोक उसे उधृत करना पड़ता है। गीता के श्लोक द्वारा अगर वह अपने वक्तव्य विषय को प्रमाणित न कर सके तो आज का संसार उसे सुनना नहीं चाहता। इस समय भारतवर्ष में जितने प्रकार के मतवाद हैं उन सम्प्रदायों के आचार्यगण प्रस्थानत्रयी के ऊपर अर्थात् ब्रह्मसूत्र, ईश, केन, कठादि प्रधान दश उपनिषदों तथा गीता के ऊपर अपने अपने भाष्य रच गये हैं। जिस सम्प्रदाय के आचार्य का इनपर (प्रस्थानत्रयी पर) अपना भाष्य नहीं है वह सम्प्रदाय सर्ववादिसम्मत तथा ग्राह्य नहीं है। इसी से भारत के सब मतवादों की सृष्टि हुई है यथा शङ्कराचार्य का अद्वैतवाद, मध्वाचार्य का द्वैतवाद, रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद, वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद, चैतन्यदेव का अचिन्त्य भेदाभेदवाद और भी कितने ही वाद हैं जिनमें कुछ के नाम ज्ञात हैं और कितनों के नाम भी ज्ञात नहीं हैं। एक साधारण कहावत है "जितने मुनि उतने मत"। जिनका मत नहीं वह मुनि ही नहीं। जब तक मन है तब तक मत है। मन के पार जाने से वहाँ मत नहीं है। वहाँ सब एक हैं।

इन सब विभिन्न मतवादियों में से कोई कोई कहते हैं कि ज्ञान तथा कर्म एक ही समय एक ही व्यक्ति द्वारा अनुष्ठित होने से मुक्ति होती है। यह लोग हैं ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी। पक्षान्तर में कोई कोई कहते हैं कि कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि होने पर ज्ञान के द्वारा मुक्ति होती है। यह लोग हैं ज्ञानकर्मक्रमसमुच्चयवादी। इन लोगों के अतिरिक्त किसी किसी का मत है कि ज्ञान और कर्म का प्रयोजन है भक्तिलाभ के लिए। भक्तिरूपी परमधन के प्राप्त होने पर मुक्ति की फिर कोई भी आवश्यकता नहीं है। यही है जीवों का पञ्चम पुरुषार्थ तथा परमपुरुषार्थ। इसके अनन्तर फिर किसी भी वस्तु का प्रयोजन नहीं रहता। जीवों की परमप्राप्ति ही पराभक्ति तथा प्रेम है।

कर्म, ज्ञान, भक्ति तथा योग के विषयों को लेकर ही गीता है। यह गीताशास्त्र सब वेदों का सार-संग्रह-स्वरूप है। गीतामाहात्म्य में कहा है :—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

सब उपनिषद् गौ हैं, इस गौ के दोहनकर्ता गोपालनन्दन स्वयं भगवान श्रीकृष्ण हैं तथा इसके वत्स पार्थ हैं और इसका दुग्धरूप महान् गीतामृत का सारा सुधीवृन्द और सन्तसमाज पान करता है।

गीता का ठीक ठीक अर्थ या उद्देश्य निरूपण करते संसार के बड़े बड़े मननशील दार्शनिक पण्डितों ने अपने अपने विचार तथा बुद्धि के अनुसार भिन्न भिन्न भाष्यों की रचना कर अपना अपना मत प्रतिष्ठित किया है। संस्कृत एक ऐसी उदार भाषा है कि इसको व्याकरण के ढाँचे में ढालकर बहुत प्रकार के अर्थ किये जा सकते हैं। एक अति प्रचलित कहावत है कि श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजी ने भागवत के सुप्रसिद्ध—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥"

श्लोक की चौंसठ तरह की व्याख्या की थी। व्याकरणशास्त्र में जिसका जैसा अधिकार तथा व्युत्पत्ति होती है और जिसकी जैसी प्रखर और तीक्ष्ण बुद्धि होती है वह अपने विचारों के द्वारा एवं भाव की गम्भीरता की सहायता से उसी तरह का अर्थ किया करते हैं। उन सब भाष्यों के ऊपर तरह तरह की टीका, टिप्पणी तथा नित्य नई नई भावधारा को लेकर नाना प्रकार की नव नव चिन्तामन्दाकिनी का आविर्भाव होते देखा जाता है। इसी श्रीकृष्णार्जुनसंवाद नामक श्रीमद्भगवद्गीता का आश्रय कर कितने प्रकार की गीता की सुन्दर सुन्दर बातें हमको सुनने का

सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। उनमें श्रीज्ञानेश्वर महाराज, श्री श्रीधरस्वामी, वर्तमान युग के लोकमान्य श्रीबालगंगाधर तिलक, पण्डित श्रीरामदयाल मजुमदार, योगिवर श्री अरविन्द तथा स्वाधीन भारत के अमूल्यरत्न गांधीजी प्रभृति मनीषियों ने इसी गीता की व्याख्या करते हुए इस पर नया नया आलोकपात कर अपनी अपनी चिन्ता और भावधारा का परिचय जगत् के सम्मुख रखकर परम उपकार किया है। इसी कारण आज विश्ववासी उन लोगों के प्रति वास्तव में ऋणी हैं और वह लोग भी सराहने योग्य हैं।

गीता बहुत प्रकार की हैं—अनुगीता, रामगीता, शान्तिगीता, गुरुगीता इत्यादि इत्यादि। आज "आनन्दवार्ता" के सहृदय पाठक और पाठिकाओं को एक नई "चलती हुई गीता" का नाम सुनाने की धृष्टता कर रहा हूँ। इस गीता के अन्दर किसी प्रकार का वादावाद का झंझट नहीं है, भिन्न भिन्न भाष्यों का झगड़ा नहीं है, टीका नहीं है, टिप्पणी नहीं है तथा कोई मतान्तर भी नहीं है। इसको समझने के लिए अधिक विद्या, बुद्धि अथवा षड्दर्शन के अध्ययन का प्रयोजन नहीं है तथा साधन-चतुष्टय की आवश्यकता नहीं है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधिविशिष्ट अष्टांग योग के अभ्यास की भी इसे अपेक्षा नहीं है। इस गीता की बात तो प्राण की ही बात है और इसको प्राण देकर ही समझा जा सकता है।

इस समय इस जगत में जितनी गीताएँ हैं सभी पुस्तकाकार हैं, परन्तु हम लोगों की यह "चलती हुई गीता" विश्ववासियों के कल्याण के निमित्त मानवाकार में तथा परम स्नेहमयी जननी के रूप में आविर्भूत है। गीताजी के हर एक अध्याय में कर्म की, ज्ञान की, संयम की, संन्यास की, भक्ति की तथा विश्वरूपदर्शनादि भाँति भाँति की बातें हम पाते हैं और इसकी जीवन-लीला के प्रत्येक पन्ने में दृष्टिगोचर होती हैं जीवन्मुक्त स्थितप्रज्ञ की चरम अवस्था, पराभक्ति का परम उत्कर्ष, निष्कामकर्मी की तत्‌बुद्धि से सेवा तथा परम योगी का वह अनासक्ति योग और परमात्मा के साथ

अभिन्न रूप से नित्ययुक्त होकर परम सहज समाधि। मालूम होता है ब्राह्मी स्थिति आपकी सरल और सहज अवस्था है। एकाधार में कर्म, ज्ञान, भक्ति तथा योग का समावेश बहुत ही कम दिखाई देता है। यह एक विशेष रूप से विचारणीय विषय है।

ऊपर कही हुई सभी बातें जीव की एक से एक उच्चतर और उच्चतम अवस्थाएँ हैं, यह अति सत्य बात है। आप वास्तव में जीवपद वाच्य नहीं हैं, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। सूक्ष्म रूप से विचार करने पर आपको साधक कोटि, सिद्ध कोटि अथवा अवतार कोटि, इन किन्हीं कोटियों में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। फिर यह भी देखा जाता है कि आपके पवित्र जीवन में हर तरह के खेल और लीला अपने आप ही सहज रूप में हो गई है। किसी प्रकार की चेष्टा अथवा प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं हुई। आपने साधिका बनकर अतिशय शुचिता तथा निष्ठा के साथ साधन-भजन किया है, योगी बनकर हठयोग, राजयोग, लययोग तथा योगदर्शन के निर्देशानुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि रूप अष्टांग योग का भी अनुष्ठान किया है। सिद्धावस्था में भाँति भाँति की दुरारोग्य बीमारियाँ एकमात्र वाक्य के द्वारा ही ठीक की हैं। सूक्ष्म देह से लोकलोकान्तरों में गमनागमन करना तो आप के लिए साधारण-सी बात है। अवतारों में सर्वश्रेष्ठ पूर्ण-ब्रह्म-नारायण मानकर कितने देव देवी, सिद्ध मुनि और साधु महात्मागण सर्वदा ही आपको घेरे रहते हैं। कभी कभी देखने में आता है कि आप किसी से बात-चीत कर रही हैं तथा विभिन्न विषयों को लेकर आलोचना कर रही हैं। परन्तु उस समय आपके समीप कोई भी मनुष्य दिखाई नहीं देता। अगर आप से पूछा जाय कि आप अकेली कमरे में बैठकर किसके साथ वार्तालाप कर रही थीं? इसके जवाब में "चलती हुई गीता" बतलाती हैं तुम लोग जैसे इस शरीर को (अपने शरीर को लक्ष्य करके) घेरे रहते हो उसी तरह कितने ही देव देवी, ऋषि-मुनि, साधु संन्यासी तथा योगी तपस्वी सूक्ष्म देह में इस शरीर के पास रहते हैं। जब वह कोई प्रश्न पूछते हैं, जैसे तुम लोगों की जिज्ञासा का उत्तर यह शरीर देता है उसी प्रकार उन लोगों के प्रश्न का उत्तर भी यह शरीर देता है।

इस संसार में जितने भी मतवादी हैं उन सबने एक दूसरे के मत का खण्डन कर अपने मत की प्रतिष्ठा की है अथवा करते हैं। परन्तु इस "चलती हुई गीता" को किसी ने भी कभी दूसरे के मत का खंडन-करते नहीं देखा। आप कहती हैं कि जो जो कुछ भी कहता है वह ठीक है। इसका कारण यह है कि जो जिस भूमि में है वहाँ की यही बात है। जिसकी जैसी दृष्टिभङ्गी है वह वैसी ही बात कहता है। उस स्थान से वह ऐसी ही बात कहेगा। इस तरह से कहना ही उसके लिए स्वाभाविक है। तुम भी अगर उसी भूमि में अथवा उसी स्थिति में रहते तो तुम भी उसी तरह की बात कहते। अतएव विरोध कहाँ है ? पूर्ण के भीतर सभी वर्तमान हैं। द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद जो भी तुम कहोगे वह तो पूर्ण में हैं ही उनके अतिरिक्त और भी कितने मतमतान्तर उस पूर्ण में हैं, यह तुम बहुत चिन्तन करने पर भी धारणा में नहीं ला सकते। चार्वाकमत, बौद्धमत, सांख्यमत आदि जिनको तुम लोग नास्तिक मत कहते हो वे क्या उस पूर्ण में नहीं हैं ? उस असीम, अनन्त, विराट् तथा महान परिपूर्ण ब्रह्म में ढूढ़ने पर ऐसी कोई भी वस्तु तुम नहीं पाओगे जो कि उसमें न हो। उसमें सब कुछ पूर्णरूप से सदैव वर्तमान है। उस पूर्ण में हिन्दूमत, मुसलमानमत, ईसाईमत, सिखमत, पारसीमत, जैनमत, बौद्धमत, ब्राह्ममत, आर्यमत, आस्तिकमत, नास्तिकमत और भी कितने मत हैं जो कि मानवसमाज के सीमाबद्ध ज्ञान तथा बुद्धि की पहुँच के परे हैं।

इस प्रकार की जिसकी दृष्टि सीमा का अतिक्रम कर गई है, उसके निकट ये सब क्षुद्र क्षुद्र मतवाद रह ही नहीं सकते। इसी कारण उनके साथ किसी का भी कोई विरोध नहीं है, किसी भी मत से आपका वैमत्य नहीं है। उनके विशाल, उदार तथा स्नेहमय वक्षःस्थल में सभी का अपना अपना निश्चित स्थान है। आपके साथ जब कोई किसी भी विषय को लेकर आलोचना करते हैं तब आप भी उनके साथ इतनी गम्भीरता से उस विषय को लेकर विचार करती हैं कि उसके मन में यह धारणा हो जाती है कि आप शायद उसी मत को सर्वश्रेष्ठ मत जान कर अपनाती हैं। थोड़े ही दिनों की (२९–४–१९६१ की) बात है इलाहाबाद में श्री श्री माता आनन्दमयीजी के

शुभ जन्मोत्सव के समय श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी आपके साथ योग के बारे में बातें कर रहे थे। माँ को उनके साथ इतनी पुखांनुपुंखरूप से (गम्भीरता से) योग के गूढ़तत्त्व और रहस्य के विषय को लेकर विचार करते देखकर श्रीब्रह्मचारीजी बोले, माँ आप तो योगसिद्ध महायोगिनी हैं। परन्तु आप स्वभावसिद्ध महायोगिनी होते हुए भी साधकों को योगमार्ग में क्या क्या विघ्न और बाधाएँ योगसाधना में हो सकती हैं इसका अनुभव नहीं कर सकतीं, क्योंकि आपने तो कभी साधक बन कर योगाभ्यास किया नहीं। इस प्रश्न के उत्तर में माँ ने कहा उनके लिए कुछ भी अज्ञात नहीं है। किसके लिए कहाँ क्या विघ्न और बाधा आती है यह सब जानकर ही वे उन लोगों के साथ बातचीत अथवा आलोचना करती हैं। ये सब योग की क्रियाएँ उनके शरीर में अपने आप ही हो चुकी हैं। उस दिन के वार्तालाप से यही समझ में आया कि जो भी कोई जिस विषय को लेकर माँ से बातचीत करता है उस विषय में श्री श्री माताजी को पूर्ण ज्ञान है। पूर्ण में साधकभाव, सिद्धभाव, देवभाव तथा साधारण मानवभावादि तक सभी समानरूप से विद्यमान रहते हैं। जब जो भी जिस किसी भाव को लेकर माँ के साथ वार्तालाप करते हैं; माँ भी उनके साथ उसी भाव को लेकर बात करती हैं। इसीलिए आप सदा ही कहती हैं "इस शरीर को जिस तरह से बजाओगे वही सुनोगे।" साधारण मनुष्यों के लिए इस पूर्णावस्था की बात समझना बड़ा ही कठिन है। कभी कभी विपरीत भावों को आप में युगपत् अर्थात् एक ही समय में देख कर हम लोगों के मन में इतना संशय हो जाता है कि उसकी कोई सीमा नहीं है। एक ही समय नाना प्रकार के विपरीत भाव तो केवल श्री भगवान में ही सम्भव हैं यथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम तथा विशाल से भी विशालतम (अणोरणीयान् महतो महीयान्), उपविष्ट रहकर भी दूर गमन करते हैं और शयान होते हुए भी सर्वत्र विचरण करते हैं (आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।) जिस तरह भगवान् श्रीकृष्ण की बात से अर्जुन के मन में सन्देह होने से उन्होंने कहा था—

"व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥"

हे जनार्दन, आप मिले जुले हुए से वचनों से मेरी बुद्धि को मोहित सी करते हैं। इसलिए उस एक बात को निश्चय कर कहिये, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ।

कभी कभी दिखाई देता है कि आप साधारण मनुष्यों के साथ अतिशय मामूली मानवों के सदृश व्यवहार करती हैं फिर क्षण भर में देखा जाता है कि आप अपने आत्मभाव में एकदम स्वरूप में स्थित हैं। कभी देखने में आता है कि आप किसी को अपना चरण स्पर्श तक नहीं करने देतीं; साथ ही साथ यह भी दृष्टिगोचर होता है कि कोई घण्टों तक—

"एतत् सचन्दनं तुलसीपत्रं ॐ नमस्ते बहुरूपाय विष्णवे परमात्मने स्वाहा।"

मन्त्रों से आपके चरणकमलों में चन्दन से लिप्त हुआ तुलसीदल समर्पण करते हैं। इसमें आपको कोई भी द्विधा नहीं है, संकोच नहीं है तथा आपके भाव में किसी भी प्रकार का परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता। आप उसी पूर्ण-ब्रह्म-नारायणरूप में विराजमान रहती हैं।

आप संसार के सभी प्रकार के कर्म करती हैं, परन्तु आप कहती हैं कि मैं कुछ भी नहीं करती, कहीं भी नहीं जाती, किसी का कुछ भी नहीं खाती, किसी के साथ बात नहीं करती इत्यादि इत्यादि। अगर शरीर की दृष्टि से देखा जाय तो आप ये सभी कर्म करती हैं, परन्तु आत्मिक दृष्टिकोण से विचार करने से जो सर्वव्यापी हैं उनके लिए कहीं जाने आने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। जो सदा सब स्थानों में समानरूप में वर्तमान हैं वह भला जावेंगी कहाँ? जो अभिन्न रूप में सदा स्थित हैं उनके लिए भिन्न व्यक्ति कहाँ है जिसके साथ वार्तालाप करेंगी। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से बातचीत करता है, जहाँ 'दूसरा' नाम की कोई वस्तु ही नहीं है वहाँ किसके साथ बात करेंगी? आप ही केवलमात्र हैं—और कोई भी नहीं है, कुछ भी नहीं है। एकमेवाद्वितीयम्। गीता में भी यही बात कही है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

हे अर्जुन! अनादि होने से और गुणातीत होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित हुआ भी वास्तव में न कुछ करता है और न लिप्त होता है। यह "चलती हुई गीता" के अनासक्ति योग का मूर्तिमान् सचल विग्रह है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को लक्ष्य करके विश्व के सब देशों के, सब कालों के सब नरनारियों को जो जो उपदेश प्रदान किये हैं वे सभी उपदेश मूर्ति ग्रहणकर इस "चलती हुई गीता" के भीतर विराजमान हैं। सब भावों तथा कर्मों का समन्वय इसमें पाया जाता है।

एक अति प्रचलित और प्रसिद्ध किंवदन्ती है कि स्वयं धर्म का आचरण करके दूसरे को शिक्षा दी जाती है। अंग्रेजी भाषा में यही बात दूसरे ढंग से कही गई है, Example is better than precept. अर्थात् उपदेश देने से उसको करके दिखाना अच्छा है। श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजी केवल मुख से ही उपदेश नहीं देते थे, परन्तु जो जो शिक्षाएँ देते थे उनको आचरण में लाकर जीवों को दिखाते थे। यह बात जो अति सत्य है, इसे अक्षरशः हम पाते हैं इस "चलती हुई गीता" के दैनिक कार्य-क्रम में। आप जागतिक सभी प्रकार के कार्य करती हैं तथापि आप कुछ भी नहीं करतीं। इसी तरह के अनासक्तिभाव से तथा निर्लिप्तरूप से आपकी जीवन-यात्रा का निर्वाह हो रहा है। जल के अन्दर रहकर भी जैसे पद्मपत्र में जल नहीं लगता ठीक उसी तरह इस जनकोलाहलमय संसार में रह कर भी आप असंग हैं। किसी तरह का जागतिक या सांसारिक भाव आप को स्पर्श तक नहीं कर सकता। इस मायामरीचिकामय मायिक जगत के सुख-दुःख, अच्छा-बुरा, मान अपमान, लाभ अलाभ तथा शत्रु मित्र में आपका समभाव है। किसी प्रकार से भी आप विचलित नहीं होती हैं। कितनी भयानक विपद्-आपद, आधि-व्याधि, दुख-दैन्य क्यों न आवें, सभी अवस्थाओं में आप अचल अटल हिमालय पर्वत के सदृश स्थिर और गंभीर हैं। अपने उसी स्थान में आप नित्य विराजित हैं। आप अपनी स्थिति में नित्य विराजमान रहकर भी जगत के सारे कार्यों में, सब भावों में, सब के

साथ, सदा यथायोग्य व्यवहार करती हैं। यही आप की खूबी है। जब जो भी काम आप करती हैं उसे यथार्थ रूप में करती हैं, उसमें बिन्दुमात्र भी त्रुटि देखने में नहीं आती। आपके द्वारा सब कुछ पूर्णभाव में तथा पूर्णरूप में सम्पादित हो रहा है। पूर्ण का सब ही पूर्ण है।

इस "चलती हुई गीता" के नाम का छोटा सा इतिहास यहाँ लिखकर इस लेख को यहीं समाप्त करने का विचार है। गत १९४४ ईसवी के जाड़े के प्रारम्भ में जब श्री श्री माता आनन्दमयीजी विन्ध्याचल के पहाड़ पर अपने आश्रम में विराज रही थीं। उस समय इलाहाबाद के राय बहादुर श्री देवनारायण मुखोपाध्याय महाशय अपनी सहधर्मिणी श्रीमती यमुनादेवी को लेकर कुछ दिन मातृ-संग करने की अभिलाषा से वहाँ गये थे। कुछ दिन माँ के साथ निवास करने के उपरान्त आप दोनों ने माँ से निवेदन किया कि शीघ्र ही उन दोनों को इलाहाबाद लौट जाना पड़ेगा। क्योंकि उसी समय उन लोगों के गुरुदेव तथा श्री श्री सत्यगोपाल गीताश्रम के आचार्य श्रीगोपालचन्द्र चट्टोपाध्याय महोदय गीताजयन्ती उत्सव का अनुष्ठान करते हैं। उस समय उन दोनों का उसमें सम्मिलित होना आवश्यक है। श्री श्री माँ उन लोगों की बात सुनकर बोली, "पिताजी को लिख दो इस बार पिताजी यहीं आकर गीताजयन्ती का उत्सव मनावें।" माताजी के इस प्रस्तावानुसार देवनारायण बाबू और उनकी पत्नी यमुनादेवी ने अपने श्रीगुरुदेव को यह सन्देश यथासमय सूचित कर दिया।

श्रीगोपाल ठाकुरजी श्री श्री माताजी के मधुमय आह्वान को प्राप्त होकर परम आनन्द के साथ स्त्री, पुत्र, कन्या तथा शिष्यगणों को सङ्ग लेकर विन्ध्याचल आ पहुँचे। वहाँ माँ के सान्निध्य में पाँच दिनों तक यह गीताजयन्ती उत्सव समारोह के साथ मनाया गया। इस अनुष्ठान के प्रथम चार दिनों तक प्रातःकाल पूजा तथा गीता

का मूल पाठ होता था एवं सायंकाल श्रीगोपाल ठाकुरजी अति सुमधुर और ओजस्विनी भाषा में सुन्दर भाव के साथ गीता की व्याख्या करते थे। पञ्चम दिन अर्थात् शेष दिन "ओगो आमार प्राणेर ठाकुर, आज तोमा के आसते हवे वासते हवे भाल" इस सङ्गीत से श्री श्री गोविन्दजी का आवाहन कर एक अभिनव भाव से "प्रियाय प्रियतमाय प्राणगोविन्दाय स्वाहा" मंत्र से पार्थसारथि श्री श्रीगोविन्दजी की महापूजा की। इस भाँति के भावुक भाव की प्राणवन्त पूजा इसके पूर्व हम लोगों को देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। इन लोगों की पूजा की विशेष बात है सत्य तथा प्राणप्रतिष्ठा। पूजनीय देवता को सचमुच उपस्थित और प्राणवन्त सजीव मानकर प्रेम के साथ यावतीय पूजा के उपकरणादि देवता को अर्पण करना ही पूजा है। तन्त्रशास्त्र में कहा गया है "साधकस्य च विश्वासात् देवतासन्निधिर्भवेत्" अर्थात् साधक के विश्वास के बल से भी देवता का साक्षात् आविर्भाव हुआ करता है। साधक को सर्वदा ही इस तरह का मन में विश्वास रखना पड़ता है कि शास्त्र सत्य है, गुरुवाक्य सत्य है, मन्त्र सत्य है तथा देवता सत्य है।

वङ्गाल के हावड़ा जिले के सुप्रसिद्ध साधक श्रीविजयचन्द्र चट्टोपाध्याय महोदय तथा साधनसमरसंप्रदाय के प्रतिष्ठाता श्रीसत्यदेव ठाकुरजी की पूजा की प्रणाली भी इसी प्रकार की थी। श्री गोपाल ठाकुरजी भी इसी सम्प्रदाय के साधक थे। आप श्री सत्यदेवजी के शिष्य तथा श्रीविजयचन्द्रजी के प्रशिष्य थे।

श्रीगोविन्दजी को प्राण से भी अति प्रियतम माता, पिता, बन्धु, सखा, सुहृद तथा स्वामी मानकर और अतिशय स्वजन समझकर पत्रं पुष्पं फलं तोयं ही केवल नहीं बल्कि शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को तथा अपनी आत्मा को भी उस परमात्मा श्रीगोविन्दजी के चरणकमलों में अर्पण करना ही यथार्थ पूजा है। जिस तरह से भगवान श्रीकृष्णचन्द्र महाराज गीता के अन्त में अर्जुन से बोले थे, "तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत"। हे भारत, तुम

काय, मन तथा वाणी से उसी की शरण ग्रहण करो। यही तो सब साधनाओं की परम और चरम सिद्धि है।

श्रीगोपाल ठाकुरजी का भाव था जिनके लिये तुम्हारा मन और प्राण अतिशय व्याकुल है वही तुम्हारे प्राणप्रिय श्रीभगवान हैं। तुम मन्दिर में वृथा ही उनकी तलाश करते हो। उनको अपने प्राण के अन्दर ढूँढ़ो। तुम्हारी इष्ट देवता तुम्हारे ही भीतर विराजमान हैं और तुम्हीको सुबह और शाम खोज रहे हैं। तुम अपने अहंकार से उनको, अपने प्राणप्रिय को नहीं पहचानते हो वृथा बार बार उनका अपमान कर रहे हो। श्रीगीताजयन्ती के प्राणाधार श्री श्रीगोविन्द महापूजा के प्रारम्भ में ही श्रीगोपाल ठाकुरजी ने राशि राशि फूल अपने भक्तिचन्दन से सुबासित कर परम श्रद्धा तथा प्रीति के साथ जिनके चरणकमलों में अर्पित किये थे उन्हीं को कहते थे श्री श्री माँ आनन्दमयी केवल स्नेहमयी, कृपामयी प्रेममयी माँ ही नहीं हैं, मेरी प्यारी श्री श्री माँ तो "चलती हुई गीता" हैं।

The ONE who is the Eternal, the Atman,
He Himself is the traveller on the path of Immortality.
He is all in all, He alone is.

MATRI VANI

Even on this thorny path the Guru is constantly holding your hand and leading you towards the One. Remember, this is the actual truth !

Occasionally to mistake marsh-gas for real light is but natural. Albeit, it is He alone who manifests in all forms. The path that brings full and unobstructed Enlightenment must be pursued with the utmost concentration, at every moment, and to the limit of one's capacity. Where He manifests as the pilgrimage undertaken for the sake of Supreme Union, there is hope of its being crowned with success.

* * *

Who belongs to whom in this world ? By exhausting one's particular *karma*, everyone must endeavour to bring to completion his life's pilgrimage. What you are experiencing, is the usual state of affairs on the journey through life; therefore do not allow yourself to be so very agitated! If, due to attachment to those with whom one has been united in this world of coming and going, one is utterly immersed in the sorrow of bereavement—how can the pilgrimage along one's own Path become fruitful? With unbounded vigour and energy one must forge ahead towards the revelation of one's true Self. Travellers on the Supreme Path must strive to complete their journey; Self-realization is its purpose and goal.

* * *

It is only natural that ever more bliss should be experienced while practising yoga. So long as the ONE has not been revealed, distractions will come. But the Guru alone can point out whether one is proceeding in exactly the right manner or not. Transformation means that worldly interests have lost their hold. To the extent to which one becomes indifferent to worldly pursuits will one progress towards real bliss.

* * *

In every home God is present in an infinite variety of guises. For the very reason that one has entered life, one has to quit it again—be it sooner or later. While living as a householder, this terrible, smarting pain is unavoidable; it is similar in every family. Does any balm exist to soothe this burning agony, save to take refuge in Him, from Whom all beings emanate, by whom they are succoured, and in Whom they ultimately are absorbed.

* * *

Worldly life is indeed a battle-field. By becoming conscious of one's spiritual wealth one must strive to emerge victorious from the battle.

"A person who knows that he is ignorant must be credited with having most certainly attained to some measure of knowledge."

"Ma"

Essential Unity of All Religions

(Dr. M. Hafiz Syed, M.A., Ph.D., D. Litt.)

The word 'religion' by latin derivation means something that binds. Religion is essentially that something which binds together the hearts of all men, without distinction of race, creed, caste, colour or sex; binds them all to each other with the golden thread of universal brotherhood; binds them to the heart of that universal God, who is the very principle of Life, of Consciousness, of Being, in everything. It is that which binds the hearts of men to all ideals.

It is the conscious or unconscious recognition of the fact that the spirit of man extends beyond the present moment, extends from the past through the present into the future.

Wherever there is common feeling, wherever there is *esprit de corps*, however narrow, there we have the very spirit of religion, though restricted; there we have, although limited, the manifestation of the Unity of the Self, the Supreme Spirit, which alone binds together many selves into one organic whole.

Sympathy, fellow-feeling, love, the sensing of the common Self of all in all, is the one bond that holds together individuals, families, tribes, nations, races.

Just as hate is the one sharp edged instrument that sunders and scatters them apart. This love for all living things is the very essence of religion. Such universal love is the first and last manifestation of God, who is the universal, immortal Self. It is this which triumphs eternally over death, hate and evil. All association, all co-operation of any kind, is the product of this fellow-feeling.

It is possible to see and feel the Self in all men, whatsoever their creed or colour. If a common country, a common language, a common spirit, a common colour of skin make such strong bonds, how much stronger should be the bond of the common Life in all men ! When the Universal Spirit of all men is recognized and realized by all men, then shall we have reached the stage of humanism, the federation of all the nations. That is the ultimate stage of religion.

Every religion tells its followers (a) what to think or believe, (b) what to desire or feel, (c) and what to do.

Under the sub-division of knowledge every religion teaches the existence of One Supreme Spirit. The nature of this Universal Spirit hidden in the heart of every living being is described in almost the same terms in the teachings of every religion, the Vedanta of Hinduism, the *Rahasya* teachings of the Buddha and Jina to their Arhat disciples, the Gnosis of the Christians, the *Tasawuf* of Islam.

Another belief common to all religions is the belief in worlds beyond this one.

Yet another common belief is the existence of various grades of spiritual beings, dwelling in and governing the different worlds. Finally all religions teach, more or less clearly, that the human soul, being a portion of the Divine Being, has emanated from it and will go back to it some day, after passing through various experiences of good and evil, virtues and joys, sins and sufferings, in various worlds.

It may be borne in mind that without true religious feeling, without spiritual earnestness and purity of character, without benevolence and philanthropy, no nation can attain to real civilization.

Hatred ceases never by hatred, between men as between nations, but it ceases wholly and only by love. Righteousness must prevail in the end in the relationship between men and between nations. Blessed are the peace makers, who studiously promote peace and love amongst all, within their own homes as well as within and between all other homes. Whatever induces moral and friendly relations between single individuals or between nations is of the very essence of universal religion. It enables men to realize in life the common Self of all.

We may thus see that the Hindu Vedanta, the Christian Gnosis, and the Muslim *Tasawuf*,—which teach that the spirit in all is one and the same, and that therefore men should and ultimately must love each other—are not the vain visions of idle dreamers, but the most practical of all practical politics. The answer of all religions to the question "what to feel ?" is : "Feel love for each and every living creature". The second part of the book of every religion is called ethics. The third part is the answer to the question 'what to do'. It may be named the manual of special rites, ceremonies and sacraments, of special directions for conduct in life, both individual and collective.

Each religion has a set of sacraments—some fewer, some more numerous—which may be divided into (1) ante natal, (2) post-natal and (3) post-mortem, connected with the three main events of life, viz. birth, marriage and death. The purpose of all these is to purify and consecrate the grosser and subtler bodies, inhabited by the soul, in such a manner as to make its life here and hereafter more elevated, richer and nobler, and enable it to attain to ever greater and greater perfection and communion with God and men.

In modern times people are unfairly indifferent towards the religion in which they were born, failing to study it seriously and to act up to its ideals. The spirit of true religion is lacking everywhere. That is the real cause for the degeneration of mankind. Leaving religion aside for the time being, we must say we are not sufficiently rational in our outlook on life. If we had looked at the passing events of our own life, and at the nations around us in the light of reason and past experiences, we should have moulded our life and attitude to other nations more justly and generously than we had done uptil now. We have to outgrow our animal tendencies and become convinced that we are more spiritual than material.

That alone would guarantee our friendly and harmonious relation with one another.

True spirit of science leads us to the same goal of mutual goodwill, co-operation and friendliness. It has been acknowledged from all quarters that matter is a unity. In spite of its multifarious forms it is truly one ; so we must work for others with as much interest as we work for ourselves. This is the way to peace and harmony.

"Let 'I cannot' be eradicated from your vocabulary. Time is gliding by swiftly : for a few days only lasts this reunion with friends and kinsmen. Gather up your possessions, brother, no one accompanies you on your final journey."

"Ma"

Raja Yoga or the Path of Mind Control

SWAMI SIVANANDA, RISHIKESH

Raja Yoga means' King of Yogas'. It aims at controlling all thought-waves or mental modifications. *Raja Yoga* is suitable for men of mystic temperament with a leaning towards the occult. A serious practice of *Raja Yoga* can be thought of only after you have purified your mind and have gained some control over your senses and appetites.

The eight limbs of *Raja Yoga* are *Yama* (self-restraint), *Niyama* (religious observances), *Āsana* (posture , *Prānāyama* (restraint of breath), *Pratyāhāra* (abstraction of the senses), *Dhāraṇā* (concentration), *Dhyāna* (meditation) and *Samādhi* (super-conscious state).

Yama and Niyama.

Yama is the practice of non-injury, truthfulness, non-stealing, celibacy and non-covetousness in thought, word and deed. This is the foundation of Yoga.

Niyama is the observance of the five canons—internal and external purity, contentment, austerity, study of religious books, and worship and surrender to the Lord.

Impure motives, lack of celibacy, over-eating, indolence, over-sleeping, false fears, building castles in the air, allurement of minor supernormal powers like clairaudience and clairvoyance are all obstacles on this path.

Asana and Praṇayama.

Any comfortable and steady pose is Āsana. A steady pose gives concentration of mind. If you have mastery over the *asana*, then heat and cold and all other pairs of opposites will not disturb you. You must be able to sit in one position for three hours at a stretch. The pose becomes steady by thinking of the Infinite.

There are some *asanas.* such as Śirshāsana and, Sarvangāsana, that are very useful for the preservation of good health and Brahmacharya (celibacy).

Praṇa is energy, it is life-breath, it is the life-principle. When *praṇa* vibrates, the mind begins to think. *Prāṇa* is expended in thinking, willing, acting, talking, etc. The excess of *Praṇa* is stored up in the brain and nerve centres.

If you can control *praṇa*, you can control all the forces in the universe.

Praṇa manifests as motion, gravitation, magnetism, electricity. The knowledge and control of *praṇa* is what is really meant by *praṇayama*. *Praṇayama* removes diseases of the body, steadies the mind and purifies it. It strengthens the intellect and augments intellectual capacity. It increases the power of memory. When you practise *Prāṇāyāma*, you will have to be careful about your diet: you should avoid over-loading the stomach and should take light, easily digestible and nutritious food. You should be moderate in copulation.

Pratyāhāra and Dhāraṇā.

Pratyāhāra is abstraction or withdrawal of the senses from their objects. *Pratyāhāra* checks the outgoing tendency of the senses. The practice demands considerable patience and perseverance. It gives tremendous power. During the course of the practice you will have to withdraw the mind again and again from the sense-objects and fix it on the object of contemplation. The Yogi who is well established in *Pratyāhāra* can meditate quite calmly even in the battlefield while countless machine-guns roar in a continuous stream.

Dhāraṇā or concentration is centering the mind on one single thought. During concentration the mind becomes calm, serene and steady. The various rays of the mind are collected and focussed on the object of meditation. There will be no tossing of the mind. When there is deep concentration, you will experience great joy and spiritual intoxication. You will forget the body and your surroundings.

Concentration increases by curtailing wants and desires, by observing silence for one or two hours daily, by practising *Prāṇāyāma*, by prayer and by increasing the number of daily sittings in meditation. You must always try to be cheerful and peaceful.

Dhyana and Samadhi.

Meditation (*Dhyana*) follows concentration. The mind dwells on God alone during meditation. Deep meditation cannot come in a day, a week or a month. You will have to struggle hard for a long time. Gradually you will enter into deep meditation and *Samadhi.* You will have to pass through the six stages of meditation and finally you will enter into perfect *Nirvikalpa Samadhi*, a superconscious state. The perception of form will totally vanish. The meditator and the meditated will become one. You will attain the highest knowledge and supreme, eternal peace. This is the goal of life. This is the aim of existence. This is the final beatitude of life. You will be absolutely free from pain, sorrow, fear, doubt and delusion. You will experience: "I am the Immortal Self. All indeed is God. There is nothing but God." You will feel that the whole world is nothing but Pure Consciousness. Tables, chairs, men, women—in fact all things will appear to contain this consciousness just as vessels contain their contents. You will feel that the Lord is sporting in all things as this Pure Consciousness. You will actually lose the sense of perceiving the material nature of things around you. This rare experience will give you great bliss.

May you all attain success in Yoga and enter into *Nirvikalpa Samadhi* or the Blissful Union with the Lord by controlling the mind and the senses and practising regular and constant meditation.

Prajna—The Light of Intuition

PROFESSOR MADAN GOPAL, M. A. (ALLD.), B. LITT. (OXON), C. P. E. S. (RETD.)

(Continued from the last issue.)

Prajñā is a feeling for Truth, which arises in us from within, giving us a sense of the truth-value of any statement or thought that we consider. It is known that sometimes people have a faculty for judging character correctly, so that when they meet a person, they perceive immediately whether he has certain qualities or not. But if you ask them how they arrive as this judgement, they are unable to explain it clearly. They feel it as a sort of inner perception, and when that feeling is present they know that they have reached the truth. A story might illustrate this. It was related to me by a friend in whose veracity I have complete belief. A South Indian lady, who was a doctor by profession, came to Mount Abu for a holiday and there met a *sādhu* to whom she became devoted. She used to visit him daily. One day, to her horror, she read in a newspaper that a certain young man, a student in a Madras College, had been drowned whilst bathing in the sea. His name was that of her brother and every particular agreed with him ; so she naturally thought that her brother had been drowned. She decided to return to Madras at once, but before starting went to say good-bye to the *sādhu*. He received the news with complete calmness, smiled and said that there must be some mistake and that he felt sure that her brother had not been drowned. He advised her to ascertain the truth by telegram. The reply confirmed that her brother was quite safe. She was astounded and went to the *sadhu*, wondering how he could have known the actual facts at such a distance. The *sadhu* simply answered : "I felt that the statement was not true".

Such instances could be multiplied. It is a well-known fact that spiritually advanced people develop a kind of inner sense, which immediately tells them whether a thing is true or not, even though they can give no detailed reason for it. This quality or power, which is at the basis of all genuine and lasting spiritual experience, deserves to be carefully investigated.

Modern psychology has come to know something of this power, but is puzzled as to its real nature. This faculty of rapid judgement baffles any scientific analysis, and cannot easily be connected with either the intellectual or the physiological make-up of those who possess it. Sometimes intuition of a high character may be exhibited by a person with comparatively poor intellectual equipment ; and sometimes it may be seen to be accompanied by morbid symptoms or an unbalanced material life. But this is not always so and intuition is seen at its best when both intellectual and moral qualities are well developed. Here in the East this power is well known to the yogis, and is cultivated by appropriate physical and psychical exercises. Briefly, since the central manifestation of *prajña* is through the "heart-mind" or the mind purified by appropriate emotion, the foundation of this function is a truly ethical life. It is the harmony of all life, the inter-relatedness of all things, which is reflected in *ethical* conduct that after all means only putting oneself in harmony with the universe and all its forces. This ethical view of things (also called *dharma*) is essential to the idea of *prajñā*, and *prajñā* cannot be cultivated without ethical purity, nor ethical purity (*dharma*) practised without the rousing of *prajñā*. It is notorious in Western philosophy that no sure foundation for ethical conduct can be found by a consideration of intellectual principles alone. Further it is well known that the practice of ethical life is so difficult, not only on account of our desires and selfish prepossessions, but also on account of *ignorance*. Many times, with the best intentions, we find ourselves puzzled by the conflicting claims of duties, because we do not know what exactly is the right course in a particular situation, nor can we attribute any mathematical values to the different considerations that arise. I was once told the story of a saint who consented to tell a lie in order to save the lives of some cows; when asked for an explanation, he said, he considered saving the lives of the cows as more important than his personal purity. In such cases it is the *prajñā* that acts and points out the way that is best at the time and for the individual concerned. Hence *prajñā* and *dharma* are very deeply interrelated. The one (*prajñā*) is the reflection in individual life of the action of the other (dharma) as a cosmic principle.

Buddha, one of the wisest teachers of humanity, emphasized only two things, i.e. right conduct and well directed meditation, refusing to enter into metaphysical questions.

His wisdom was founded upon the perception that these two principles, practised together strenuously, would infallibly lead to the unfoldment of *prajñā*; and that would light up the path for each individual aspirant according to his own needs. It is well known to all of us that there are so many paths and so many methods, all efficacious in their own way, between which the early aspirant finds himself puzzled. Really, most traditions have a basis of experienced wisdom and could under proper circumstances lead to Enlightenment. But it is difficult to decide as to when, how and by whom a particular discipline should be pursued. If a proper Guru is available, he can guide the aspirant, but even so the aspirant must have some inner light in order to choose the right Guru. Thus from the beginning spiritual progress rests upon this invaluable faculty in our psyche, namely intuition or *prajñā*.

It may also be pointed out that *prajñā* is represented as a *feminine* principle, i. e. according to Hindu psychology *prajñā* leans for support upon some other principle. If *prajñā* leans on the intellectual principle which is masculine in a sense, then it leads to the birth of genius, intellectual brilliance, scientific ability etc., or united with emotional elements produces the artist or the musician. Whenever we see any extraordinary powers manifested by a human individual, we can be sure that *prajna* is acting in him in some part of the psyche. We may say that it is a faculty which has just begun to dawn in humanity, but is seldom seen fully developed. Its action can be many-sided and produce various forms of what may be called genius, and sometimes it may be difficult to see its connexion with the ethical principle. For instance, great poets and musicians may seem to us to be lacking in common morality. This is what has led to the mistakes which beset European thought on the subject, connecting genius with disease and insanity. The mistake is really due to the fact that in the European tradition, men of genius tend to over-exploit their gifts, and so become unbalanced and morbid. Their *prajñā* has been aroused in a peripheral rather than central section, and consequetly does not show its connexion with the ethical principle or *dharma*. Here the wisdom of the East is more discerning, for it sees in all manifestations of genius the signs of a previous *tapasyā*; i.e. its connexion with the ethical principle is clearly perceived.

If on the other hand, the principle of *prajñā* is aroused in its central section, and supported by ethical conduct and self control, it leans over to the next higher principle which in our text has been called ***Mahat*** or the Great. This is the beginning of higher yoga and is accompanied by the development of spiritual powers. In the Eastern tradition little attention has been paid to the cultivation of genius or artistic gifts, but much to the problem of producing the saint or the *yogi*. Hence the psychology of *prajñā* has been investigated from this point of view, and much attention paid to its ethical and moral concomitance.

I have thought of *prajñā* as a sort of torch, very useful on a dark night, but showing only a limited section of the landscape. With its help, if one uses it wisely, one can go safely from one point to another, but it cannot illumine the whole scene. Therefore we find that men with only a limited opening of the *prajña* contradict one another, for each is in truth following his own path, as dictated by his previous experiences and *saṃskāras*. Very few at this stage possess the capacity to direct others; they can only guide their own steps by a very careful use of their light. Still, the darkness that surrounds humanity is so opaque that even this little help, which sometimes a man in whom *prajña* is developed can give, may be very valuable. But we must not expect too much from it, nor should we imagine that the light that has guided us safely from one point to another will also serve for another. For each aspirant is treading a path of his own, and has to use his own faculties in order to direct his steps. It may also be pointed out that like all faculties *prajña* can grow only by exercise and nourishment. Its exercise means learning to utilise it in all kinds of unexpected situations and problems and in not shrinking from any new aspect of truth that may be presented; and its nourishment means keeping it constantly fed on ethical striving and the practice of *dharma*.

(To be continued)

Two Incidents

VIJAIANANDA (DR. WEINTROB)

We have frequently heard Mother say that She does not go anywhere ; yet we see Her travel from place to place. Being all-pervading and therefore everywhere at all times, Her body and its movements have significance only for us. Mother has assured us that She will never leave us, no matter where we may go or what we may do. I feel convinced that She is the all-pervading divine Consciousness, for whom there is no limitation of space and time, for whom the word 'impossible' has no meaning. However, for most of us, this knowledge is only on the level of the spoken word. Many just repeat it from hearsay. But those who have for a longer period of time lived under Mother's guidance, have experienced in a variety of ways the benediction of Her presence, and are able to understand that Her blessings and Her divine love are the same, whether we are far or near Her physically. But our mind is like a stupid child that has to be taught his lesson again and again, because he keeps on forgetting it, until it is hammered right into his brain. On occasions something happens that impresses deeply on our foolish minds the evident fact that Mother is ever with us, seated in our own hearts, guiding us constantly, removing obstacles, saving us from dangers. It is to this that I want to refer here.

(1)

In 1954 Mother's birthday celebrations took place in the Almora Ashram. I was then staying at the Varanasi

Ashram and proceeded to Almora to attend the function. Already for three years I had enjoyed the good fortune of living under Mother's direct guidance. During the first half of this period I had constantly travelled with Mother, accompanying Her wherever She would go. To leave Her even for a single day was a source of almost unbearable mental suffering to me. This is how Mother at first attracts us towards Her physical presence, in order to wean our minds from all worldly attachment. Love for Mother—although it is still *moha*—purifies mind and heart, awakens, and greatly increases our yearning for the Divine. What may be achieved after long years of struggle by the practices of *prānāyāma*, *japa*, or Self-inquiry, is accomplished within a short period of time, effortlessly, as it were, by pure and intense love for Mother. In fact, intense pure and selfless love for Mother is in itself a most powerful *sādhana*. This love has then to be expanded progressively to the all-pervading presence. Thus Mother leads us stage by stage.

Some temperaments may actually feel Mother nearer while far away from Her in space. This may sound a paradox, but can be explained as follows: When we are with Mother physically, Her sweetness and kindness, Her childlike simplicity may make us at times forget Her divinity. While far away, if the mind is capable of rising beyond the physical aspect, we have perhaps a greater chance of grasping that which abides in the heart.

When talking of Mother's divinity, it may not be out of place here to draw attention to some misunderstanding, not uncommon with Westerners. For people in the West, grown-up in the belief of one of the Semitic religions, to worship God in the form of a human being is considered a great sin, a blasphemy. In the Occident, it is the dualistic doctrine that prevails—God being worshipped as the Lord or Creator of the universe, while the individual soul is conceived as remaining ever separate from Him. In India, on the other hand, the doctrine of Advaita is accepted commonly by the educated. According to the advaitic teaching, the ONE, who is beyond all thought and description, is the 'Being par excellence', the substratum of everything; without Him nothing can exist—in fact, He alone really exists, the phenomenal world being but a surface play, like the waves of the ocean. In a perfect Being, this Divine Consciousness, this Eternal One is present in His full effulgence, without any covering veil. Therefore it is quite natural to look upon such a Being as the Divine Incarnate.

But let me again take up the thread of my story. During the second half of the three years that I had spent travelling with Mother, I could bear to remain without Her for short intervals; but never (as far as I remember) had I been without Mother's *darshan* for more than a month. When I came to Almora for the birthday celebrations, the yearning for Mother's physical presence had come again, even stronger than before. The infinite Love of the Guru is quite different from what is usually called 'love'. Real Love knows no weakness. It may even appear hard and merciless on occasions. The grown-up child was clinging to the toys of the baby, and Mother most probably knew that the time had come for him to shake off the habits of the infant.

Mother's skill in seizing the psychological moment is well-known. At such a moment I was made to promise to remain in the Almora Ashram for one whole year, without travelling anywhere. One whole year without seeing Mother! It seemed like eternity to me. Previously, even after fifteen days of separation, I would count the days and wait for Mother's return, like the well-know *chatak* bird for the rain.

Mother stayed for more than two months at Almora that summer. Whilst She was there, a number of improvements were made in the Ashram, which thereby became a place provided with modern comforts, such as electric light, tap water, etc. Only too soon the inevitable day of Mother's departure came. I was standing by the road-side, looking at Mother's car that was ready to start. It was beyond my imagination that Mother, knowing my state of mind, could leave me behind for such a long period of time. Before starting She called me, gave me Her blessing, and uttered a few kind and soothing words. The car began to speed down the road to Kathgodam. I followed it with my eyes until it vanished out of sight. All kinds of childish ideas flashed through my mind. I thought that Mother was just testing me and soon would send back someone with a message for me to join Her. But the time passed and nobody came. My mind was overcast by sadness, as the sky by dark clouds. I felt helplessly despondent and depressed. Of course, I was not compelled to stay on. (I have never witnessed Mother exercising compulsion over anyone). I could have easily followed Mother to the plains—She would probably have laughed the matter over, as had in fact already happened on a former occasion, and waited for a better opportunity to make me stay in solitude. But then I had given my word and moreover, my mind having matured in the meanwhile, I understood that it was necessary for me to practise *sādhana* and lead a secluded life. I thus tried to divert my thoughts from their painful one-pointedness, keeping myself engaged in some work or other. During Mother's sojourn at Almora, I had temporarily occupied a room near the tank of the Patal Devi temple, since the Ashram had been overcrowded. Now I had to shift to the Ashram. So I began to pack and arrange my belongings. But my sorrow would not leave me. I was slowly ascending the narrow path leading from Patal Devi to the Ashram. The sky was spotlessly blue, the air fresh and light. In the plains, I mused, there must be broiling heat, heavy with dampness. Here, at Almora, was the calm stillness of the Himalayan mountains with their majestic beauty. In the plains I would have been in the midst of the buzzle and noise of the towns. Travelling with Mother means to endure all kinds of hardships and inconveniences. Here I had every facility, almost as in my own home. But of what value were the beautiful sceneries, the bracing climate, physical comforts and all the rest, when the main thing was lacking, namely the happiness I found in Mother's presence! It was a happiness that did not depend on any outer circumstances.

With eyes veiled by tears, I was gazing at the gorgeous range of mountain peaks in the direction of Kasar Devi. All of a sudden something extraordinary happened. My whole being was flooded with joy. Mother was there! Here, present before me! Yet, not in Her physical form .... But how to describe what cannot be put into words? There was no form—yet I could clearly see Her long black hair floating along the mountain ridges, although it was not to be beheld with these eyes. There was no face, although I could distinctly perceive Her divinely sweet smile filling my heart with inexpressible joy and peace. Glued to the spot I stood like a small child gazing in awe and wonder at Her majestic features. She was outside and also inside of me—verily, She was my life-force, my *prāna* having taken shape, nay, She was the *prāna* of my *prāna*. No sound could be heard, but in the depths of my heart I understood the meaning of Her silence. It was telling me: "Why do you lament, O fool? I have not gone far away from you; I am ever with you, ever present in your heart, I am your Real Self." This experience lasted for a few minutes only, but it sufficed to disperse the clouds of my misery, to chase away the heavy mists that had obscured my understanding.

(2)

Not only in times of distress is Mother present; She is ever watchful, even where the small details of our daily routine are concerned. The following is an instance of how we are sometimes made aware of this fact.

It happened at the Varanasi (Benares) Ashram. That Ashram, apart from its sanctity, is one of the beauty spots of the city. Even tourists often come to see it. It is situated right on the banks of the Ganges, built on an elevated foundation, overlooking the river. The terrace and the roofs command an extensive and inspiring view over the Ganges.

Here, perhaps more than elsewhere, the Ganges has a great natural beauty. In the rainy season it becomes flooded and gives the impression of a huge lake. To the left, the crescent of the *ghāts* up to the Dufferin bridge spreads out. In the dark of night the funeral pyres may be seen burning at the *Manikarnika Ghāt*, standing out like sign posts, to remind us in the eternal city of the impermanence of all that is born. To the left, on the opposite river bank, is visible the small but picturesque town of *Ramnagar*, with the palace of the Raja of Benares. Opposite *Ramnagar* lies ever green *Lanka* and the Hindu University. At the time of which I am telling, the Ashram was much more charming than it is now. Its beauty was enhanced by a large semi-circular terrace, protruding over the river, with two small, finely built temples on either side. The spacious hall below the terrace was used for religious gatherings such as Kirtan, devotional singing, discourses or discussions on religious and phylosophical topics, and so forth. To the right and left of the hall were a few rooms to accommodate Ashramites or guests. The whole Ashram front with the terrace, the hall, the exquisite little temples and the guest-rooms, had to be demolished a few years ago, since they were in danger of collapsing, due to damage caused by high floods.

At the time to which my story refers, some threatening cracks had already appeared. The hall could not anymore be used for public gatherings, and visitors were not allowed to go downstair. Only a few inmates occupied some of the side rooms. I happened to be one of those fortunate ones. I say 'fortunate', for I enjoyed the great privilege of living in solitude, right in the midst of that crowded Ashram. My room, facing the Ganges, was near "Anandamayi Ghat". In the stillness of night I frequently would sit in the hall near a window that opened out unto the river.

Next to the Ashram, on top of the *ghat* is a small shrine, dedicated to Sri Ganesh. Every year the community of fishermen who live in the vicinity, organize a function that continues for five days, The celebrations begin on the fourth day of the bright moon of the month of *marga shirsha* (November – December). On this occasion a raised platform is erected over the *ghat*, the upper part resting on the steps of the *ghat*, while the lower is supported by wooden pillars. A canvas roof and canvas walls are pitched over the platform and beautifully decorated. Every evening, when their day's work is over, the devotees assemble in the pandal, where *kirtan*, devotional singing and the recitation of scriptures continue until late at night.

During one of those nights, I was as usually sitting in the hall, looking down at the river. Mother was not at Varanasi at the time. I could distinctly hear all that was being said or sung at the function on the *ghat*. Frequently, *sadhakas* who start engaging in regular spiritual practice and live a secluded life, become very sensitive to the vibrations of their surroundings. This was also the case with me at that time. But the loudness of the function did not disturb me at all, so long as it was of a religious nature. On the contrary, I listened with great joy and appreciation to the *Nama kirtan* and the *bhajans*. But all other Kinds of sound or noise would sometimes considerably upset me.

That night I could observe that the mood of the people on the platform was gradually changing. Although I was unable to understand the words of their songs, yet the tunes and the laughter of the audience gave me the impression that the celebrations had taken a worldly turn. It was perhaps quite harmless and moreover, my impression might have been wrong; but that night I seemed particularly sensitive and felt quite disturbed. In a prayerful mood, I said mentally: "In holy Kashi. on the banks of the Ganges, next to Sri Anandamayi Ashram, how can one possibly indulge in vulgar songs? They should at least sing the *Mahamantra*!"

No sooner had this prayer taken shape in my mind than I heard a mighty sound—I could even say that I 'saw' the sound. It is a well-known fact that sound and form are intimately connected. There is a level of perception where the two mingle. The sound I heard was not uttered by any human voice, it had its own living personality. It came like a huge wave from the terrace of the Ashram, flowing down into the hall and finally enveloping the platform where the function was in progress. Although the wave had no definite shape, I somehow felt that it was connected with Mother's physical presence. The sound wave was uttering once only "*Hari bol*" (which means "repeat the name of the Lord"), but not in the tune in which Mother usually sings these words. Here the voice was mighty and stern, like a rebuke or severe command. No sooner had the wave engulfed the platform, than the people present stopped singing instantaneously. A blanc silence prevailed for a few minutes. Then, without any transition, they began to chant: "*Hare*

Rām, *hare Rām*, *Rām*, *Rām*, *hare*, *hare*", which is the first verse of the *mahāmantra*. They continued with this for some time, without singing the second verse (*Hare Krishna* etc). Later they sang "*Sitarām*, *Sitarām*" and, as far as I remember, the remaining part of the night was spent in *Nāma kirtan*.*

My prayer was a childish one and hardly deserved such supernatural response. But very likely it was one of those psychological moments, a moment of conjunction, brought about by the interplay of various factors, in which the lesson so frequently forgotten, could be hammered into the mind of the above mentioned child.

---

* The aforesaid is written from memory and therefore may not be quite precise in all details.

Pages from My Diary

GURUPRIYA DEVI

(Translated from Bengali .

29th June, 1959.

Mataji is at present at the Kishenpur Ashram. Early morning, while Mataji was still in bed, I entered the room. Mataji said with a veiled voice: "I saw Mohanananda Brahmachari standing in the Ganges with offerings for *Surya*, the sun-god, in his hands, From the left side a stream of water was falling on his head. A little later Bholanath came and stood there as well. This body was also present...." Having uttered this much, Mataji remained silent and said no more.

7th July, 1959.

This morning, in the course of some conversation, Mataji disclosed that She had on a subtle plane, seen Swami Shankerananda of Kashi, who came to Her and said: "Ma, I am shifting to another house". On hearing this, I felt rather concerned, fearing that something might have happened to the Swami.

In the evening Choudhry Shersingh's daughter, Darshan Kumari, came with her son Ravi to see Mataji. Ravi had recently been very seriously ill at Lucknow. We had repeatedly received news about his most precarious condition.

Her eyes full of tears, his mother now related the whole story of his illness to Mataji. A short time ago he was hovering between life and death. His temperature had shot up to over 107°. His body seemed to be suffused with poison and the doctors wrapped him into ice. Suddenly Ravi felt as if the breath was leaving his body. At that very instant he remembered Anandamayi Ma, and in the midst of his delirium, he screamed : "Ma, Ma !" No sooner had he uttered the cry, than it seemed to him that he commanded unlimited strength and vigour, that Ma Anandamayi was with him, and that there was nothing to be afraid of. Slowly the patient recovered.

Some time before he fell ill, his mother had come to the Ashram with him. Ravi's character was not quite flawless. This is why his mother had on various occasions prayed to Mataji that he may be freed from all his weaknesses. Accordingly, Mataji had repeatedly told Ravi : "Give up all these bad habits ! They only drag you deeper and deeper into that which is of death."

The astonishing thing is that, during Ravi's illness, the doctors declared that, unless he gave up alcohol for the rest of his days, the hopes of saving his life were extremely meagre. Ravi was therefore frightened and besides, his mother reminded him again and again of the fact that he owed his life only and alone to Mataji's unbounded mercy. His family were firmly convinced that Ravi's recovery was solely due to Mataji's *kheyala*.

10th July, 1261.

At night Mataji came and sat in my room. Pandit Sunderlal and a number of others were present. The pandit asked Mataji : "When Bhaiji was about to drown in the Ganges, while you were far away, and you suddenly appeared and rescued him, did you go there in your physical body ? For, the strange thing was that at that exact time your clothes were dripping wet, as everyone present could see."

Mataji : "Pitaji, anything is possible. All bodies are in fact my bodies. Here itself is Kashi, the Ganges—everything. Therefore, even from here, everything may take place. Anything at all may happen to this body. That its clothes were drenched on that occasion, is a clear and simple illustration of this fact."

To-day a well-known artist from Holland came to see Mataji. She is a professional painter. In the evening she showed Mataji a collection of her beautiful drawings. She is eager to paint two or three very good portraits of Mataji.

11th July, 1959.

This morning, the Dutch lady was sitting in Mataji's room for a whole hour, trying to sketch Mataji's portrait. But all her efforts seemed futile, she was unable to get Mataji's likeness. Greatly disappointed, the Dutch lady exclaimed that she had portrayed a good number of saints and *sādhus*, but had never failed in a similar manner. While sketching Mataji's picture, the had observed ten or twelve different faces of Hers in that short hour. Which of them she was to put on canvas, was beyond her comprehension.

However, this is nothing new to us. We know that, up to date, no artist has succeeded in painting or modelling a real likeness of Mataji. The famous English photographer Richard Lannoy, came to India and spent some time with Mataji. He took many photos of Her, displaying a great variety of expressions. Two or three of these photos have been published in Europe and earned unusual praise and appreciation. Nevertheless, he also used to marvel at the extraordinary changes that Mataji's appearance underwent constantly. Each of his photos of Mataji shows a different face—one of them may resemble a child, another an old woman, and a third again be quite different. All this is ***Mataji's Lila***. Many famous artists have tried and are now also trying to create a likeness of Mataji. But, it seems to me, that not a single one of them has been really successful.

24th August, 1959.

Mataji is in the New Delhi Ashram, at Kalkaji. This morning Sri Jawaharlal Nehruji's personal secretary, Sri Upadhyayaji, came to pay his respects to Mataji. He has known Her for many years, and whenever he has the chance, he comes for Mataji's *darshan.* He announced that Panditji himself would come for Mataji's darshan this evening.

Mataji is due to leave for Vindhyachal by the night train. At 6-30 p.m. Pandit Nehru, accompanied by Sri Upadhyaya, arrived at the Ashram. I noticed that they did not come by any Government conveyance but by his small private car, without any orderly or guard. At the time, the Maharaja of Tehri Garhwal, the Raja of Mandi, Rai Bahadur Narain Dass, Sri P. L. Verma and many others were present at the Ashram. All of them accorded a most hearty welcome to Nehruji. He was at once taken upstairs to Mataji's room, where he partook of some light refreshments. Not long ago he had seen Mataji at Rishikesh. He is of course unable to spare the time to come to Mataji frequently. But his daughter Mrs. Indira Gandhi off and on pays a visit to Mataji. His wife, the late Srimati Kamala Nehru, was deeply devoted to Mataji and used to come day after day for Her *darshan* at Dehradun. On various occasions I have recorded this at length in my earlier diaries.

This time, it was Mataji's *kheyāla* that a number of things should be communicated to Pandit Nehru. She therefore dictated to us what She wished to tell him, and before his arrival, we noted it down on two sheets of paper. Mataji then requested Brahmachari Panu to read it out to Panditji, who afterwards folded the papers carefully and put them away safely in his pocket. Without Mataji's express instructions, we are not in a position to publish the contents of those papers, since they were meant for Panditji personally.

As soon as the reading was over, we left the room. Panditji then had a private interview with Mataji for about 20–25 minutes. When it was time for Mataji to start for the railway station, I found that Panditji had got up, ready to leave. Mataji put a string of *rudraksha* beads and another one of *tulsi* beads around his neck. He accepted them gratefully and later rolled them up with his right hand and put them away. After doing *praṇām* to Mataji, he went downstairs, where, for a few moments, he joked with the little children of some devotees, and then drove away. I observed that Panditji was extremely calm and concentrated while in Mataji's presence. I felt that if Mataji had not been leaving just then, he might have stayed for longer. On leaving, he asked to be informed whenever Mataji would visit Delhi again. A few minutes after Panditji's departure, Mataji motored to the railway station.

New Diary Leaves

ATMANANDA

(6)

New Delhi,
January 21st, 1961.

A European lady had a talk with Mataji. Amongst other things she asked : "How does the love of God come ?"

Mataji : Does it not happen that you make friends with utter strangers and come to love them ? To love God, who is your own Self, is natural. If you feel drawn to a particular form of God, such as Christ or Krishna, contemplate that form of His, repeat His Name constantly, think of Him, read about His greatness and His glory, let your mind constantly be occupied with the thought of Him.

Question : Suppose one does not feel attracted to any particular incarnation of God, how should one proceed ?

Mataji : Sit perfectly still and dive into yourself, trying to find out who you are. To find your Self means to find God, and to find God means to find your Self.

New Delhi,
January 23rd, 1961.

An American lady, who has come to India for the sole purpose of seeing Mataji, and has been with Her recently in Varanasi and Allahabad, asked a few questions. It is just twelve days since she has arrived in this country.

Question : What is the cause for the sense of unreality of everything I perceive, even though I know it to be good and beautiful, as for instance a sunset ?

Mataji : This sense of unreality comes from within. Whatever is perceived by the senses is transitory, ever changing, and therefore unreal. The *Atma*, which is eternal and real, causes this sense of unreality. It is a good sign to feel this. Turn within and seek the Atma !

Question : Since the will of the individual is illusory, and one does not know God's Will, how can one lead a purposeful life ?

Mataji : By contemplating the Self one will find out how to make one's life purposeful. It is man's duty to aspire to Self-realization.

Question : What about self-expression in art ?

Mataji : This also belongs to that which is fleeting. You paint a picture, but it cannot last. The most beautiful song fades away in a moment.

Question : Presuming that the striving goes on, no matter what, how can one know how to live in relation to human beings and one's own creative energies ?

Mataji : A man who is out for wordly things and occupied with the business of this world, gets satisfaction from what he does ; for otherwise, why should he do it ? He feels he is doing well, he gets praise and fame, money and prestige, and his mind is engrossed in his affairs. If someone opposes him and puts obstacles in his way, he gets angry and feels hostile towards him.

A person who strives after Self-realization, will turn to great souls (*mahātmas*) for advice, guidance, and company. He will read books written by the Wise, will admire them, and desire to become like them. Since He is searching after Truth, he will come to be truthful in speech and behaviour. The Self is one, therefore he will be loving and friendly to all. Even when abused and reviled, he will not retort, but remember the oneness of all. A dog may bite you, but you will not bite back.

The man who works for worldly goods and satisfaction is working for death. For everything of this wòrld is constantly dying and giving place to something else : just as the child dies to the young girl, the young girl to the woman, and so forth. But one who is striving after Self-realization is working for immortality. When living and working in the world and mixing with worldly people, one's creative energies are exhausted in the pursuit of sense objects, and thus one may come to feel weak, tired or ill. Whereas by aspiring to Self-realization one's creative energy will be preserved and strengthened.

•

While a person living in the world takes pleasure in parties, meeting people, etc., the one whose aim is Self-realization will delight in meditation, singing the praises of God, reading books of wisdom, listening to discourses on religion and philosophy, and mixing with those who are pilgrims on the Path.

Now about behaviour. The devotee will come to feel that he is the servant of the Lord, and therefore be ever more humble, gentle and sweet. Everyone, no matter what his line of approach, should try to be gentle, kind and loving to all, for the Self is one. The active person will engage in service—not to others, but with the thought that everyone is a manifestation of God, and that he serves God in whomsoever he may serve. This alone is real service. It purifies the mind and therefore also helps towards Self-realization. A man who is out for Illumination, will reason that all are expressions of the One and so he also will be kind and compassionate to everyone. When dry leaves fall off a tree, fresh ones grow quite naturally. Similarly one's behaviour and relationship will change automatically when one alters one's attitude of life. There are various paths and ways of living and behaviour for the aspirant, but here this body has pointed out only a few of them. According to his status, the *sadhaka* will have to observe certain rules and restrictions; as for instance when he is initiated into Brahmacharya or becomes a Sannyasi, he will have to live up to what is demanded of him.

A young girl asked: "Is it necessary to join an Ashram in order to find God, or is this also possible while living at home?"

***Mataji*:** God is everywhere and can be found everywhere. The home is also an Ashram, namely the householder's Ashram. People join an Ashram or sit in solitude on the banks of the Ganges only to realize that God is everywhere, that there are no boundaries except in the mind. Everyone chooses the type of life, which is most helpful to him in his search.

New Delhi,
January 24th, 1961.

Question : Is freedom an illusion ?

Mataji : No, man is free.

Question : But man is an individual, an ego, and the ego is an illusion. Therefore how can he be free ?

Mataji : Of course, the ordinary person, who is identified with mind and body, is not free. But man—the real man (*atimanuṣ*), is free.

Hardwar,
February 5th, 1961.

To-day a party of about half a dozen Swiss people came to talk to Mataji. Most of them did not understand English and I had to translate into German what Mataji said. One of them, a middle-aged woman, can heal people by laying on hands, and even from a distance, by imagining the people to be healed. She said, a clergyman had taught her how to do this, but she was apprehensive that her technique was not quite perfect, as she felt exhausted after the healing and also experienced on her own body the ailments she was trying to cure. For instance, she became blind for 10 minutes, when attempting to make a blind man see—although in this particular case she was unable to effect a cure. A certain *mahātma* at Rishikesh had advised her to give up the healing of illnesses, as it would retard her spiritual progress. She wanted to know, what Mataji had to say about this. (The Swiss lady was a mother of several children whom she had to maintain. Healing meant a livelihood to her.)

Mataji : It is true that the laying on of hands in the way described will arrest one on the level from which the healing is performed, and one will therefore be prevented from going beyond it. For one who has dedicated his life entirely to the Supreme Quest, this kind of healing represents an obstacle. But the position of the householder, who in any case has to do some business or other in order to earn money, is different. You may accept payment from some patients, and treat others free and thereby be able to do service. Some people will be benefitted by this. In some cases you may not be able to effect a cure, as it does not lie in the patient's fate to get well, but at any rate you will be able to do some good. The householder, who has to make a livelihood and educate his children, cannot live without compromise. However, a person, who has given his life completely to the search after Truth, knows no compromise. He has to adhere to truth at all costs. For such a one, activity of this kind would represent an obstacle.

Question : We intend founding an international spiritual centre in Europe, where yoga of all types will be taught. The spiritual hunger all over Europe is acute and ever increasing. Should we go ahead with our project ?

Mataji : Who is to instruct in yoga ?

Questioner : We are getting people from all over the world to come and teach. Some have already offered to give their co-operation.

Mataji : If you can secure really competent teachers, then it is no doubt a good plan to found such a centre. But mind you, all depends on the capacity and the inner qualification of the instructors !

MATRI LILA

15th April—15th July, 1961.

In the last issue we reported that Mataji left Kankhal (Hardwar) on April 16th for Delhi. There She stopped in our Ashram for one night. A large crowd of devotees enjoyed Her *darshan* until late. On the 17th morning Mataji went to Gwalior, alighting there the same afternoon. H. H. the Maharani of Gwalior had specially come to Hardwar to invite Mataji to be present at the consecration of some newly built temples at Gwalior. The function proceeded with great splendour. Many *mahatmas* attended. Everyone was entertained with the most generous hospitality. During Her stay at Gwalior, Mataji visited the Scindia Public School, at the invitation of the Principal.

We are extremely grieved to give our readers the sad news of the untimely passing away a few days ago in Bombay of H. H. the Maharaja of Gwalior. He had great veneration for Mataji. He went to see Her in Poona a number of times just before his illness took a turn for the worse, and wished to come again before Her departure on July 15th ; but unfortunately his condition became serious and his illness proved fatal. He was greatly beloved by the people of Gwalior.

From Gwalior Mataji travelled to Allahabad on April 22nd. A *Bhagavata Saptah* was held there from April 23rd-30th.

The family of the late Sir Tej Bahadur Sapru was responsible for the function, which proved a great success. Pandit Sri Nath Shastri of Vrindaban officiated, and the audience listened spellbound to his lucid, and often very humorous Hindi rendering of the great *Purana.* On April 25th Mataji payed a flying visit to Varanasi, returning to Allahabad the next day. As soon as the Bhagavata Saptah had been completed, Mataji's birthday celebrations began. This time the function was compressed into two days only, ending with the *Tithi puja* on the 4th early morning, that was followed at midday, by the inevitable feast given to all who care to participate. The devotees of Allahabad had made excellent, carefully thought out preparations, so that everything proceeded most beautifully and harmoniously, without a hitch. A large, artistically decorated pandal had been erected in the compound of the house of the late District Judge N. N. Mukerji, at 31, George Town, where Mataji was accommodated in the charming little cottage that had been built for Her use a few years ago. Sri N. N. Mukerji's whole family has been in close contact with Mataji for many years. Their devotion and selfless service, rendered quietly and unobtrusively to Mataji, and in fact to all their guests, is something that cannot easily be forgotten.

As usual, the birthday was celebrated by a full programme of religious discources, *kīrtan*, perpetual *japa* throughout the day and night. On May 2nd and 3rd morning, the *Rasa Lila* was enacted by a party from Vrindaban. On the 3rd night, the Prime Minister, Sri Jawaharlal Nehru, came with his daughter, Srimati Indira Gandhi to pay homage to

Mataji on the occasion of Her birthday. He stayed for about an hour and a half, first in Mataji's own room, and then accompanied Her to the pandal, where Swami Chetan Giri Maharaj was just delivering a talk. At the request of several devotees, Mataji afterwards led the *kīrtan*, and finally a member of the *Rāsa* party performed a dance, balancing with great skill two trays with burning lights in both hands. Panditji seemed to enjoy everyone of the items, especially Mataji's singing.

A special feature of the Allahabad function was a talk in English by a Frenchman, Mr. Arnaud Desjardins. Mr. and Mrs. Desjardins had come all the way from Paris to participate in Mataji's birthday celebrations, notwithstanding the flaming heart of the Indian plains in May. This was not their first visit. They had already had Mataji's *darshan* at the time of Durga Puja in 1959 at Varanasi. Moreover, Mrs. Desjardins had come again, all by herself, in October 1960, accompanying Mataji for two months wherever She happened to go, which included the *Samyam Mahavrata* at Naimisharanya. Mr. Desjardins works at the Paris Television. While in India in 1959, he had prepared a film, which he called "At the Secret Heart of India." The film includes some very impressive pictures of Mataji that have roused profound interest, nay adoration, in many Westerners. We have received a great number of letters to give evidence of this fact. Mr. D. showed his films privately at first, and recently in large halls in Paris and North Africa, with remarkable success. He was able to take some more moving pictures this time at Allahabad, and also in Bombay and Poona. He showed those films to Mataji and the assembled devotees, once at Bombay and once at Poona.

* * *

On May 5th Mataji left Allahabad for Bombay, while most of Her party proceeded directly to Poona It had been expected that Mataji would remain in Bombay for a few days only, and then motor to Poona for a long stay. However, in order to be near Mahamahopadhyaya Dr. Gopinath Kaviraj, who had to undergo a serious operation, Mataji changed Her programme. Except for two short visits to Poona for a couple of days each time, She was in Bombay until June 9th, putting up in the Burmese Pagoda, that Sri B. K. Shah had several years ago built for Her in his compound at Vile Parle.

It seems fitting on this occasion to say a few words about the unique personality of Dr, Gopinath Kaviraj, who is well known and greatly revered all over India, and in certain circles also abroad, for his fabulous learning as well as for his quite outstanding qualities as a human being. No religion, no philosophy exists that has not been mastered thoroughly by this great scholar. To any question along these lines he will, on the spur of the moment, give the most lucid and enlightening reply. At Benares, where he has resided for many years, every research student comes to him for advice when working at his thesis, practically every foreigner, interested in the spirituality of India, consults Dr. Kaviraj, and none ever leaves disappointed. He is not only one of the most prominent contemporary Sanskrit scholars, he also reads

Persian, Urdu and any number of Indian and European languages. He has moreover practised *yoga* most of his life and obviously gained experience of his own. Many, therefore, seek spiritual advice from him. But even more extraordinary than his unequalled learning, even greater than his achievements on the Path, seem to us his loving kindness, his childlike guilelessness and simplicity.

When this rare personality recently became seriously ill, it was solely due to Mataji's watchfulness and motherly care that his illness was found out and treated in good time. While at Hardwar in April, Mataji had asked him to come and see Her there. He had hardly arrived, when She arranged for him to go by car to Delhi and consult Dr. S. K. Sen, the famous surgeon, who diagnosed cancer. She then requested Dr. G. N. Kaviraj to travel to Bombay and have the diagnosis confirmed by other experts. He was subsequently operated on May 16th by the foremost surgeon of the Tata Cancer Institute. Mataji took gteat trouble to make arrangements for the very best treatment and nursing, supervising every detail in person, and waited in Bombay until he was well enough to be discharged from hospital. A few days later he was taken to Poona to convalesce. At the moment he is staying in our new Ashram at Poona and expected to remain there till the end of this month. We owe a debt of deep gratitude to Mataji for saving this wonderful human being from succumbing to a disease that might easily have proved fatal. Sri Kavirajji is now well on the way to complete recovery. He is able to move about, and people are again allowed to come and see him and put their problems before him. We rejoice in stating that there is now every hope of his remaining with us for many more years to come in perfect health and vigour.

* * *

Last summer Mataji had spent 6 weeks at Poona at the invitation of Sri S. T. Nanda, who put up a special structure for Mataji's use in his garden, and accommodated most of Her party in his own house, which is by no means over-spacious. Everyone was happy there. The devotees of Bombay and Poona were eager to start an Ashram in Poona. Recently, a bungalow consisting of a few rooms has been donated for this purpose by Sri Bhagwandas Nangpal and his wife, both devotees of Mataji. The surrounding plot has been acquired by the Shree Shree Anandamayee Sangha. We are glad to say that the Ashram is situated in one of the best localities of Poona on Ganeshkhind Road, almost next to the Poona University, and a few furlongs distance from Government House. There are two hills in the immediate vicinity and much open country. Mataji stayed in the Ashram from June 9th—July 15th. Sri Haribabaji also was accommodated in the building for a whole month. A large pandal, effectively protected from the very abundant rain by a tin roof and walls, holding about 150—200 people, was put up in the compound, and served as a *satsang* hall during Mataji's stay. Sri Haribabaji expounded the Gita every morning, the Ramayan in the afternoon and related stories from the lives of bhaktas in the evening after Kirtan. Mataji gave *darshan* at least three times daily and sometimes even more often.

Sri Dilip Kumar Roy, the well-known singer and disciple of Sri Aurobindo, has his own Ashram in Poona, less than a mile from our Ashram. He came several times to talk to Mataji and to Dr. G. N. Kaviraj, and we had the privilege to listen to his songs. Mataji also visited his Ashram once.

On June 23rd, the President of India, Dr. Rajendra Prasad, together with the Governor of Maharashtra, Sri Prakasa and his family paid a visit to Mataji. They stayed for the best part of an hour in Mataji's room and had a most interesting conversation of general practical value. The main question asked by Sri Prakasa was, how an active life in the world could be reconciled to a religious life. Mataji replied in great detail, pointing out that if the right education and teaching is given in childhood, in other words, if the Brahmacharya Ashram is observed as enjoined by the Shastras, then the rest of man's life will naturally proceed in the right manner, in fact the householder's life will then be a dedicated, a religious life. (Notes of what Mataji said have been taken, and we hope to publish them in English translation in the next issue of Ananda Varta.)

On July 10th, the famous singer, Srimati Hirabai Barodkar came and delighted everyone present by her beautiful and delicate songs. Mataji remarked that *Harikirtan* was a way to experience His touch, that He may be revealed in the rhythm and the melody of the song. Ram Prasad, the Bengali *bhakta* was constantly engrossed in singing the praises of Mother Kali, and finally realized the Great Mother of the Universe. Gurupriya Didi was then called and asked to relate some incidents from Ram Prasad's life. At Hirabai's request, the musical evening ended by one of Ram Prasad's compositions, sung by Brahmachari Vibhu. Mrs. Barodkar had agreed to come once more on the 14th July, but the floods made this impossible.

On July 11th, the day before the dam broke, Mataji visited the National Military Academy at Kharakvasla. She and Her party were taken to the guest house that faces a large lake, one of the main reservoirs for the water supply of Poona. Didi later remembered that while riding in the car, Mataji had remarked two or three times: "Suppose the dam breaks, what will happen ?" On the 12th afternoon a large part of Poona was under water, but fortunately it was not the main dam at Kharakvasla that had been damaged, for in that case the whole of Poona might easily have been drowned ! The locality in which the Ashram is situated was not affected, being on a high level, except that the water supply stopped completely during the last two days of our stay. Water had to be fetched by car from a great distance, while military lorries were distributing water to the general public.

* * * *

At the invitation of the Chief Justice of Mysore, Sri S. R. Das Gupta, (a devotee of many years' standing, who formerly used to live in Calcutta), Mataji with a number of Her companions proceeded to Bangolore on July 15th. She is expected to leave for Calcutta via Madras on July 23rd, reaching Calcutta on the 25th. Gurupurnima is to be celebrated there on the 27th. Mataji will most likely remain in Calcutta for a few days.

* * * *

At the invitation of Sri Sitaram Jaipuria of Kanpur Durga Puja is due to be celebrated at Swadeshi House, Kanpur, from 15th—19th October. The *Samyam Mahavrata*, is planned to be observed this year at Sukhtal near Muzaffarnagar, from November 9th—15th, followed immediately by a *Bhagavata Saptah* (15th—22nd November). Sukhtal is situated on the banks of the Ganga.

श्री श्री माँ आनन्दमयी

लेखिका— श्रीमती गुरुप्रिया देवी

श्री श्री माँ आनन्दमयी भावमयी मातृमूर्त्ति हैं। स्वभाव की प्रेरणा और सन्तानों की कल्याण-कामना से उनका प्रत्येक कार्य स्वतः होता है। वह द्रष्टा—साक्षी मात्र हैं। साधारण दृष्टि से भी उनका यह निर्मल लीला-विलास प्रत्यक्ष होता है। उनकी वाणी में कैसा अपूर्व माधुर्य है—मातृस्मृति कैसी अमूल्य सम्पद है—उसे भावग्राही भक्त हृदयंगम कर सकते हैं। उस विमल भाव-विलास की मधुमय स्मृतियाँ ही गुरुप्रिया देवी की ग्रन्थमाला है।

१९२५ ई० से सुदीर्घ २५ वर्षों तक श्री श्री माँ के घनिष्ठ भाव से संग तथा उपदेश लाभ का सौभाग्य केवल इस महाग्रन्थ की लेखिका से भिन्न बहुत ही विरल है। श्री श्री माँ के सम्बन्ध में कुछ लिखने की योग्यता उन्हीं में है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। लेखिका की व्यक्तिगत डायरी ही भक्तवृन्दों के एकान्त आग्रह से पुस्तकाकार में अब तक ६ भागों में हिन्दी में प्रकाशित हुई है। श्री श्री माँ के दिव्य जीवन की अनेक कहानियों, विविध सूक्ष्मदर्शन के विवरणों, अलौकिक घटनाओं तथा श्रीमुख से निर्गत बहुत ही अमूल्य उपदेशों की समष्टि को लेकर इन भागों की रचना हुई है। भक्तजनों के लिए ये पुस्तकें अनमोल सम्पत्ति है।

❋ मूल्य ❋

प्रथम भाग से षष्ठ भाग—प्रति भाग—दो रुपये।
चतुर्थ भाग— तीन रुपये।

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. RN 4726/57

Statement about ownership and other particulars about Ananda Varta published under section 19-D sub-section (f) of the Press and Registration of Books Act.

FORM IV

(See Rule 8)

1.	Place of Publication	Shree Shree Anandamayee Sangha, Bhadaini, Varanasi
2.	Periodicity of its publication	Quarterly
3.	Printer's Name	K. Bose
	Nationality	Indian
	Address	Mata Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi
4.	Publisher's Name	K. Bose
	Nationality	Indian
	Address	Mata Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi
5.	Managing Editor's Name	K. Bose
	Nationality	Indian
	Address	Mata Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi
6.	Name and address of the society which owns the newspaper.	Shree Shree Anandamayee Sangha, (Regd.) Bhadaini, Varanasi

I, K. Bose, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Date 30. 4. 61. *Signature of Publisher.* (Sd.) K. Bose.

Ananda Varta

HINDI & ENGLISH

LIBRARY
No............
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

श्रीश्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. IX November, 1961 No. 3

श्री श्री माँ आनन्दमयी

लेखिका—श्रीमती गुरुप्रिया देवी

षष्ठ भाग

मानव-मन चिर-जिज्ञासु है। श्री श्री माँ कौन हैं? उनका उद्देश्य क्या है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न मनुष्य के मन में उठते रहते हैं। मातृरूपा पूर्णब्रह्म नारायणी माँ सन्तानों के कल्याण के लिए, देश-देशान्तरों में घूम-घूमकर भिक्षा माँग रही हैं—'तुम लोग सत् हो जाओ, मेरे ऊपर दया करो।' इस प्रकार की अविराम जीवनधारा का इतिहास ही इस भाग में हैं।

श्री श्री माँ के तारापीठ आगमन से आरम्भ करके साधना के विविध विवरण, तारापीठ में विचित्र दर्शनादिकी बात, नानाजी का शरीर-त्याग, हरिद्वार के सेवाश्रम में माँ के स्वतः आसन और प्राणायाम, कल्याणवन की बात, हरिद्वार में कुम्भस्नान, देहरादून में भोलानाथ जी का महाप्रयाण तथा माँ के अपूर्व मातृभाव के प्रकाश से इस भाग की समाप्ति हो गयी है।

[अग्रहायण, १३४४ से वैशाख, १३४५ वंगाब्द]

Ananda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Shree Shree Ma Anandamayee and with other religio-philosophical topics.

Board of Editors

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M.A., D. Litt.
Kumari Lalita Pathak, M.A.
Kumari Padma Misra, M.A., Acharya.
Kumari Bithika Mukerji, M.A., D. Phil.
Brahmacharini Atmananda.
Sri Sailesh Brahmachari.
Sri Amulya Kumar Dutta Gupta, M.A., B.L.
Sri K. Bose—*Managing Editor.*

* * * * * * *

Annual subscription (postage free) India—Rs 5/-
Foreign—Rs. 6/- or 10 shillings or dollars 1·25 only.
(Rs. 8/- extra for Air-mail postage)

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English in the beginning of the months of May, August, November and February. The year begins from May.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha, Bhadaini, Varanasi, (U.P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U P.).

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent ***latest by the second week of the month of publication.***

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to "dishonour" any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a considerable loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

LIBRARY
No. ....
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

Contents

Hindi Section

Page No.

1. मातृ-वाणी 97

2. मातृ-कथामृत—'नीलमणी' 99

3. डायरी के कुछ पन्ने—गुरुप्रिया देवी 102

4. श्री श्री माँ आनन्दमयी-प्रसङ्ग—श्री अमूल्यकुमार दत्तगुप्त, एम्० ए०, बी० एल० 108

5. पूना आश्रम में श्री श्री माँ के दर्शन के लिए राष्ट्रपति—स्वामी चिन्मयानन्द गिरि 125

6. पुरातन स्मृति—स्वामी नारायणानन्द तीर्थ 134

7. गीता की अद्भुत महत्ता—श्री रामनरेश दीक्षित, 'नैमिषतीर्थ-पुरोहित' 146

8. श्री श्री माँ का जयपुर शुभागमन— 151

Contents

ENGLISH SECTION

Page No.

1. Matri Vani 101
2. Inspired Sayings—Swami Ramdas 104
3. Prajna —The Light of Intuition— Prof. Madan Gopal, M.A. (Alld.), B. Litt. (Oxon), C. P. E. S. (Retd.) 107
4. Conversations with Sri Sri Anandamayi Ma— Professor B. Ganguly 117
5. The Background of our Letters—U. C. Dutt 121
6. With Mataji on the Bank of the Gomati River— Krishnanath 127
7. Pages from my Diary—Gurupriya Devi 141
8. The Prophet of Islam and the Ideal of Common humanity— Dr. M. Hafiz Syed M.A., Ph.D., D. Litt. 148
9. Matri Lila 156

Printed & Published by K. Bose for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi,
at the Kamala Press, Godhowlia, Varanasi.

ĀNANDA VĀRTĀ

अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपने में आप

VOL. IX] NOVEMBER, 1961. [NO. 3

—मातृ-वाणी—

"जो भगवान् को चाहता है वह तो भगवान् को पाता है। जो उन्हें पा जाता है उसकी तो मृत्यु की मृत्यु हो जाती है। मृत्यु की मृत्यु है भगवद्-दर्शनों की आशा रखना और उस अनुकूल क्रिया आदि के आश्रय में सर्वदा मन को रखने की चेष्टा करना। किस तरह किस रूप में तुम्हारे समीप स्वयं भगवान् हैं यह तो तुम जानते नहीं हो। सर्वदा उनके ध्यान, स्मरण, जप तथा सद्ग्रन्थों के पाठ का अवलम्बन कर चौबीस घण्टे व्यतीत करने की चेष्टा करनी चाहिये। वे कभी किसी भी अनुभव के रूप में, किसी भी भाव में और आकार में दर्शन देते हैं और तो और उनके लिए निकले आँसुओं के रूप में भी वे ही दर्शन देते हैं। तुम सब आकार प्रकारों में इस स्पर्शानुभव के लिए उनकी भावना में मन को उन्मुख रखने की चेष्टा करो। जो दिन जाता है वह फिर लौटता नहीं। स्वरूपप्रकाश का लक्ष्य लेकर अमूल्य समय का पूर्णतया सदुपयोग करने की चेष्टा करनी चाहिये।"

× × ×

"जिसका कोई सहायक नहीं उसके सहायक भगवान् हैं। सदा एकसा समय नहीं बीतता। धैर्य रखना चाहिये। भूमि पर फिसल पड़ने पर मनुष्य जैसे भूमि का सहारा लेकर खड़ा होता है वैसे ही तुम उन्हें छोड़कर रह नहीं सकते। इष्ट के प्रकाश के लिए ही इष्ट को पुकारना चाहिये। विषय-सम्पत्ति और सुख-सुविधा के लिए भगवान् को पुकारने पर बहुधा आशा पूर्ण न होने के कारण उस इष्ट और भगवान् के ऊपर भी अविश्वास हो आता है। किन्तु भगवान् के लिए ही भगवान् को पुकारने पर, इष्ट के प्रकाश के लिए ही इष्ट को पुकारने पर शान्ति और विश्वास की पुष्टि होती है।"

× × ×

"जीव एकमात्र भगवद्ध्यान में जितने अधिक समय तक रहेगा यही मुक्ति और शान्ति की दिशा है। कर्म के अनुसार ही शरीर होता है। इसलिए विविध प्रकार के रोग और दुःख-भोग आना स्वाभाविक है। जिनके चिन्तन से सब दुःख दूर होते हैं उनका ध्यान ही सदा करना चाहिये।"

× × ×

"यदि अमृत का पता लगाना हो तो सदा तद्बुद्धि रहना अनुकूल है। अमृतत्व की ओर अग्रसर होने के लिए सत्य का पता लगाना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है।"

× × ×

"उपयुक्त गुरु यदि न हो तो बहुत बड़ी क्षति होती है, यह अत्यन्त सत्य बात है।"

मातृ-कथामृत

'नीलमणि'

(गताङ्क से आगे)

स्थान : राँची आश्रम, समय : २१-५-५८ रात्रि ९ बजे।

प्र०—गुरु-सेवा क्या है ?

उ०—बिना विचारे गुरु के आदेश का पालन करना।

प्र०—गुरु में मनुष्य-बुद्धि रहने से पाप कैसे होता है ?

उ०—यहाँ "पाप" शब्द प्रत्यवाय या वासना के अर्थ में प्रयुक्त है।

प्र०—मैं नाम और नामी को पृथक् पृथक् देखता हूँ वे एक कैसे हैं ?

उ०—अक्षर ब्रह्म में भेद नहीं है। फिर, भगवान् नाम रूप में भी हैं। बीज और पेड़ जिस दृष्टि से एक हैं मन्त्र और इष्ट भी उसी अर्थ में एक हैं। बीज में ही पेड़ है। हृदयभूमि में मन्त्र-स्थापन करने पर नामी प्रकाशित होते हैं। जैसे बीज के अंकुरित होने पर उसे देखा या दिखाया नहीं जाता, वैसे ही बीज मन्त्र लोगों से कहना नहीं चाहिये। उससे उसकी शक्ति नष्ट होती है। उसे किसी से न कहने, हृदय में उसका गोपन करने पर मन्त्र या नाम का तत्त्व प्रकट होगा। तभी अक्षर रूपी भगवान् की प्राप्ति होती है। अनुकूल क्रिया आदि के द्वारा नाम या बीज मन्त्र को घेरा जाता है एवं हृदयभूमि में गुप्त रख कर प्रतिदिन जप किये जाना चाहिये। ऐसा होने पर अन्त में समग्र आकार में भगवान् प्रकाशित होते हैं।

प्र०—मन्त्र क्या ब्रह्मज्ञानी से भी नहीं कहना चाहिये ?

उ०—उन्हें मन्त्र देकर क्यों गुरु होने जायगा ? यदि संशोधन या सन्देह दूर करने की जरूरत हो तो आवश्यकतानुसार कभी कभी व्यवस्था या योगायोग हो जाता है।

प्र०—अर्थ बिना जाने मन्त्र के जप का फल होता है क्या ?

उ०—जप का फल पावेगा। अर्थ का फल नहीं पावेगा। अर्थयुक्त फल और अच्छा है।

प्र०—मन्त्र चैतन्य माने क्या हैं ?

उ०—केवल मन्त्र के सिवा जब प्रत्यक्ष जाज्वल्यमान मन्त्र का स्वरूप प्रकाशित होता है तब मन्त्र चैतन्य कहा जाता है।

प्र०—गुरुशक्तिपात और गुरुकृपा क्या एक ही हैं ?

उ०—शब्द दो अलग अलग हैं। फिर अभिन्न दृष्टि से दोनों एक ही हैं। कृपाकर गुरु शक्तिपात करते हैं।

प्र०—मन्त्र का अर्थ क्या है ?

उ०—शास्त्रों में जैसा उसका रूप, गुण और अर्थ दिया गया है वही उसका अर्थ है। जप करते करते अर्थ अपने आप प्रकाशित हो सकता है।

प्र०—यदि हम सभी ब्रह्म हैं तो गुरु करने की जरूरत क्या है ?

उ०—प्रश्न क्यों करते हो ? सन्देह है इसी लिए न। मैं ही ब्रह्म हूँ इस विषय में जब निस्सदेह होओगे तब फिर कौन किसका गुरु ?

प्र०—आत्मा का विभाग होता है या नहीं ? आत्मा किसलिए परमात्मा में मिल जाते हैं ।

उ०—जीवात्मा परमात्मा में मिलकर एक होते हैं । घड़े में जो जल है उसके समुद्र में मिलने पर उसका जलत्व नष्ट नहीं होता, केवल घड़े का जल न कहला कर तब वह समुद्र का जल कहा जाता है ; वैसे ही और क्या ?

प्र०—इस जन्म के कर्म फलों का अन्य जन्म में अन्य शरीर से क्यों भोग करना पड़ता है ?

उ०—जगत् के सब शरीर तो तुम्हारे ही शरीर हैं । केवल यह तुम नहीं जानते हो । तुम्ही इस शरीर से काम कर कुछ फल का इस शरीर से भोग करते हो और कुछ फल चढ़े रहते हैं । जन्मान्तर में अन्य शरीर द्वारा उनका भोग करते हो ।

—क्रमशः

डायरी के कुछ पन्ने

गुरुप्रिया देवी

१६ फरवरी १९५७—

कल रात लगभग साढ़े बारह बजे माँ अहमदाबाद से ट्रेन द्वारा जयपुर आ पहुँची। माँ के साथ परमानन्द स्वामी, बूनी, उदास, शोभा आदि ये ही कई लोग हैं। स्टेशन पर बहुत स्त्री-पुरुष माँ के दर्शनों के लिए आये थे। दादूपन्थियों के एक विशाल आश्रम में माँ को ले जाया गया। स्थान बहुत ही मनोरम है। बहुत बड़ा आश्रम है और उससे संलग्न बगीचा भी बहुत बड़ा है।

श्री श्री हरिबाबाजी, अवधूतजी आदि और भी कई लोग आये हैं। वे सब श्रीयुक्त मदनमोहन वर्मा के निवास स्थान पर ही ठहरे हैं।

श्रीयुक्त वर्मा और उनकी पत्नी माँ की चिर दिनों की परिचित हैं। बड़ा भक्त परिवार है। वर्माजी पहले राजस्थान विश्वविद्यालय के रजिष्ट्रार थे। अब सुना है Rajsthan Public Service Commission (राजस्थान पब्लिक सर्विस कमीशन) के member हैं। उन्हीं के मकान के आंगन में शामियाना तान कर सत्संग की व्यवस्था की गई है। किसी को भी किसी प्रकार की असुविधा न हो इस ओर वर्माजी का विशेष ध्यान है।

१७ फरवरी १९५७—

आज दोपहर के समय माँ को गोविन्दजी के प्रसिद्ध मन्दिर में ले जाया गया। माँ ने घूम फिर कर सब देखा। मन्दिर सचमुच दर्शनीय वस्तु है। यहाँ ऐसी

प्रसिद्धि है कि वृन्दावन में गोविन्दजी का मन्दिर जब मुसलमानों के आक्रमण से धराशायी हुआ उस समय वहाँ की मूर्ति लुका कर जयपुर लाई गई थी एवं वही मूर्ति यहाँ प्रतिष्ठित की गई।

रात्रि में सत्संग के अवसर पर एक सज्जन ने माँ से पूछा "माँ, माया कहाँ से आती है ?।

माँ ने हँस कर जवाब दिया—"पिताजी, माया में रह कर माया कहाँ से आती है यह जानना कठिन है। भगवान् को जानने की चेष्टा करनी चाहिये। उनके ऊपर यदि विश्वास न हो तो अपने को जानने की चेष्टा करनी चाहिये। अपने जानने के माने ही उनको जानना है एवं अपने को पाने के माने ही उनको पाना है। अपने को पाने पर ही सब प्रश्नों का समाधान हो जाता है।"

प्रश्न—अपने को जानने और अपने को पाने का उपाय क्या है ?

माँ—"गुरु ने जो मार्ग बतलाया है उसी मार्ग पर चलने की चेष्टा। खाली बैठे नहीं रहना चाहिये। यदि गुरुप्राप्ति न हुई हो तो भगवान का जो नाम अच्छा लगे उसी का जप करने की चेष्टा करनी चाहिये। केवल खाने, पहिरने और सोने में समय बिताना ठीक नहीं। अमूल्य मनुष्य-जन्म वृथा चिन्तन में नष्ट न होना चाहिये। धर्मशालामें निवास न कर अपने घर जाने की चेष्टा करो पिताजी,।"

१८ फरवरी १९५७—

तीन रात जयपुर में रह कर आज प्रातः पौने ९ बजे माँ मोटर द्वारा कुचामन के लिए रवाना हुईं। कुचामन के राजा साहब प्रतापसिंहजी माँ को विशेष आग्रह से ले जा रहे हैं। । वे स्वयं ही माँ का मोटर ड्राइव कर ले गये।

जयपुर से कुचामन लगभग ९० मील दूर है। प्राचीन कुचामन राज्य की

सीमा के प्रायः १०/१२ मील दूर एक पहाड़ पर दो बड़े किले (दुर्ग) देख कर माँने जिज्ञासा की "वह किसके हैं ?"

प्रतापसिंहजी ने मोटर चलाते हुए उनका इतिहास बतलाया। ज्ञात हुआ कि वे दोनों दुर्ग राजा साहब के ही पूर्वजों के हैं। लगभग ढाई सौ वर्ष पहले की बात है। दो भाइयों में गृहकलह होने के कारण एक भाई गृह-त्याग कर चले गये। जाते जाते उस पहाड़ के निकट आकर उन्होंने ऊपर धुआँ निकलता देखा। कौतूहलवश वे ऊपर पहाड़ पर गये। वहाँ उन्होंने एक वृद्ध महात्मा को बैठा देखा। उस महात्मा के उनसे वहाँ आने का कारण पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि मैं रोटी की खोज में बाहर निकला हूँ जहाँ रोटी की जुगाड़ हो जाय वहीं रहने की इच्छा है। उस वृद्ध महात्मा ने वहाँ पहाड़ पर तीन बड़े बड़े पत्थर दिखा कर वहीं निवास करने का आदेश दिया। उनके निर्देशानुसार उन्होंने उसी जगह किला बनवाया था। इस प्रकार कुचामन राज्य की उत्पत्ति हुई।

वह वृद्ध महात्मा शिव विश्वम्भरनाथ बाबा के नाम से प्रसिद्ध थे। इस समय भी उन महात्मा की खड़ाऊ, योगदण्ड आदि किले के अन्दर जतन से सुरक्षित हैं। आगे चल कर उस किले के भीतर मन्दिर की स्थापना की गई। उन महात्मा की समाधि-भी उसी के भीतर है।

इस प्रकार किले का इतिहास सुनते सुनते हम लोग शहर के निकट आ पहुँचे। शहर अभी भी तीन मील दूर था। एक तालाब के किनारे माँ और हरिबाबाजी के थोड़ा विश्राम कर लेने के उपरान्त वहाँ से एक सुसज्जित मोटर द्वारा शोभायात्रा के रूप में सब को साथ लेकर चला गया। माँ की गाड़ी के ठीक पीछे राजा साहब राजवेष धारणकर स्वयं माँ के ऊपर चँवर डुलाते हुए चले और दूसरी ओर उनके छोटे भाई एक बहुमूल्य छत्र धारण किये हुए थे। सर्वथा राजोचित स्वागत था। शहर के भीतर बीच बीच में बड़े बड़े अक्षरों में "जय माँ" लिखा हुआ शोभित हो रहा था।

बीच बीच में खूब सजाये हुए फाटक बनाने गये थे। सैकड़ों स्त्री-पुरुष सड़क के दोनों ओर से फूलों की वर्षा कर रहे थे। हजार से अधिक लोग शोभायात्रा के अनुगामी थे। सरकार से विशेष अनुमति प्राप्त कर माँ के सम्मान में सात तोपें दागी गईं। जनता की इतनी भीड़ कि पुलिस की सहायता से बड़ी कठिनाई के साथ मोटर के लिए रास्ता किया जा रहा था। इस प्रकार हम लोग लगभग १ बजे के समय नागाद निर्दिष्ट स्थान पर आ पहुँचे।

शहर के अन्दर एक बड़े मन्दिर में माँ के रहने के लिए व्यवस्था की गई थी। माँ तो राजप्रासाद में रहेंगी नहीं। रानी साहिबा प्रेमा देवी ने माँ के लिये सारा प्रबन्ध कर रखा था। हम लोग प्रेमाजी को बहुत वर्ष पहले से देखते आ रहे हैं। अत्यन्त सरल स्वभाव हैं। बहुत से दास और दासियों के रहने पर भी माँ के सब काम स्वयं अपने हाथ से ही कर रही हैं। माँ की कुछ सेवा कर सकने पर ही मानो धन्य हो जा रही हैं।

१६ फरवरी १९५७—

आज प्रतापसिंहजी पालकी द्वारा माँ को अपना दुर्ग दिखाने के लिए ले गये। उन्होंने स्वयं साथ रह कर माँ को सब स्थान दिखाये। दुर्ग के भीतर अनेक दर्शनीय वस्तुएँ हैं। रंगमहल इतनी सुन्दरता के साथ रंगा गया है कि मालूम पड़ता है मानो अभी अभी रँगा गया हो।

राजा साहब और रानी साहब ने माँ के लिए इतनी सुन्दरता से सारी व्यवस्था की है, उन्होंने प्रार्थना की कि माँ महात्माओं के साथ एक सप्ताह यहाँ ठहर जायँ। किन्तु हरिबाबाजी ने पहले से ही कल जोधपुर पहुँचने का प्रोग्राम स्थिर किया था, इसलिए आज ही रात्रि में नौ बजे माँ सबको साथ लेकर जोधपुर को रवाना हुईं।

१३ मार्च १९५७—

माँ वृन्दावन में हैं। आज सबेरे श्रीभक्तराज महाराज (रामकृष्ण मिशन

के एक वृद्ध साधु) माँ के दर्शनों के लिए आये थे। माँ के साथ कुछ अधिक समय तक उन्होंने वार्तालाप किया। जाते समय भूमि पर मस्तक टेक कर उपस्थित लोगों से उन्होंने कहा—इस वार ये मातृशरीर धारण कर आई हैं। इन्हीं में आप सव लोग अपने अपने इष्ट का दर्शन करें।

कुचामन के राजा प्रतापसिंहजी भी यहीं हैं। उनके साथ भक्तराज महाराज का साक्षात्कार होने पर उनसे भी उन्होंने कहा था—"माँ के निकट शिशु वनकर रहें। वे ही सबको पार लगा देंगी।

भक्तराजजी यहाँ किसी धर्मशाला में ठहरे हैं। सन्ध्या समय वे फिर कई लोगों को साथ लेकर आश्रम में रासलीला देखने आये। महाराज का स्वभाव बहुत ही अच्छा है, बिलकुल वालकोचित। सम्प्रदाय का भेदाभेद उनके निकट नहीं है। माँ के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति देखने योग्य वस्तु है।

आज और एक भद्र महिला माँ के दर्शनों के लिए आई थीं ? उनका नाम है कस्तूरी देवी—वृन्दावन के किशोरीदास वावाजी की शिष्या हैं। भद्र महिला के मुख से हमने सुन्दर सुन्दर बातें सुनीं।

एक दिन रात को वे अपने आप ही खूब रो रही थीं। उनका दुःख था प्रभु की कृपा किस प्रकार प्राप्त हो। साधन-भजन भी वे वैसा विशेष कुछ नहीं कर सकतीं। पीछे स्वप्न में वे यह देख पायीं कि एक शुभ्रवसना स्त्री और उनके साथ गेरुआ वस्त्र पहने एक लड़की है। उस लड़की ने भद्र महिला का हाथ पकड़ कर कहा—तुम क्यों रो रही हो ? यही तुम्हारे प्रभु हैं। शीघ्र हमारे साथ आओ।"

इस प्रकार उस भद्र महिला ने एक के बाद एक दो दिन वही स्वप्न देखा। आज कुछ दिन हुए उन्हें ज्ञात हुआ कि वृन्दावन में "आनन्दमयी माँ" नाम की एक

देवी आयी हैं। इसी लिए आज वे माँ के दर्शनों के निमित्त आई हैं। माँ के निकट उदास बैठी थी उसे देखते ही वह अवाक् हो उठीं। इस गेरुआ वस्त्र पहनी लड़की को ही तो उन्होंने एक के बाद एक दो दिन स्वप्न में देखा था। तदनन्तर माँ की ओर गौर कर देखने पर उन्हें प्रतीत हुआ कि ये स्वप्न में देखी गई उस शुभ्रवसना स्त्रीमूर्ति से एकदम मिल रही हैं।

रात्रि में माँ के निकट हम ही कई लोग बैठे हैं। बाजितपुर की चर्चा छिड़ी। माँ हँसते हँसते कह रही हैं—"बाजितपुर में जब यह शरीर था तब भोलानाथजी के क्वाटर के निकट ही एक जज साहब रहते थे। उनके यहाँ प्रायः ही खूब हरेकृष्ण नाम कीर्तन होता था। यह शरीर जहाँ रहता था वहाँ से कीर्तन स्पष्ट सुनाई देता था और उस कीर्तन को सुनने के साथ ही साथ शरीर न मालूम कैसा विह्वल हो जाया करता था। शरीर की ऐसी अवस्था की बात सुनकर उन्होंने भोलानाथजी से कहा था यह शरीर का विह्वल होना तुलसी की कण्ठी धारण करने के लिए है। भोलानाथजी के आकर इस शरीर से यह बात कहते ही मैंने कहा—तुम उनसे पूछो कि कौन कण्ठी धारण करनी होगी, अन्तर की कण्ठी या बहिःकण्ठी। यह बात सुनते ही उन्होंने कहा कण्ठी लेने की आवश्यकता नहीं होगी।

श्री श्री माँ आनन्दमयी-प्रसङ्ग

श्री अमूल्यकुमारदत्त गुप्त, एम्० ए०, बी० एल्०

(गताङ्क से आगे)

जागतिक विद्या और ब्रह्मविद्या

११ पौष बुधवार (२७-१२-३८) सवेरे माँ के पास जाकर देखा कि दुर्गामोहन बाबू आदि उपस्थित हैं। श्री श्री माँ के शरीर में पूर्ववत् मालिश चल रही है। दुर्गामोहन बाबू ने माँ से पूछा, "माँ, आपको क्या नींद आती है ?"

माँ (हँस कर)—वाह, ऐसी सुन्दर नेट की मसहरी, ऐसा मोटा मोटा गंगोत्री का कम्बल—इतने पर भी नींद न आवेगी ?

दुर्गामोहन बाबू—बारदी के ब्रह्मचारी सोते नहीं थे। वह कहते थे कि नींद लेने से मेरा देहत्याग हो जायगा।

माँ—मृत्यु तो अनेक प्रकार की हो सकती है—एक अहंकार की मृत्यु, फिर देह की मृत्यु। और उर्द्ध गति बन्द होना अर्थात् जगत् या गतागति (आना जाना) में पड़ना भी मृत्युतुल्य ही है। इनमें से किस अर्थ में पिताजी ने यह बात कही! पिताजी की बात से तुम क्या समझे ?

दुर्गामोहन बाबू—उन्होंने मृत्यु नहीं कहा "पिण्डपात" कहा था।

माँ—इसका अर्थ यह है कि पिण्डपात होना न होना उनके Control में है। जीवित रहना या मर जाना, सभी योगियों की इच्छा के अधीन है।

दुर्गामोहन बाबू—श्रीरामकृष्णदेव और बारदी के ब्रह्मचारी ने कभी लिखना पढ़ना नहीं सीखा। श्री रामकृष्णदेव कहते थे कि लिखना पढ़ना सीखने में अहंकार होता है, इसी से उन्होंने लिखना पढ़ना नहीं सीखा।

माँ—पिताजी ने क्या ऐसा कहा था ?

दुर्गामोहन बाबू—श्रीमत् शारदानन्द कृत श्री श्री रामकृष्णलीला-प्रसंग में मैंने यह पढ़ा था।

माँ—मेरा तो पढ़ा सुना नहीं है, इसी से पूछ रही हूँ। फिर भी शास्त्र सब के भीतर ही है। लिखने पढ़ने से उसका प्रकाशमात्र होता है। सभी के भीतर ही एक एक पुस्तक है। उसे पढ़ने से ही सब हो जाता है।

दुर्गामोहन बाबू—लोकनाथ ब्रह्मचारी को भी उनके गुरु ने लिखने पढ़ने नहीं दिया। उन्होंने ब्रह्मचारीजी से कहा था कि लिखना पढ़ना जितना ज़रूरी है वह मैंने स्वयं ही कर दिया है। ब्रह्मचारी को कुछ नहीं करना होगा।

माँ—हाँ, विद्या तो सभी के भीतर है। उसको विकसित करने से ही हो जाता है। जिसको जान कर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता उसे जानने से ही हो जाता है। इसी एक विद्या से संसार की सब विद्याएँ प्राप्त हो जाती हैं। तुम्हारी जागतिक विद्याप्राप्ति के लिए जैसे भिन्न भिन्न धाराएँ हैं—जैसे कोई वकालत, कोई डाक्टरी विद्या प्राप्त करता है उसी प्रकार ब्रह्मविद्या प्राप्त करने की भी भिन्न भिन्न धाराएँ हैं। लोकशिक्षा के लिए सम्प्रदाय के हिसाब से इनका विभाजन किया हुआ है। फिर भी जागतिक विद्या और ब्रह्मविद्या में कुछ अन्तर है। जागतिक विद्या में एक धारा लेकर चलने से उस विषय का ज्ञान होता है यह सत्य है परन्तु और किसी विषय का ज्ञान नहीं होता। ब्रह्मविद्या की दफे भी जिस किसी भी साम्प्रदायिक धारा से अग्रसर हो कर ठीक ठीक स्थान पर पहुँचते ही समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब फिर कुछ भी अजाना नहीं रहता।

१२ पौष सवेरे जाकर सुना कि श्री श्री माँ के शरीर की मालिश वन्द कर दी गई है। एक भद्रपुरुष माँ के साथ गोपनीय वात कर रहे हैं, इसलिए कमरे का दरवाज़ा वन्द है। दुर्गामोहन वावू को वाहर प्रतीक्षा करते देखा। ७ बजे माँ के कमरे का दरवाज़ा खुला और हम सभी अन्दर जाकर वैठे।

श्रीयुत गंगाचरनदास गुप्त महाशय ने माँ से पूछा "आज आप का शरीर कैसा है ?"

माँ—कैसा लगता है ?

गंगाचरनवावू—अच्छा ही मालूम होता है।

माँ—एक ही सा चल रहा है। कभी रोग का प्रकाश और कभी प्रकाश नहीं। अभी देख रहे हो कि अच्छी हूँ—फिर कुछ ही देर वाद शायद देखोगे कि शरीर खूव खराव है। सव चीज़ों की एक स्वाभाविक गति है। तुम लोग कहते हो न कि हड़ (हर्रे) माता के समान काम करती है। वास्तव में ऐसा ही है। हड़ के जिन सव गुणों की वात सुनी जाती है, किसी किसी के ऊपर प्रयोग करने से उसके उन सव गुणों का प्रकाश भी देखा जाता है। परन्तु इस शरीर का तो सभी कुछ गोलमाल है। इसका जो होना होता है अपने आप ही हो जाता है। इसकी गति तुम लोग क्रिया करके दूसरे भाव में वदल नहीं सकोगे। इसीलिए औषधि इस शरीर पर क्रिया नहीं करती। विल्कुल ही क्रिया नहीं करती ऐसी वात नहीं है, क्योंकि जव शरीर है तो उसमें वस्तुगुण देखा जावेगा ही। फिर भी जैसा तुम लोग चाहते हो वैसी क्रिया नहीं करती। जैसे शरीर में अवसाद देखकर तुम लोग कोई उत्तेजक औषधि देकर उसे सवल रखने की चेष्टा करते हो। पर इस शरीर को यदि उत्तेजक औषधि दो तो उसके फलस्वरूप यह शरीर इतना उग्र हो उठेगा कि तुम्हीं उस समय उसके लिए अस्थिर हो उठोगे।

इसके बाद माँ ने दूसरी बात शुरू की। इसके पहले भद्रपुरुष से जो गोपनीय बात हो रही थी उसे लक्ष्य कर माँ कहने लगी, "कुछ ही पहले सृष्टि की बात कह रही थी। उस समय एक बात नहीं कही। सब बातें तो एक साथ होती नहीं। सृष्टि क्या है? एक का बहु होना ही सृष्टि है। जैसे पहले तुम अकेले थे, फिर विवाह करके दो हुए। फिर बालबच्चों को लेकर बहु हुए। इसी प्रकार भगवान भी एक होते हुए बहु हुए हैं। संसार में यह जो कुछ देखते हो वह उन्हीं की सन्तान है—उन्हीं के परिवार के अन्तर्गत है। जीव की बार जैसा है, भगवान की बार भी वैसा ही है। जिस गति से तुम एक होते हुए भी बहु हो कर माया ममता में आबद्ध हो पड़े हो, उस गति को रोक कर यदि विपरीत गति से चलो, तभी मुक्ति है। "मेरा लड़का", "मेरी लड़की", "मेरी धनदौलत" इत्यादि जो भी कहो उसी से देखा जायगा कि तुम एक होते हुए बहु हुए हो। इस बहु से एक में लौट जाना ही मुक्ति है। सृष्टिकर्ता के साथ एक होना ही मुक्ति है। जो भाव अधोगति से बन्धन की सृष्टि करे उसकी अधोगति का निरोध करके ऊर्ध्वगति कर देना होता है। जो भाव अधोगति में काम है वही ऊर्ध्वगति में प्रेम है। इसीलिए ऊर्ध्वरेता होने का उपदेश दिया जाता है। जिस वस्तु ने तुम्हें संसार में आबद्ध कर दिया है, वही वस्तु भिन्न गति से तुम जो थे वही बना देगी। यह जो भिन्न गति, ऊर्ध्वगति है वह गुरु शिष्य को देते हैं। स्वभाव की (ओर) गति गुरु से ही मिलती है। इसीलिए गुरुशिष्य सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है।

अवश्य जागतिक स्नेह इत्यादि जिनको हम बंधन कहते हैं, वह उन्हीं का क्षुद्र प्रकाश है। इसमें भी आनन्द है। यह आनन्द न हो तो संसार ही न चले। किन्तु उन्हें पाये बिना महान् आनन्द नहीं पाया जाता। संसार उन्हीं का प्रकाश है, उन्हीं की छाया है। किन्तु पूर्ण आनन्द, नित्य आनन्द, पाने के लिए छाया छोड़ कर काया को पकड़ना होगा। (दुर्गामोहन बाबू से) कल तुमने कहा था न कि रामकृष्णदेव एवं बारदी के ब्रह्मचारी ने लिखना पढ़ना नहीं सीखा था। वह

लिखना पढ़ना क्या सीखते। उन्होंने लिखने पढ़ने का भंडार लेकर जन्म ग्रहण किया था। ब्रह्मविद्या रूप से ही उनका प्रकाश। और क्या सीखेंगे।

बिल्ली बाँधने की कहानी

दुर्गामोहन बाबू ने विदा लेने के लिए प्रणाम किया। माँ ने हँस कर उनसे कहा, "आज तुम सब से पहले आकर भी सब से पीछे रह गए।"

दुर्गामोहन बाबू—मैंने सुना कि आज से आप का सब नियम भंग हो गया।

माँ—क्या नियम भंग हुआ है ? (यतीश बाबू को दिखा कर) इन लोगों को आज कहते सुना कि आज सारा दिन मुझे Rest देने के लिए सब को नीचे से ही विदा कर दिया जाय ऐसी व्यवस्था हुई है। यह सुनकर मैंने कहा कि यह सब नियम आज नहीं हो सकेंगे, क्योंकि कल अनेक लोगों से आज सवेरे मिलने आने को कहा जा चुका है। आज यह नियम करने से वह आकर लौट जायंगे। पर और दिन जैसे १२ बजे दरवाजा बन्द करने का नियम है वह ठीक ही है। (हँसकर) तुम लोग छिलका फेंककर असल चीज भी फेंक देते हो। बिल्ली बाँधने की कहानी तो जानते हो ?

एक मकान में एक बिल्ली थी। दुर्गापूजा के समय वह बहुत उत्पात करती थी। यह देखकर मकान के लोग पूजा के तीन दिन उसे बाँध कर रखते थे। अवश्य इन तीन दिनों में उसे भूखा नहीं रखा जाता था। समय पर उसे खाना दिया जाता था। केवल गले का बंधन नहीं खोला जाता था। यह नियम कई साल चला। कुछ समय बाद बिल्ली घर छोड़कर चली गई। उस वार पूजा के समय फिर बिल्ली का उत्पात नहीं था। पर घर के आदमियों ने सोचा कि दुर्गापूजा के समय बिल्ली को बाँध रखने का शायद नियम है। इसलिए उन्होंने दूसरे मकान से एक बिल्ली पकड़ कर पूजा के तीन दिन उसे बाँध रखा (सबका जोर से हँसना)। हम

लोग भी अनेक वार बिल्ली बाँधने का सा व्यवहार करते हैं। कई प्रयोजनों से नियम इत्यादि बनाए जाते हैं। पीछे प्रयोजन नहीं रहता पर नियम बने ही रहते हैं।

श्री श्री माँ की परीक्षा करने कविराज आए हैं। हम सब कमरे से बाहर निकल आए।

निर्बीज होने पर तत्त्व प्रकाशित होता है

१० बजे जब फिर मैं माँ के पास गया तो देखा कि माँ का कमरा आदमियों से भरा हुआ है। माँ उनके साथ बात कर रही हैं। एक भद्रपुरुष ने, मालूम होता है, भगवत्दर्शन के सम्बन्ध में प्रश्न किया था। माँ को कहते सुना, "वह दृष्टि यदि खुल जाय तो तुम जैसे मुझे देखते हो उसी तरह भगवान् को भी देख सकोगे। बात चीत भी कर सकोगे।"

भद्रपुरुष—यह रूप क्या स्थायी होता है ?

माँ—होता है और बदल भी सकता है।

भद्रपुरुष—बदल क्यों जाता है ?

माँ—उनके अनन्त रूप हैं, इसी से नाना प्रकार से वह थोड़ा थोड़ा दिखा देते हैं।

रामतारनबाबू—यह रूप भी तो मायिक रूप है ?

माँ—यह भी मायिक रूप है—अवश्य तब तक जब तक माया-ज्ञान है। जब माया कट जाती है तब सभी रूप उनके रूप हैं। तब जल और तरंग सभी सत्य हैं।

भद्रपुरुष—अच्छा माँ, आपने जो कहा कि वे (भगवान) आकर सब समझा देते हैं, तो मैं कब समझूँगा कि वह आकर सब समझा दे रहे हैं ?

पशुपतिबाबू—कभी भी नहीं (सब हँसते हैं)।

माँ—निर्बीज होने पर।

अभय—ऐसा होने से बीज नष्ट हो जाता है ?

माँ—होता भी है और रह भी जाता है।

अभय—तब तो बीज नष्ट एकदम नहीं होता ?

माँ—यह जो अभी कहा कि वीज रहता है और नहीं भी रहता। यह तो एक अलग अवस्था है। संस्कार को बीज कहा जाता है। संस्कार का ज्ञान रहते, एवं रहने न रहने का ज्ञान रहते निर्बीज होने की बात आती है। वह न होने पर बीज रूप से सभी है। निर्बीज होने के माने हैं संस्कारमुक्त होना।

अश्रु एवं प्रेमाश्रु

एक लड़का—माँ, बैठकर जप नहीं कर सका, परन्तु यदि रास्ते में चलते चलते नाम-जप किया जाय तो तब भी भगवत्साक्षात्कार की अवस्था प्राप्त हो सकती है ?

माँ—चेष्टा करना अच्छा है। चेष्टा करने से हो सकता है कि बैठकर जप करने की इच्छा हो। साइकिल पर जाते रास्ते का सब तमाशा देखना और जप करना, इससे क्या जप करना हुआ ? फिर भी न करने से कुछ करना अच्छा है। जप में मन लगाना होता है। आसन पर बैठकर जप करने पर भी जप नहीं होता—जप प्राणमय होना जरूरी है। जप होता कहाँ है ? जप होने से तो लक्षण का प्रकाश होता। लक्षण कहाँ ? नेत्र में रोग होने से नेत्र से अपने आप जल गिरने लगता है।

एक महिला—आपकी आँखों से मैंने जल गिरते देखा है।

माँ—क्या तुमने जल गिरते देखा है ?

महिला—हाँ, आपकी आँखों के जल से मेरा घुटना भींग जाता था।

माँ—तुम्हारा घुटना भींग जाता था या नहीं यह तो कह नहीं सकती। पर एक समय मेरी आँखों से भी जल गिरता था। वह किस तरह गिरता था? पिच पिच करके आँखों का जल चारों तरफ छिटक जाता था (रामतारनबाबू से) तुम लोगों ने वह नहीं देखा।

उस स्त्री को दिखाकर माँ ने मुझ से कहा, "यह बाजितपुर की बात कह रही है।"

अटलबाबू आज कलकत्ते आए हैं। श्री श्री माँ ने उनके साथ खूब हँसी तमाशा किया। १२ बजे तक माँ के पास बैठकर घर चला आया।

आगरपाड़ा में श्री श्री माँ

१३ पौष शुक्रवार (२६–१२–३८) श्री श्री माँ को आगरपाड़ा ले जाया गया है। आज कई दिनों से माँ को किसी निर्जन स्थान में ले जाने की बात हो रही है। एक दिन सुना कि माँ को दक्षिणेश्वर ले जाया जायगा और वह कुछ दिन वहाँ रहेंगी। और भी दो एक जगह की बात हुई थी। पर कल माँ का आगरपाड़ा में रहना स्थिर हुआ। ५ बजे माँ कलकत्ते से रवाना हो गईं। साथ में खुकुनीदीदी, अभयबाबू एवं और भी कईएक भक्त गए। जाने के समय माँ ने मुझसे पूछा कि तुम आगरपाड़ा जाओगे या नहीं। उत्तर में मैंने कहा कि जाने की चेष्टा करूँगा।

१४ पौष १॥ बजे आगरपाड़ा के लिए रवाना हुआ। कलकत्ते से बस से भी आगरपाड़ा जाया जा सकता है। पहुँचते पहुँचते तीन बज गए। श्री श्री माँ गिरिबाला के मन्दिर में थीं। मन्दिर पहुँचकर देखा कि माँ तब भी विश्राम कर रही थीं। त्रिगुणाबाबू, यतीशबाबू, अवनीबाबू आदि भक्तों को वहाँ उपस्थित देखा।

गिरिबाला का मन्दिर ठीक गंगा के ऊपर है। मन्दिर के पश्चिम की ओर गंगा बहती हैं। मन्दिर एवं गंगा का दृश्य देखकर मालूम होता है कि वह मानो

दक्षिणेश्वर का एक छोटा संस्करण है। मन्दिर दक्षिणास्य है और उसमें श्रीराधा-गोविन्द-विग्रह स्थापित है। मन्दिर के सामने एक बड़ा सा नाटमन्दिर है। मन्दिर के पश्चिम ओर उत्तर और दक्षिण में एक के बाद एक शिवमन्दिर हैं। मन्दिर के पूर्व में भी कई एक कमरे हैं। सारा आँगन पत्थर का बना है। शिवमन्दिरों के पश्चिम एक बड़ा पक्का घाट है। वह गंगा को रोक कर (बाँध कर) बनाया गया है। सभी कुछ दक्षिणेश्वर के आदर्श पर निर्मित है। इस देवालय के पश्चिम-दक्षिण कोने में एक छोटे कोठे में श्री श्री माँ के रहने का स्थान किया गया है। कोठे के पश्चिम में एक छोटा बरामदा है जो श्वेत पत्थर का बना है। बरामदे के सामने ही गंगा हैं। स्थान खूब सुन्दर है।

आगरपाड़ा पहुँच कर अभय आदि एवं यतीशबाबू आदि से सुना कि आज सवेरे श्री श्री माँ पानिहाटी राघव पंडित के घर गई थीं। इन्हीं राघव पंडित के घर एक समय श्रीचैतन्यदेव गए थे और जिस वटवृक्ष के नीचे वह बैठे थे वह अभी भी है। श्री श्री माँ ने राघव पंडित के घर जाकर कहा था, "कल रात जब लेटी थी तो देखा कि मैं यहाँ आई हूँ एवं इस वेदी के पास आकर खड़ी हूँ और मेरा सारा शरीर रोमांचित हो उठा है। आज यहाँ आकर शरीर की वही अवस्था देखी।"

अपराह्न में प्रायः ४ बजे माँ कमरे से बाहर निकलकर हाथ मुँह धोने गईं। फिर गंगा के किनारे पक्के घाट पर आकर बैठीं। घाट पर उस समय भी धूप थी। जिस स्थान पर माँ के बैठने के लिए आसन बिछाया गया था वहाँ पर एक पेड़ की थोड़ी छाया थी। हम लोग माँ को घेर कर बैठे। पानिहाटी से कई स्त्रियाँ माँ से मिलने आई थीं। वह माँ के सामने बैठीं पर वह माँ को ठीक से देख नहीं पा रही थीं, क्योंकि धूप उनके मुख और नेत्रों पर पड़ रही थी। धूप के कारण असुविधा होने पर भी वह उसे सहन करके एकटक माँ को देख रही थीं। माँ उन्हें इस तरह ताकते देखकर हँसकर कहने लगीं, "तुम लोगों को सूर्यत्राटक हो रहा है।"

सवेरे जो माँ पानिहाटी गई थीं, उसका उल्लेख करके उन स्त्रियों में से एक ने कहा, "माँ, आप हमारे घर के पास होकर गईं पर तब आप को देख नहीं सकी, इसीलिए इतनी दूर से देखने आई हूँ।"

माँ—मैं तुम्हारी लड़की जो हूं। लड़की को देखने आओगी नहीं ? फिर भी मैं तो जाती नहीं। यह (अर्थात् भक्तगण) कृपा करके मुझे ले गए थे।

श्री श्री माँ का आगरपाड़ा आने का कारण

खुकुनीदीदी मेरे पास बैठी थीं। उन्होंने मुझसे कहा, "माँ ने कल सवेरे कहा था कि इस मन्दिर के राधागोविन्दविग्रह ने ही माँ को आगरपाड़ा बुलाया था।" मुझे सन्देह प्रगट करते देखकर दीदी मुझे समझाने की चेष्टा करने लगीं। हम लोगों को इस प्रकार वाद-विवाद करते देखकर माँ हँसने लगीं। अन्त में दीदी ने मुझसे कहा कि माँ से ही पूछो। आखिरकार माँ से ही प्रश्न किया गया कि "माँ, तुम ने क्या यह कहा है कि इस मन्दिर के विग्रह गोविन्दजी ही तुम्हें यहाँ बुलाकर लाए हैं ?"

माँ—हाँ, यह शरीर तो चलता नहीं। इसी से वह चला लाए।

अभय—जो चलती फिरती हैं उन्हें चलाकर लाए कौन ? जो हिल डुल भी नहीं सकते, है न ? (सब हँसते हैं)।

मैं—गोविन्द किस मूर्ति से तुम्हें बुलाने गए थे। यह जो पत्थर की मूर्ति मन्दिर में है उसी मूर्ति से गए थे ?

माँ—हँसने लगीं।

मैं—माँ, इस मन्दिर के विग्रह पर तो परमब्रह्म की ही पूजा होती है। वह फिर किस मूर्ति से तुमको बुलाने जायंगे ?

माँ—तुम लोग जिस तरह मुझे बुला लाते हो, उसी तरह गए थे। नवद्वीप से जो उस बार हठात् पुरी लौट गई, उस बार भी तो जगन्नाथ मुझे बुलाने आए थे और मेरे लिए हाथ में एक पान लेकर आए थे।

इस विषय को लेकर और आलोचना करने की इच्छा नहीं हुई। जिस जगत वा अवस्था की बात माँ कह रही थीं वहाँ हमारा प्रवेशाधिकार नहीं। जिसकी धारणा बिल्कुल भी नहीं कर सकता उसकी और आलोचना क्या ?

योगक्षेमं वहाम्यहम्

श्री श्री माँ के आगरपाड़ा आकर ठहरने का बन्दोबस्त जिन भद्रपुरुष ने किया था उन्होंने माँ से पूछा, "कल रात यहाँ आपको मच्छरों ने तो नहीं काटा ?"

माँ—तुम लोगों ने ऐसा मसहरी का बन्दोबस्त कर दिया था कि उससे फिर मच्छर कैसे काटते ? इसके अतिरिक्त यह लोग मच्छर भगाने की औषधि साथ ले आए थे। फिर मसहरी न होने से भी क्या ? (ओढ़ी हुई मटके की चादर दिखाकर) मसहरी मेरे साथ ही रहती है। जितनी देर लेटना है उतनी देर शरीर की चादर को सिर से ओढ़कर पड़े रहने से काम चल जाता है। मच्छर फिर काटेंगे कैसे ?

जब मैं ढाका शाहबाग में थी तो बहुत बार इसी एक भाव में पड़ी रहती थी। उस समय शरीर की चादर तो दूर की बात थी अनेक समय वस्त्र भी नहीं रहता था। ढाका के मच्छरों का तो नाम है ही। शरीर पर मच्छर बैठते थे। इस अवस्था में यह लोग मुझे स्पर्श करने का साहस न कर सकने से मसहरी भी नहीं टाँग सकते थे। परन्तु शरीर पर इतने मच्छर बैठने पर भी कहीं पर शरीर में मच्छर काटने का निशान नहीं दिखाई देता था। पेड़ अथवा फल पर मच्छर बैठने से जैसे उन पर (फल और पेड़ पर) कोई निशान नहीं देखा जाता, इस शरीर पर भी वैसे ही कोई दाग नहीं पड़ता।

मैं—माँ, मच्छर क्या तुमको काटते ही न थे या मच्छरों के काटने पर भी तुम्हारे शरीर पर काटने का दाग नहीं पड़ता था ?

माँ—मच्छर शरीर पर बैठते मात्र थे, किन्तु उनका काटने का कोई भाव न होता था। इसके अलावा जिस जंगली स्थान में मैं थी वहाँ मच्छर ही क्या और भी कितने जन्तु काट सकते थे। पर कभी किसी ने नहीं काटा। इस अवस्था में कितनी ही बार जंगल में काँटों के ऊपर होकर यह शरीर लोटता पोटता गया है। उस समय काँटे इत्यादि का विचार करके चलने की अवस्था नहीं रहती थी। यह लोग सदा शंकित रहते थे कि कहीं मैं लुढ़ककर आग में या किसी गड्ढे में न गिर पड़ूँ। इसलिए यह सदा शरीर के साथ साथ जाते थे पर तब भी देखा गया कि यह सब कुछ नहीं हुआ। काँटों के ऊपर होकर शरीर के चले जाने पर भी शरीर में कोई काँटा चुभा नहीं और शरीर जिस समय हल्का होता उस समय नरम मिट्टी के ऊपर होकर चलने पर भी उससे उस पर पैर का कोई चिन्ह नहीं पड़ता था।

सन्ध्या हो आने से हम लोग आकर नाटमन्दिर में बैठे। स्थानीय जो सब लोग आए थे उनमें से बहुत लोग चले गए। सन्ध्या के कुछ बाद ही भिन्न भिन्न शिव-मन्दिरों में आरती हुई। गोविन्दजी की भी आरती हुई। अभय आदि ने माँ का भजन गाया। इस अवसर पर माँ ने मुझे ढाका आश्रम के सम्बन्ध में कुछ परामर्श दिया। स्वामी अखण्डानन्द एवं खुकुनी दीदी भी उपस्थित थीं। इसके बाद मैं माँ को प्रणाम करके कलकत्ते लौट आया।

१५ पौष रविवार (३१-१२-३८) आज भी १॥ बजे के करीब आगरपाड़ा के लिए रवाना हुआ। आज भी करीब ५ बजे माँ गंगा के किनारे पक्के घाट पर आकर बैठीं। कलकत्ते से बहुत भक्त आए थे। स्थानीय लोग भी बहुत थे। सब घाट आज आदमियों से भरा हुआ था।

बात की शक्ति

श्री श्री माँ के आसन पर बैठने पर अभय ने माँ से कोई बात कही। मैं अभय से बहुत दूर बैठा था, इसलिए उसकी बात सुन नहीं पाया पर मैंने माँ को कहते सुना कि "इसी को बात की शक्ति कहते हैं। शब्द ब्रह्म है न ? देखो, बात के बल से अपरिचित आदमी भी अपना हो जाता है और बात के बल से ही अपने जन के ऊपर भी कितना कुछ हो जाता है—रक्तपात इत्यादि।"

साधन समर के अतुल ब्रह्मचारी महाशय बोले, "बात के बल से अपना जन और भी अपना हो जाता है।"

माँ—हाँ, कितनी दिशाओं में कितना कुछ हो सकता है, वह कह कर शेष नहीं किया जा सकता। सभी दिशाओं में तो वह अनन्त हैं न। उससे युद्ध नाना भाव से होता है जैसे वाक्युद्ध। वाक्यवाण कहते है न ? इस बाण से भी युद्ध होता है और धनुषबाण से भी युद्ध होता है। शत्रुभाव से भी उसे पाने की चेष्टा की जाती है और मित्र वा शान्त भाव से भी उनका भजन किया जाता है। शान्त अशान्त सब वही जो हैं। जो भी मात्र देखोगे सब उन्हीं का प्रकाश है। मनुष्य को अस्थिर अशान्त देखकर मन में सोचोगे यह भी वही हुए हैं (यह भी उन्हीं का रूप है)।

सद्गुरु के आश्रित के पक्ष में कर्म विपाक नहीं है

अतुल ब्रह्मचारी—तब कर्म और कर्मफल रहा कहाँ ?

माँ—कर्म और कर्मफल भी है। जब तक अहंबुद्धि है तब तक 'मेरा कर्म' इत्यादि बोध भी है। इस अहंबुद्धि के चले जाने पर कर्म, कर्मफल कुछ भी नहीं रहता। तब अपने को उनके हाथ का यंत्र समझा जाता है। तब वास्तव में ही

यन्त्र यन्त्री भाव फूट उठता है। जरूरत होने पर जब तक अहंबुद्धि रहे,—मैं कुछ कर रहा हूँ, कर सकता हूँ—यह विश्वास रहे, तब तक इस विश्वास को लेकर ही उनके काम में लग जाना।

अतुल ब्रह्मचारी—इस भाव से काम करने पर भी क्या अग्रसर हुआ जा सकता है ?

माँ—हाँ, जिस भाव से ही काम क्यों न करो, उसी भाव से अग्रसर होगे। शुद्धभाव बढ़ाने के लिए कर्म करने से उसका फल रह जाता है और भोग वासना को लेकर कर्म करने से उसका फल भी रह जावेगा। जिस ओर की चेष्टा करोगे उसी ओर अग्रसर हो सकोगे। कर्म के अनुसार फल होगा ही। (मुझसे) यह सब बात किन्तु सद्गुरु के आश्रित के पक्ष में नहीं घटती। एक बार यदि कोई सद्गुरु से कृपा पाये तो वह किसी भी भाव से चाहे कर्म करे वह पूर्णत्व की ओर ही अग्रसर हो रहा है। विषय भोग लेकर रहने पर भी वह इसी मार्ग पर चल रहा है। इसका कारण यह है कि यदि अग्नि की चिनगारी एक बार पड़े तो यह अपने आप ही शिष्य के समस्त संस्कार को जला देगी।

(अतुल ब्रह्मचारी से) जब कर्म के अनुसार फल होता है तो शुद्ध बुद्धि से ही कर्म करना अच्छा है, क्योंकि शुद्ध बुद्धि से काम करने से उसकी आँच लगेगी ही। यह भी स्वाभाविक है। जैसे गंगा के किनारे बैठने से शरीर में ठंडी हवा लगना स्वाभाविक है। इसी प्रकार जो भाव लेकर रहोगे उसकी छाप भी मन के ऊपर पड़ जायगी। संसार की समस्त आवर्जनाओं के मध्य में भाव शुद्ध रखने की चेष्टा करोगे।

अतुल ब्रह्मचारी—माँ, तुम ने एक दिन यज्ञ में आहुति देने की बात पर कहा था कि यज्ञ में आहुति देते देते आहुति हो जाती है। आहुति किस प्रकार हो जाती है ?

माँ—हाँ, केवल आहुति ही क्यों, सभी वस्तु ही तो ऐसे ही हैं। जैसे नाम करना और नाम होना; पूजा करना और पूजा होना। लोग विधिवत् पूजा करना आरम्भ करते हैं एवं दिन पर दिन निर्दिष्ट भाव से पूजा करते जाते हैं। इस प्रकार की पूजा करते करते जब सत्य ही उनकी पूजा हो जाती है तब फिर और उनकी पूजा रहती नहीं। जैसे पेट भरने पर और खाया नहीं जाता। अच्छा, यज्ञ में आहुति देते क्यों हो ?

अतुल ब्रह्मचारी—बहिर्मुख इन्द्रियाँ जिससे बद्ध हों इसलिए।

माँ—यही तो कहा कि आहुति देने से कुछ होता है। कुछ होने के लिए लोग कर्म करते हैं।

अतुल ब्रह्मचारी—मैंने तुम्हारी बात सुनकर सोचा था कि आहुति देते देते अन्त में अपने को ही आहुति दे डालता है अर्थात् अग्नि में जल मरता है।

माँ—(हँसकर) अपने को आहुति देना माने क्या ? अपनी अहंबुद्धि की आहुति देना। जब इस अहंबुद्धि की आहुति दी जाती है तभी वास्तविक आहुति होती है। त्रिफला का जल मत पीयो।

अतुल ब्रह्मचारी—त्रिफला का जल क्या ?

माँ—(हँसकर) एक गुरु ने अपने शिष्य से त्रिफला का जल पीने को कहा। त्रिफला का जल पीने के अर्थ द्वारा गुरु सत्त्व, रज और तम इन त्रिगुणों की या ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर इन त्रिमूर्तियों की उपासना समझाना चाहते थे। शिष्य इतने दूर की न सोच कर सीधे सादे बाजार से त्रिफला ले आया और उसे भिगोकर रोज बार बार जल पीने लगा। इसके फलस्वरूप उसे सर्दी, खाँसी इत्यादि हो गई (सब हँसते हैं)।

मैंने एक वृद्ध से मुख में मिश्री रखने को कहा था। मुख में मिश्री रखना

माने सर्वदा नाम-जप करना। मिश्री मुख में रखने से जैसे वह धीरे धीरे गल जाती है और मुख में मीठा स्वाद पाया जाता है—वैसे ही सर्वदा नाम करने से सब मधुमय हो जाता है। वृद्ध मेरी बात न समझ सका और दूसरे दिन सचमुच ही जेब में मिश्री भर कर खाते खाते मेरे पास आया (सब हँसते हैं)।

त्रिगुणाबाबू—यह जैसे "त्वया सह"।

कई लोगों ने "त्वया सह" की क्या कहानी है जानना चाहा।

माँ (हँसकर)—"त्वया सह" की कहानी कहूँ? अच्छा कहती हूँ। एक ब्राह्मण सन्ध्या समय नदी के किनारे दैनिक क्रिया करने को बैठे थे। सन्ध्या होने के कारण नदी के किनारे कोई न था। ऐसे समय एक स्त्री नदी से जल लेने आई। ब्राह्मण आँख बन्द करके जप कर रहे थे। ऐसे समय उन्होंने सुना कि स्त्री ने छींका। ब्राह्मण को पूर्व शिक्षा दी गई थी कि किसी के छींकने पर उसे "जीव सहस्र" अथवा "जीव" कहकर आशीर्वाद देना चाहिए एवं जो छींकता है वह इस आशीर्वाद को सुनकर कहता है "त्वया सह"। इसलिए छींकने का शब्द पाते ही ब्राह्मण सन्ध्या त्याग कर बोल उठा, "जीव" और कान लगाकर सुनने लगा कि स्त्री "त्वया सह" कहती है या नहीं। किन्तु स्त्री "त्वया सह" यह सब कुछ जानती नहीं थी। वह अपने मन से कलश में जल भरकर घर की ओर रवाना हुई। उसको इस प्रकार जाते देखकर ब्राह्मण जोर से बोल उठे, "बच्चा तुम" "त्वया सह" बोलकर नहीं गईं?" ब्राह्मण की यह बात सुनकर स्त्री ने सोचा, यह फिर क्या कह रहा है। घाट पर और कोई आदमी भी नहीं है। यह पागल तो नहीं है? यह सोचकर वह जल्दी जल्दी चलने लगी। अब तो ब्राह्मण आसन छोड़ उठ खड़े हुए और "त्वया सह" कहती जाओ कहते हुए उसके पीछे हो लिए। स्त्री ने ब्राह्मण को पीछे आते देखकर सोचा कि यह निश्चय ही पागल है। तब उसने दौड़ना शुरू किया। ब्राह्मण भी पीछे पीछे भागे। इस तरह स्त्री ने घर पहुँच कर

दरवाजा वन्द कर दिया। ब्राह्मण छोड़ने वाला नहीं था। वह दरवाजे पर खड़े होकर तब भी कह रहा था, "ओ बच्चा, तुम एक बार "त्वया सह" कह दो, मैं चला जाऊँ। मेरी दैनिक क्रिया पड़ी है।" चिल्लाने पुकारने से एक अन्य आदमी वहाँ आकर उपस्थित हुआ। तब समझ में आया कि बात क्या थी (सबका उच्च हास्य)।

हमारा भी यही हाल है। असली चीज की ओर लक्ष्य नहीं, व्यर्थ या बेकार चीज के पीछे ही हम भागते फिरते हैं। बिल्ली बाँधने की कहानी उस दिन मैंने कही थी।

इसी समय सुकेत के राजा माँ से मिलने आए। वड़े दिन के उपलक्ष्य में कलकत्ते आए थे एवं दो बार यहाँ माँ से मिल चुके हैं। मैंने देखा कि राजा खूब भक्तिमान हैं। उन्होंने श्री श्री माँ के चरणों में एक नोट रखकर प्रणाम किया और दूर जाकर हाथ जोड़कर खड़े रहे। माँ उन्हें देखकर हँसकर बोलीं, "मन्दिर में गोविन्दजी को देखा न? यही इस शरीर को यहाँ ले आए हैं। मैं फिर क्या करूँ, बोलो?" राजा हँसे फिर विदा हो गए। कुछ देर बाद मैं भी माँ को प्रणाम कर कलकत्ते वापिस आ गया।

—क्रमशः

पूना आश्रम में श्री श्री माँ के दर्शन के लिए राष्ट्रपति

स्वामी चिन्मयानन्द गिरि

गत ९ जून को हम लोग श्री श्री माँ के साथ बम्बई से पूना आये। मैं पूना आश्रम में पहले भी एकाधिक बार आ चुका हूँ। तब तक यहाँ वर्षा नहीं हुई थी। चारों ओर न जाने कैसा नीरस सूखा था। इस बीच में दो तीन बार वर्षा हो गई है। वर्षा के जल से शहर धुलपुछ कर साफ हो गया है। सड़क के दोनों ओर वृक्ष-पंक्तियों में अब वह पहले की सी उदासी नहीं है, वे मानो नये ताजे हो गये हैं। चारों ओर भूमि पर हरियाली छा गई है। श्यामल दूब के उगने से मालूम पड़ता है है कि शहर में खूब वर्षा हो गई है। मार्ग के दोनों किनारों पर कृष्णचूड़ा के लाल फूलों ने अपूर्व शोभा धारण की है। बम्बई की तुलना में पूना में गर्मी बहुत कम पड़ती है। पहली वर्षा होने के साथ ही साथ यहाँ वायु में स्निग्ध शीतलता आ गई है। इस समय यहाँ की आबहवा बहुत ही भव्य है। पूना में आकर बम्बई की सारी थकावट दूर हो गई।

शहर के एक छोर पर खुले मैदान में हम लोगों का आश्रम है। पहले भी माँ इस आश्रम में बम्बई से दो एक बार आ चुकी हैं। आश्रम छोटा और एकतला है, बंगला पाटन का आसपास कई कमरे हैं। यहीं माँ, हरिबाबा एवं लड़कियों के रहने की व्यवस्था हुई है। आश्रम में श्री श्री माँ के आगमन के कारण पण्डाल, जल, कल, प्रकाश और मार्ग सब दुरुस्त हो गए हैं। हरी हरी दूब से आश्रम का आँगन छा गया है। आश्रम के कृष्णचूड़ा के पेड़ों ने भी माँ के आगमन के उपलक्ष में अपूर्व हरियाली धारण की है। हरिबाबा और माँ दोनों जन उपस्थित हैं। दूर दूर देशों से भक्तों की भीड़ आ रही है। दर्शनार्थी लोगों की गाड़ियों की भीड़ लगी ही है। सबेरे, दोपहर और शाम को पाठ, कीर्तन, आरती और सत्संग से आश्रम गुलजार है।

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के पूना आगमन का समाचार हम लोगों को वम्बई में ही मिल चुका था। पर वे यहाँ आकर श्री श्री माँ के दर्शन करेंगे यह हमें ज्ञात न था।

२३ जून प्रातःकाल राष्ट्रपति के सेक्रेटरी के साथ मार्ग में हम लोगों की भेंट हुई। वे आश्रम में ही आ रहे थे। उनके साथ हमारा पहले से ही परिचय है। उन्होंने कहा, राष्ट्रपति श्री श्री माँ का दर्शन करना चाहते हैं, कब संभव होगा? हम लोगों ने उन्हें माँ के समीप ले जाकर और माँ के साथ परामर्श कर उसी दिन शाम को पौने छह बजे साक्षात्कार का समय निर्धारित कर दिया।

ठीक पौने छह के समय पूना राजभवन से सात आठ मोटर गाड़ियाँ आ पहुँचीं। दूसरी गाड़ी से राष्ट्रपति ने अवतरण किया। पानूदा यथोचित स्वागत कर उन्हें माँ के कमरे में ले गये।

आश्रम की पहली सीढ़ियाँ चढ़कर वारामदा है, उसके बाद बगल के कमरे हैं। प्रथम दो कमरे पार कर पानूदा ने राष्ट्रपति को लेकर माँ के कमरे में प्रवेश किया। माँ की खाट के सामने ही आसन बिछे थे, एक पर राष्ट्रपति और दूसरे पर राज्यपाल श्रीप्रकाशजी उपविष्ट हुए। माँ ने भी उनके सामने एक आसन पर उपवेशन किया। कमरे में यद्यपि जगह बहुत कम थी पर माँ की व्यवस्था ऐसी सुन्दर थी कि और भी चार पाँच व्यक्ति अनायास उस कमरे में बैठ सके। दीदी और महामहोपाध्याय श्रीयुक्त गोपीनाथ कविराजजी पहले से ही उस कमरे में विद्यमान थे। दरवाजे के पास एक कुर्सी पर कविराजजी एवं उन्हीं के निकट एक मोढ़े पर दीदी के बैठने की व्यवस्था हुई थी। दीदी के समीप पानूदा थे। सब के उपविष्ट होने पर राष्ट्रपति के साथ की लड़कियाँ धीरे धीरे कमरे में प्रवेश कर राष्ट्रपति की दाहिनी ओर बैठ गईं। कमलदा माँ के आदेशानुसार दरवाजे पर खड़े होकर सबका स्वागत कर रहे थे। राष्ट्रपति के अङ्गरक्षक दो तीन आदमी थे, वे भी आकर दरवाजे पर खड़े हो गये। इनमें से एक के हाथ में दो थाल थे; वे फूल-माला और

फलों से सुसज्जित थे। राष्ट्रपति के साथ की लड़कियों में से एक ने दो थाल माँ के चरणों में रखकर खूब भक्तिभाव से माँ को प्रणाम किया। राष्ट्रपति और श्रीप्रकाशजी के प्रणाम करते ही माँ ने उन्हें माला पहना दी। माँ के कमरे के दोनों ओर बरामदा है। आश्रम के साधु, ब्रह्मचारी, लड़कियाँ और स्थानीय भक्तों के अतिरिक्त बहुत लोग उस दिन सत्सङ्ग के लिए आये थे। वे सभी भारत के श्रेष्ठतम मानव के साथ जगद्वरेण्य माँ का कथोपकथन सुनने के लिए उत्सुक थे। राष्ट्रपति का शरीर अच्छा नहीं, बन्द कमरे में बैठना उनके स्वास्थ्य के अनुकूल न होगा, इसलिए पहले ही उनके सेक्रेटरी ने कमरे की खिड़कियाँ और दरवाजे खुले रखने की बात हम लोगों से कह दी थी। उन्होंने यह भी कहा था कि खिड़कियों और दरवाजों पर लोगों की भीड़ न हो, यथासाध्य प्रयत्न करने पर भी वह संभव न हो सका। सामने के दरवाजे के निकट राष्ट्रपति के साथ के लोग तथा आश्रम के पुरुष खड़े थे। पीछे के बरामदे में आश्रम की लड़कियाँ कुछ बैठी और कुछ खड़ी थीं। माँ के कमरे की खिड़की के निकट बाहर बरामदे में नानीजी (माँ की माँ) के बैठने की व्यवस्था थी। संकीर्ण कमरा होने पर भी हवा रुकने लायक कोई विशेष भीड़ नहीं हुई, इसीलिए प्रतीत होता है कि राष्ट्रपति लगभग १ घण्टा बैठकर माँ के साथ सत्सङ्ग कर सके थे। सभी अधीर आग्रह के साथ कमरे के भीतर बैठे राष्ट्रपति तथा जगज्जननी श्री श्री माँ की ओर बार बार दृष्टि डाल रहे थे। बाहर प्रतीक्षा कर रहे भक्तों को भय था कि माँ यदि धीरे बातें करेंगी तो शायद हम सब सुन न पावेंगे। किन्तु अन्तर्यामिणी माँ भक्तों का मनोभाव जान गई थीं, इसीलिए उन्होंने बोलते समय सबके श्रवणगोचर होने योग्य उच्च कण्ठ से ही बोलना आरंभ किया था।

राष्ट्रपति ने माँ से विनीत भाव से कहा, "माँ, हम लोगों को कुछ उपदेश देने की कृपा करें।"

माँ—पिताजी, मैं क्या उपदेश दूँ, कहकर कुछ देर चुप रहीं। फिर,

श्रीयुक्त गोपीबाबू की ओर दृष्टि डालकर बोलीं ; "बाबा, आप कुछ कहिये न ?" गोपीबाबू ध्यानस्थ रूप में बैठे रहे, कुछ बोले नहीं ।

श्रीप्रकाशजी—माँ, आज कल जगत् में अनीति खूब बढ़ गई है। इसका क्या प्रतीकार है ?

माँ—बहुत दिनों की बात है। एक समय यह शरीर मंसूरी गया था। अपराह्ण के समय मैदान में बैठकर स्कूल के बालक-बालिकाओं का खेल देख रहा था। एकाएक दूर पर घण्टा बजते ही खेल बन्द हो गया। जगत् भी ऐसा ही एक क्रीड़ा-स्थल है। संसार में उस तरह के घण्टे के बजते ही हम लोगों को भी साधन मार्ग में चलने के लिए प्रस्तुत हो जाना चाहिये। साधन मार्ग में जाने के लिए हमारे ऋषियों ने चार आश्रम बनाये थे ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। इन प्रत्येक आश्रम में शिक्षा दीक्षा, रीति और नीति के मध्य मनुष्य का जीवन गठित होता था। बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु की सेवा कर विद्योपार्जन किया जाता था, तदनन्तर गार्हस्थ्य आश्रम में संसारी होकर फिर अधेड़ अवस्था में वानप्रस्थ का अवलम्बन कर मनुष्य एकान्त में साधन-भजन करता था एवं वृद्धावस्था में संन्यास ग्रहण कर परमार्थचिन्तन में जीवन व्यतीत करता था ! आजकल यह आश्रमजीवन नष्ट हो गया है। बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य जीवन में जो शिक्षा और साधना होती थी उसी से आगे के तीन आश्रम ठीक ठीक गढ़ उठते थे। शिक्षा के ऊपर ही मनुष्य का जीवन गठन निर्भर है। यदि जीवन को भली भांति सुगठित करना हो, दुराचार से जीवन को बचाना हो तो बाल्यावस्था के ब्रह्मचर्याश्रम पर ध्यान देना चाहिये। प्रारम्भिक जीवन में, ब्रह्मचर्य आश्रम में, जीवन यदि सदाचरण में चले तो फिर दुराचरण जीवन में आ नहीं सकता। ब्रह्मचर्य आश्रम में यदि शिक्षा-दीक्षा समुचित रूप से हो तो आगे का जीवन भी सदाचारपूर्ण होगा। जिन लोगों की बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य शिक्षा ठीक ठीक होती है उन्हीं के गृहस्थाश्रम में दुराचार, अवनति नहीं आ सकती। जो लोग शास्त्रानुमोदित गृहस्थाश्रम का पालन करते हैं उनके आगे

आने वाले परमार्थ जीवन-यापन में कोई विघ्न-बाधा उपस्थित नहीं होती। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने अपने आश्रमजीवन का पालन कर स्वधर्म का पालन करते थे। शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार जीवन-यापन करने पर जीवन में उच्छृङ्खलता, दुराचरण आ नहीं सकते। किन्तु पिताजी, काल की गति से ब्रह्मचर्य आश्रम नष्ट हो गया है। "Foundation" (नीव) नष्ट होने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है। मनुष्य के जीवन का Foundation है यही ब्रह्मचर्य, इसकी ठीक ठीक शिक्षा न होने के कारण मनुष्य में इतना अनाचार प्रवेश कर गया है। एक वार यदि भीत दुरुस्त हो जाय अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम ठीक तरह से गठित किया जाय तो सभी आश्रम ठीक ठीक चलेंगे। मनुष्य के जीवन से अनाचार दुराचार सब दूर हो जायेंगे। यदि अनाचार दूर करना हो तो यह नीतिज्ञ (सदाचारी) शिक्षक द्वारा ही संभव है। नीतिज्ञ शिक्षक यदि शिक्षा का उत्तरदायित्व ग्रहण करें तो ब्रह्मचर्य आश्रम की शिक्षा के समय ही बालकों का जीवन नीति द्वारा गठित होगा। एक यथार्थ नीतिज्ञ शिक्षक की शिक्षा से बहुत लोगों का उत्तम जीवन गठन होना संभव है। जैसे एक बीज से अनन्त वृक्ष उत्पन्न होते हैं वैसे ही एक नीतिज्ञ शिक्षक के द्वारा वहुत से उत्तम पुरुषों की सृष्टि की जा सकती है। केवल सत्-शिक्षा के द्वारा ही यह संभव है।

मनुष्य की अनन्त गति, अनन्त स्थिति सब कुछ अनन्त है। जिसकी गति है उसी की स्थिति है। जनताजनार्दन तो एकमात्र हरि के जन हैं। एकमात्र हरि ही हैं। हरि का भजन करो, हरि का ही चिन्तन करो, हरि का ही ध्यान धरो। हरि ही पिता हैं, हरि ही माता हैं, हरि ही बन्धु हैं। सब रूपों में हरि ही हैं। सब की भगवान् के रूप में सेवा करने पर भगवद्बुद्धि का उदय होता है। गुरु की आज्ञा का निष्ठा के साथ पालन करने की आवश्यकता है। अपने जीवन की कार्य-सूची ठीक ठीक रखनी चाहिये। कर्म के साथ साथ सदा यह स्मरण रखना चाहिये 'हे भगवान्, तुम ही हो, तुम्हीं हो।' भगवान् कहाँ नहीं हैं? सभी में वह मौजूद हैं।

पर्दा या आवरण पड़ा है, इसीलिए सब जाना नहीं जा सकता। नीतिज्ञ शिक्षक के द्वारा सत् शिक्षा देने पर मनुष्य में सत्-जीवन व्यतीत करने की इच्छा जागेगी। सत्कर्म, सद्विचार, सदाचार, सद्ग्रन्थों का अध्ययन कर मनुष्य अपना जीवन गठित करेगा। महापुरुषों की जीवनी से भी यही शिक्षा प्राप्त होगी। इसी से मनुष्य की जीवनधारा मोड़ लेगी।

हरिकथा ही कथा है और सब वृथा व्यथा है। दुर्बुद्धि से ही दुर्गति होती है। उसी से जन्म और मृत्यु का प्रवाह चलता है। भगवद्बुद्धि, भगवच्चिन्तन, भगवान् की चर्चा करना, उनका स्मरण करना—सभी कर्मों वे हैं, यह स्मरण रखना चाहिये। तभी सत् की ओर अग्रसर हुआ जाता है। सर्वदा सत्संग और महापुरुषों की जीवनी का वार बार पर्यालोचन करना चाहिये। फिर, अभ्यास के द्वारा ही यह संभव है।

श्रीप्रकाशजी—व्यवहार में क्या यह संभव है ?

माँ—अभ्यास से सब कुछ संभव है, तुम्हारे सिवा और कोई नहीं है। इसलिए सत्य में निष्ठा रखना आवश्यक है। सत्य में दृढ़ निष्ठा हुए बिना यह संभव नहीं है। भगवान् सत्यस्वरूप हैं। अभ्यास द्वारा उनमें निष्ठा रखो। वे अद्वैत स्वरूप हैं, वे ही परमात्मा हैं, वे ही राम और वे ही कृष्ण हैं। जिसका जो मत हो उसी मत और पंथ से एक ही स्थान पर पहुँचा जाता है। यदि पूना आना हो तो मोटर, रेल, हवाईजहाज—नाना प्रकारों से आया जाता है। एक ब्रह्म है, दूसरा नहीं है। निकाकार साकार सभी वे हैं। माँ काली, दुर्गा, शिव सभी वे हैं। हमारा इष्ट कृष्ण अन्य के निकट यह दुर्गा है और दूसरे का इष्ट हमारे निकट इस रूप में है। मूल स्थान में कोई विरोध नहीं है। वे न स्त्री हैं और न पुरुष हैं। चाहे जिस लाइन से जाओ अभ्यास योग का निष्ठा के साथ ग्रहण करने पर ही भगवान् की प्राप्ति होगी। निष्ठा से ही इष्ट की प्राप्ति होगी।

राष्ट्रपति—निष्ठा कैसे आती है ?

माँ—निष्ठा अभ्यासयोग से आवेगी। जैसे घड़ी का घण्टा समय पर बज उठता है वैसे ही नियमित रूप से उनका स्मरण, मनन, ध्यान करते जाना चाहिये। नियमित अभ्यास के द्वारा ही दृढ़ निष्ठा को स्वायत्त करना संभव है। स्वरूप-प्रकाश का यही एकमात्र साधन है। राम, कृष्ण, हरि, शिव, दुर्गा, काली जिसके जो इष्ट हों उसके निकट वही प्रकट होंगे। स्वरूप-प्रकाश का इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं है। मैं उनकी सन्तान हूँ, सेवक हूँ, वे ही मेरे एकमात्र आश्रय हैं, ऐसा भाव रखना चाहिये। अभी यात्रा शुरू कर देनी चाहिये। सत्य और शुद्ध सङ्कल्प लेकर भगवान के समीप प्रार्थना करनी चाहिये कि मैं तुम्हारा दर्शन चाहता हूँ।

आत्मा सर्वव्यापी है। मुझमें तुममें वह एक ही आत्मा अवस्थित है। एक ही आत्मा की सर्वत्र स्थिति है। इसीलिए इस छोटी लड़की को पण्डितों के बीच इतनी बातें कहने में लज्जा नहीं है। आत्मा तो आप ही है पर तो है नहीं, इसलिए लज्जा कौन करेगा ? किससे करेगा ? यह स्थान संशयरहित है। अपने को जानना माने आत्मा को जानना, भगवान् को जानना। सभी उस आत्मा से प्रकट हो रहे हैं। सदा उनको जानने की चेष्टा करनी चाहिये। दिन रात चले जा रहे हैं। अमूल्य समय बरवाद नहीं करना चाहिये। शुद्ध संकल्प में दृढ़ होकर निष्ठापूर्वक अभ्यास की आवश्यकता है। जो दिन जाता है वह फिर लौटेगा नहीं। हमें भगवान् को पाना ही चाहिये यह मावना रखनी चाहिये। उनकी कृपा सें अवश्य सब कुछ संभव है। कृपा की बात अलग है। अज्ञान का नाश होना चाहिये। सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि भगवान् को जानने और समझने की चेष्टा हो रही है या नहीं। शुद्ध ज्ञान या बुद्धि भगवान् के लिए लगाने पर महान् ज्ञान होता है। भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं तथा वही कृष्ण हैं, सबका आकर्षण करते हैं, अपने निकट खींच लेते हैं। अपना घर जहां है वहां जाना होगा। 'उलट जाओ' अर्थात् संसारमुखी न होकर भगवन्मुख होओ। अपने घर जाने का वही रास्ता है। अशुभ बुद्धि और

अशुभ क्रिया का जन्मजन्मान्तर का अभ्यास हुआ है, इसलिए शुभ मार्ग का ग्रहण किये बिना अशुभ मार्ग नष्ट नहीं होता। शुभ मार्ग ही स्वाभाविक है, उसको ग्रहण करने पर अशुभ क्रिया नष्ट हो जाती है। भगवद्बुद्धि, भगवच्चिन्तन, जप, ध्यान आदि करने पर ही शुभ क्रिया का आरंभ होता है। इसीलिए कहते हैं तपस्या। शुभ कर्मों के लिए जो ताप ग्रहण किया जाता है उसी को तपस्या कहते हैं।

माँ यह कहकर चुप हैं। फिर किसी ने कोई प्रश्न नहीं किया। तदुपरान्त माँ ने कविराजजी को दिखाकर कहा :—"बाबा सदा ध्यान में मग्न रहते हैं, भीतर सदा निरन्तर नामजप का व्यापार चल रहा है। इतना गंभीर ज्ञान है कि चाहे जिस किसी प्रश्न की मीमांसा अत्यन्त सुन्दर प्राञ्जल रीति से करते हैं।"

इतने में हरिबाबा आ पहुँचे। हरिबाबा के आसन ग्रहण करने पर पानूदा ने उन्हें माला पहिना दी एवं हरिबाबा का राष्ट्रपति और राज्यपाल से परिचय करा दिया। माँ ने हरिबाबा से कहा "पिताजी, ये सब हरिकथा सुनना चाहते हैं, इस समय हरिकथा कुछ आवेगी?" आगे माँ ने फिर कहा, "पिताजी, भगवान् क्या खाते हैं वह कहानी"? हरिबाबा ने कहा "माँ, इस समय तो स्मरण नहीं हो रही है।" माँ ने हरिबाबा के सम्बन्ध में कहा—"वृन्दावन के महात्मा हैं, सदा साधु-सत्सङ्ग हरिकथा लेकर ही रहते हैं। साक्षात् हरिरूप हैं; मुँह पर सदा हरिकथा रहती है, इसीलिए हरिबाबा नाम है।" माँ ने फिर कहा—"पहले हम लोगों ने बाबा के कमरे में बैठेंगे ऐसा निश्चय किया था। सुना बाबा बाहर हैं; बाबा शायद अपने को अलग रखना चाहते हैं। बाबा को न देख हमने इस कमरे में बैठने की व्यवस्था की।" राष्ट्रपति ने चुपचाप हरिबाबा की ओर दृष्टि डाल कर देखा एवं हरिबाबा को प्रणाम किया। सामने के बरामदे में नानीजी बैठी थीं। माँ ने नानीजी को दिखाकर राष्ट्रपति से कहा, "इस शरीर की माँ संन्यासिनी हैं। संन्यास लेकर इस शरीर के पास हैं।" राष्ट्रपति ने हाथ जोड़कर नानीजी के लिए प्रणाम किया। सबको शरबत और फल दिये गये। राष्ट्रपति मीठा खाते नहीं, इसलिए शरबत नहीं लिया। राष्ट्रपति के साथ जो लड़कियाँ आई

थीं, उनमें से कुमारी लड़कियों से माँ बोलीं "तुम लोग मेरी दोस्त हो। जिनका विवाह नहीं हुआ वे सब मेरी दोस्त हैं।"

राष्ट्रपति—आप और कितने दिन यहाँ रहेंगी?

माँ—गुरुपूर्णिमा के पहले ही यहाँ से जाने की बात हो रही है।

माँ—पिताजी का शरीर कैसा है?

राष्ट्रपति—चला जाता है माँ, पर दमे से कष्ट पाता हूँ।

दीदी— माँ की एक नानी को भी यह रोग था।

मां—हां, पर दैव औषधि पाने से उनका वह हट गया था। मां ने राष्ट्रपति से पूछा, "पिताजी कब तक इधर रहेंगे?" राष्ट्रपति ने कहा, "यहां से २६ को कलकत्ता जाऊँगा, वहां से दिल्ली।"

राष्ट्रपति कुछ क्षण चुप रहकर माँ को प्रणाम कर बोले "अच्छा अब जाता हूँ।" सबकी ओर मुसकराते हुए देखकर खड़े हुए एवं धीरे धीरे कमरे से बाहर हुए।

मार्ग में लोगों की ठसाठस भीड़ लगी थी। राष्ट्रपति के दर्शनों के लिए बहुत से लोग प्रतीक्षा कर रहे थे। माँ ने बरामदे में आकर जनता को देखकर कहा "इतने लोग! इन्होंने खबर कैसे पायी?" किसी ने कहा मार्ग का यातायात तक बन्द हो गया है। माँ बाहर की जनता को देखने लगीं। तब भी सांझ नहीं हुई थी, आकाश के फटे मेघों के छेद से सूर्य की अन्तिम किरणों के विदा होने के पहले ही राष्ट्रपति की गाड़ी हम लोगों की आखों से ओझल हो गई।

पुरातन स्मृति

स्वामी नारायणानन्द तीर्थ

(८)

श्री श्री माताजी के साथ नीलाचल में श्री श्री जगन्नाथजी का दर्शन

गत १९४६ ईसवी में परमाराध्या श्री श्री माँ आनन्दमयीजी का शुभ जन्मोत्सव दो स्थानों में मनाया गया था। वैशाख महीने की १९ वीं तारीख को नवद्वीप के श्री श्री गोविन्द-मन्दिर में वह प्रारम्भ होकर ढाका के रमणाश्रम में समाप्त हुआ। उसी स्थान के पंचवटी (वट, पीपल, बेल, अशोक और आँवला) की पवित्र-भूमि में श्री श्री माताजी की तिथिपूजा हुई थी। इस वर्ष तिथिपूजा के समय कुछ नया दृश्य नजर आया। इससे पहिले प्रतिवर्ष माताजी के तीन या चार विशिष्ट भक्तजन जाकर आपको रात तीन बजे के अनन्तर पूजा के स्थान में ले आते थे। माँ उस स्थान में आते ही अपने निर्दिष्ट विस्तर पर न मालूम किस भाव के नशे में लेट जाती थीं और उसी लेटी हुई अवस्था में आपकी पूजा की जाती थी। पूजा समाप्त होने के पश्चात्, जब सब कोई प्रणामादि कर चुकते थे, तब माँ को वहाँ से उठाकर दूसरे स्थान में ले जाते थे। उसके बाद भी माँ एकान्त में बहुत देर तक अपने भाव में ही पड़ी रहती थीं। इस बार रात तीन बजे के अनन्तर जब माँ रमणाश्रम की पंचवटी के नीचे बैठकर अपने पुराने तथा विशिष्ट भक्तों (श्रीवीरेन्द्रचन्द्र मुखोपाध्याय, एम० ए० और श्री अमूल्यकुमारदत्त गुप्त, एम० ए०, बी० एल०) के साथ तत्त्वालोचना कर रही थीं; उसी समय बैठी हुई हालत में ही विशेष (खास) तिथिपूजा की गई थी। इस साल इलाहाबाद से श्री श्री सत्यगोपाल-गीताश्रम के आचार्य श्रीगोपालचन्द्रचट्टोपाध्यायजी, एम. ए., बी. एल. भी सकुटुम्ब अर्थात् श्री

पुत्र और कन्याओं के साथ माताजी के जन्मोत्सव में योगदान करने आये थे। आप भी इस आध्यात्मिक वार्तालाप में शामिल थे। श्रीगोपालठाकुरजी तथा श्रीवीरेन्द्रचन्द्रजी किसी समय कलकत्ते के प्रेसिडेन्सी कालेज (Presidency College) में एम. ए. में एक साथ दर्शनशास्त्र पढ़ते थे। इसलिये उन दोनों का माँ के साथ तत्त्व-विचार खूब अच्छी तरह से हो रहा था।

उत्सव के पश्चात् ही माँ कलकत्ते लौट आवेंगी ऐसा निश्चय था। परन्तु ऐसा सुना गया था कि बहरमपुर के मातृ-भक्त श्रीरामरञ्जन बाबू श्री श्री माताजी को पुरीधाम अर्थात् जगन्नाथजी ले जाने के लिये बहुत आग्रह कर रहे हैं। आपके ऐकान्तिक अनुरोध को माँ टाल न सकीं तथा भक्त की वासना पूर्ण करने के लिये ही भक्त-वत्सला माँ ने रामरञ्जनबाबू की प्रार्थना मन्जूर कर ली है। माँ के साथ कौन कौन पुरी जायेंगे उसकी भी फेहरिस्त या तालिका बनना शुरू हो गया है यह संवाद भी सुनने में आया। विद्यार्थी लोग जिस तरह परीक्षा के पश्चात् उसका फल या नतीजा प्रकाशन के पहिले उत्कण्ठा में समय व्यतीत करते हैं, उसी तरह हम लोग श्री माँ के साथ कौन कौन पुरी जायँगे, उन लोगों के नाम सुनने के लिये उत्कठित हो रहे थे। सुना जाता है कि कभी कभी बिल्ली के भाग्य से भी छीका अर्थात् सिकहर टूट पड़ता है। यह समाचार मेरे कानों तक आ पहुँचा कि पुरी-यात्रियों के नाम की तालिका में मेरे जैसे पामर के भी नाम ने स्थान पाया है। मैंने कभी स्वप्न में भी आशा नहीं की थी कि मुझे भी श्री श्री माताजी के साथ नीलाचल में श्री श्री जगन्नाथजी का दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होगा। इस संवाद को पाकर मेरे मन में इतना आनन्द हुआ कि मैं उसको भाषा में व्यक्त नहीं कर सकता। यथा-समय ढाकावासी भक्तों को रुलाकर माँ कलकत्ता चलीं।

कलकत्ते से रात लगभग आठ बजे हम सब लोग श्री श्री माँ के साथ पुरी एक्सप्रेस (Puri Express) से जगन्नाथजी के पुरीधाम को रवाना हुए। दूसरे दिन प्रातःकाल अनुमानतः नौ या साढ़े नौ बजे माँ के साथ हम लोग श्री श्री जगन्नाथ-

जी की पुरी में जा पहुँचे। यह महापुण्य क्षेत्र श्रीक्षेत्र, श्रीविमलाक्षेत्र, नीलाचल तथा पुरुषोत्तमक्षेत्र के नाम से भी अभिहित होता है। यह कहा जाता है कि किसी समय यह पवित्र तीर्थ तन्त्र-साधकों के लिये बहुत ही प्रशस्त साधन-क्षेत्र था। गोवर्धनमठ के मठाम्नाय में वर्णित है कि इस क्षेत्र की अधिष्ठात्री देवी श्रीविमला और भैरवदेवता स्वयं श्रीजगन्नाथदेव हैं।

"पुरुषोत्तमं तु क्षेत्रं स्याद् जगन्नाथोऽथ देवता।
विमलाख्या हि देवी स्यादाचार्यः पद्मपादकः॥"

आद्या स्तोत्र में भी कहा है—

"रामेश्वरी सेतुबन्धे विमला पुरुषोत्तमे।
विरजा ओड्रदेशे च कामाख्या नीलपर्वते॥"

अभी भी यहाँ यह किंवदन्ती चली आ रही है कि श्री श्रीविमला देवी को भोग निवेदन न होने तक "महाप्रसाद" नहीं होता। श्री श्री जगन्नाथजी के मणिकोठे में भोगनिवेदन होने से वह केवल "प्रसाद" ही होता है। जब तक "महाप्रसाद" नहीं होता है तब तक वह स्पर्शादिदोष-रहित नहीं होता। श्रीविमलाक्षेत्र तथा पुरुषोत्तमक्षेत्र में "महाप्रसाद" का ही माहात्म्य अत्यधिक है। जनश्रुति ऐसी है कि अभी भी पुरीधाम में गुप्तरूप से श्री श्रीविमला देवी के सामने विशेष विशेष पर्व-दिनों में बलिदान किया जाता है। यह कहा जाता है कि श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्यजी के पुरी आगमन के पश्चात् ही यह स्थान वैष्णवभावापन्न हुआ। महाप्रभु की शेष या आखिरी अठारह (१८) वर्षों की लीला के साथ यह पुण्यक्षेत्र विशेषरूप से संश्लिष्ट है। पुरीधाम में "गम्भीरा" नामक स्थान अभी भी इसकी साक्षी दे रहा है। श्री श्री शंकरावतार जगद्गुरु श्री श्री १०८ आदि शंकराचार्य महाराज के चार प्रधान मठों में "गोवर्धनमठ" इसी स्थान में प्रतिष्ठित है।

अपने जीवन में यही मेरा प्रथम पुरी में आना हुआ। पुरी स्टेशन पर गाड़ी

पहुँचने के पहिले ही मैंने दूर से ही श्री श्री जगन्नाथजी के मन्दिर के गगनस्पर्शी शिखर का दर्शन किया। उसी स्थान से देवता के उद्देश्य से हाथ जोड़कर मैंने प्रणाम किया।

यथासमय हम सब लोग श्री श्री माताजी के साथ आपके आश्रम में आ पहुँचे। उसीके पूर्व तरफ पुरी का स्वर्गद्वार नामक प्रसिद्ध महाश्मशान है। आश्रम के सामने ही बहुत दूर तक विस्तृत विशाल समुद्र है। इसी जलधि की नील-जलराशि को देखकर ही हम लोगों के भावमय ठाकुर श्रीमद् चैतन्य महाप्रभुजी श्रीकृष्ण-विरह के भावोन्माद में इस सागर के जल में कूद पड़े थे। आपके पवित्र तथा दिव्य चिन्मय शरीर के संस्पर्श का कुछ न कुछ प्रभाव तो अभी भी इस समुद्र के जल में है। इसलिये केवल यही मन में हो रहा था कि कब माल असबाब सब आश्रम में रखकर इस पूत नीलजल में कूद पड़ूँगा। थोड़ी ही देर के बाद नजर आया कि माताजी एक बड़ा सा तौलिया शरीर पर लपेटकर समुद्र में स्नान करने के लिये जा रही हैं। हम लोग भी सब माँ के पीछे पीछे चलने लगे। स्त्रियाँ सब माँ को बीच में रखकर आपके चारों तरफ खड़ी होकर परम आनन्द से नहा रही थीं और साथ साथ जल-क्रीड़ा भी कर रही थीं। हम सब पुरुष लोगों ने भी थोड़ी ही दूर पर जाकर स्नान करके तृप्ति-लाभ किया। माताजी हम लोगों के समीप आकर अपने करकमलों से अम्बुधि का पवित्र जल हम लोगों के शरीर पर छिड़कने लगीं। इस तरह हम लोगों की माँ के साथ स्नान करने की वासना भी जननी देवी ने पूर्ण की।

समुद्र से स्नान करके आश्रम में लौटते समय नजर आया कि माँ के आश्रम के ठीक पश्चिम की ओर सटी हुई एक फूस की कुटिया है। उसका नाम रखा गया है "सागरपर्णी" अर्थात् सागरतट की पर्णकुटी। उस "सागरपर्णी" के सामने के बरामदे में अकेले अपने भाव में बैठे हुए थे मेरे एक अति पुरातन मित्र श्रीदिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, वेदान्ततीर्थजी। आप बहुत ही सज्जन तथा साधुप्रकृति के मनुष्य हैं। आपने अपना सारा जीवन त्याग के भाव और

आध्यात्मिक विषय की चर्चा में ही व्यतीत किया है। आप श्री श्री ठाकुर परमहंस श्री श्री रामकृष्णजी के परमभक्त हैं और श्री श्री माता आनन्दमयीजी के साथ भी आपका बहुत दिनों से परिचय है। माँ को भी आप बहुत ही श्रद्धा तथा भक्ति भाव से देखते हैं। माँ भी आप पर बहुत स्नेह और आदर करती हैं। बहुत समय के अनन्तर अकस्मात् आशातीत रूप से आपको देखकर मुझे अत्यधिक आनन्द प्राप्त हुआ। आपने भी मुझसे मिलकर अधिक प्रसन्नता प्रकट की। ये श्रीदिनेशचन्द्रजी ही हम लोगों की खुकुनी दीदी अर्थात् श्रीमती गुरुप्रिया देवी के उपनयन के आचार्य गुरु थे। माँ की उपस्थिति में ही आपको तारापीठ में यज्ञोपवीत दिया गया था।

श्री श्री माताजी के छोटे से आश्रम में स्थानाभाव होने के कारण मैंने उस "सागरपर्णी" के बरामदे में बैठकर ही अपनी सन्ध्या और तर्पणादि क्रिया समाप्त कर ली। यहाँ यह कहना निष्प्रयोजन है कि जिस समय की यह घटना है उस समय मैंने संन्यासी का वेश धारण नहीं किया था। तर्पण करते समय जब मैं तिल और समुद्र का जल हाथ में लेकर मंत्र उच्चारण कर रहा था तब वार वार मुझे यही स्मरण हो रहा था कि समुद्र के लवणाक्त (खारे) जल से पितृगण कैसे तृप्त हो सकते हैं? आचमन करने के लिये जो थोड़ा सा समुद्र का जल मैंने अपने मुख में डाला था उसी से मेरे गले तक एकदम खारा हो गया था। अनन्तर मैंने मन ही मन विचार करके यह निश्चय कर लिया कि जिन लोगों के उद्देश्य से तर्पण किया जाता है वे तो केवल तिल और जल ही ग्रहण करते हैं ऐसी बात नहीं है, परन्तु वे सब वस्तुओं के साथ जो अच्छी और भक्ति तथा भाव मिश्रित रहती हैं उन्हीं के द्वारा तृप्त होते हैं।

अस्तु, किसी तरह अपना नित्य कर्म समाप्त करके आश्रम में आते ही सुना कि माँ बोल रही हैं कि मन्दिर से महाप्रसाद आने में बिलम्ब है, चलो, जगद्बन्धुजी के दर्शन करने के लिये मन्दिर में चलें। श्री श्री माताजी के साथ श्री श्री जगन्नाथजी के दर्शन करने जाने का प्रस्ताव या प्रसंग सुनते ही साथ के सभी बालक, वृद्ध, स्त्री,

पुरुष जाने की तैयारी करने लगे। सबके हृदय में इतना आनन्द हुआ कि वे सब हर्ष से विह्वल हो गये। मैं भी सब लोगों के साथ माताजी के पीछे पीछे परम आनन्द से श्रीजगद्‌बन्धु-दर्शन करने चल पड़ा।

मार्ग में चलते चलते बहुत दिनों की एक बात, जिसे मैंने अपनी बुआजी से सुना था, मेरी स्मृति में एकाएक भासमान हो उठी। आप कहती थीं कि श्रीक्षेत्र में अतिशय शुद्ध तथा पवित्र भाव लेकर श्री श्री जगन्नाथजी का दर्शन करने जाना होता है। नहीं तो, जो जिस भावना को लेकर जगन्नाथ-दर्शन को जाता है, उसे देवता उसके भावनानुसार मूर्ति में ही दर्शन देते हैं। मेरी बुआजी बहुत वर्ष पहिले श्री श्री जगन्नाथजी के दर्शन करने पुरी गई थीं। उस समय वहाँ तक रेलगाड़ी नहीं पहुँची थी। उन लोगों ने अत्यन्त क्लेश सहकर कटक से पैदल पुरी जाकर जगन्नाथजी का दर्शन किया था। उन दिनों आपने किसी से सुना था कि किसी व्यक्ति को एक बार श्री श्री भगवान का दर्शन करते समय अकस्मात् यह स्मरण हो गया कि उसके मकान के आँगन के एक तरफ बाँस के मचान के ऊपर कोंहड़े की बेल में कई एक बड़े बड़े कोंहड़े लटक रहे हैं। यही बात सोचते सोचते वह देवता के मन्दिर में जा पहुँचा। उसका परिणाम यह हुआ कि उसने मन्दिर के मणिकोठे में रत्नवेदी के ऊपर श्री श्री भगवानजी की दारुमयी ब्रह्ममूर्ति न देखकर यह देखा कि बाँस के मचान पर कोंहड़े की बेल में बड़े बड़े कोंहड़े लटक रहे हैं। इसीलिये कहा जाता है कि "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी", अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है उसको उसी प्रकार की प्राप्ति होती है।

यह घटना सत्य ही होगी यह मैं निश्चयपूर्वक कह नहीं सकता; परन्तु इस कहानी ने कम से कम उस समय के लिये मेरे अवचेतन मन पर अपना कुछ प्रभाव न डाला हो, यह भी मैं कभी स्वीकार नहीं कर सकता। अर्थात् इस घटना ने कम से कम उस समय के लिये मेरे अवचेतन मन के ऊपर काफी प्रभाव डाला था। मेरा मन तो उतना शुद्ध और पवित्र नहीं है, इसलिये उस समय मेरे

कमजोर मन के ऊपर दुर्वलता आकर आक्रमण कर बैठी थी। जब मैं सीढ़ी चढ़कर मन्दिर में जा रहा था उस समय मेरा हृदय धड़क उठा। कमजोरी ने मौका पाकर' मेरे मन के ऊपर अपना दवाव डाला। इसी कारण बिलकुल उपायविहीन होकर उस समय मैंने मन ही मन श्री श्री माताजी के चरणकमलों में यह प्रार्थना की कि माँ, आप दया करके आशीर्वाद दीजिये ताकि मैं श्री श्री भगवानजी के दर्शन पाऊँ। मन्दिर के मणिकोठे में जाकर श्री श्री भगवानजी के सिवाय और कुछ भी न देखूँ। साथ ही साथ ठाकुरजी की भी अतिशय आर्त तथा विनीत भाव से प्रार्थना करना मैं नहीं भूला। उनके श्रीचरणों में भी मैंने यही निवेदन किया कि हे प्रभो, आप अपने यथार्थ स्वरूप का ही मुझे दर्शन करावें, इतनी कृपा आज मेरे प्रति कीजिये। जितना ही मैं मन्दिर के निकट उपस्थित हो रहा था उतना ही भयभीत होकर मैं अपनी हार्दिक कातर प्रार्थना माँ को वार वार निवेदन करता था। इस मानसिक चंचलता और परिस्थिति के बीच कब, कैसे और किस ओर से माँ के पीछे पीछे मैंने मन्दिर के अन्दर प्रवेश किया यह मुझे बिलकुल मालूम नहीं हुआ।

मन्दिर के भीतर जाकर मैंने देखा कि सामने ही श्वेत प्रस्तर (संगमर्मर) निर्मित एक अतिशय सुन्दर वेदी है। उसके दोनों ओर अति मनोहर कारुकार्य (बेलबूटे) विशिष्ट स्तम्भ हैं। वेदी की ऊँचाई लगभग दो हाथ होगी। उसके पीछे की तरफ अर्थात् पश्चात् भाग में चाँदी का नक्काशी किया हुआ पत्ता जड़ा हुआ है। श्री श्री माताजी उस सुन्दर वेदी के सामने जाकर विराजमान हो गईं। आपकी बाईं ओर मैं था तथा दाहिनी ओर और पीछे साथ के दूसरे दूसरे लोग थे। जहाँ तक मुझे स्मरण हो रहा है उस समय मन्दिर में अधिक मनुष्यों की भीड़ नहीं थी। दोपहर का समय था इसीलिये शायद भीड़ कम थी। माँ मेरी ओर लक्ष्य करके अपना दक्षिण करकमल श्री श्री ठाकुरजी की तरफ प्रसारित करके बोलीं "जगद्बन्धु-दर्शन करो।"

माताजी के मुखारबिन्द से निकला हुआ यह स्वरूप शब्द अब भी मेरे कानों

में गूँज रहा है। मैंने देखा कि उस श्वेत पत्थर की वेदी पर श्री श्री जगन्नाथजी, श्री श्री वलरामजी तथा देवी श्री श्री सुभद्राजी विराजित हैं। उन लोगों के परिधान में श्वेत, पीत, लाल और हरे रंग के मिश्रित रेशमी (साटिन के) चुने हुए घागरे (लहँगे) तथा शरीर पर पीले रंग के रेशमी अंगरखे हैं। लहँगों और अंगरखों में जरी की किनारी लगी हुई थी। तीनों विग्रहों के मस्तकों पर अतिशय कीमती रत्नों से जड़ित सोने के सुन्दर मुकुट शोभित हो रहे थे। गले में कई लर के जड़ाऊ कण्ठहार और कानों में मकराकृति मनोरम कुण्डल थे। बहुमूल्य रत्न सम्भारादि से वे सब सुसज्जित थे। मन्दिर का भीतरी भाग दोपहर के सूर्यालोक से जिस तरह आलोकित होने से उजियाला होता है उसी तरह उज्ज्वल था। वेदी के नीचे विग्रहों की बाईं ओर ऊँचे से काष्ठासन (स्टूल) पर एक पंडा बैठा हुआ था। उसका चेहरा भी सुन्दर और रंग गोरा था। उसकी अवस्था अनुमानतः पचास के लगभग थी। श्मश्रुविहीन, नंगे शरीर, गले में तुलसी की माला, ललाट पर श्वेत चन्दन का तिलक, बाएँ कन्धे के ऊपर एक मोटा सा स्वच्छ यज्ञोपवीत (जनेऊ) लम्बायमान और मस्तक के बीच में कुछ काले और कुछ सफेद मिश्रित केशों की एक गोलाकार बड़ी तथा मोटी सी शिखा थी। अवशिष्ट मस्तक एकदम मुण्डित था। वेदी के ऊपर विग्रह हम लोगों के इतने निकट थे कि हम सब दर्शनार्थी यदि चाहते तो हाथ बढ़ाकर देवताओं को छू सकते थे। परन्तु हम लोगों में से कोई भी उनको स्पर्श नहीं कर रहे हैं यह देखकर मैंने भी अपना हाथ वढ़ा कर देवताओं को स्पर्श नहीं किया। मार्बल पत्थर (संगमर्मर) की वनी हुई वेदी के ऊपर मस्तक रखकर प्रणाम करते हुए मन ही मन ठाकुरजी से मैंने निवेदन किया कि हे ठाकुरजी, आपने आज इस दीन हीन अधम के प्रति कृपा कर जो दर्शन दिये हैं इसके लिए मैं आपको अपने अन्तर के असंख्य प्रणाम निवेदन कर रहा हूँ। देवताओं के सम्मुख श्री श्री माताजी को भी हम सबने भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया। मैंने मन ही मन माँ से निवेदन किया कि माँ, आपके आशीर्वाद तथा असीम कृपा से ही आज श्री श्री भगवानजी की दारुमय ब्रह्ममूर्ति का दर्शन मुझे मिला है, इस कारण आपके निकट मैं चिरकृतज्ञता के पाश में बँधा हुआ हूँ।

श्री श्री जगन्नाथजी, श्री श्री बलरामजी तथा देवी श्री श्री सुभद्राजी की मूर्तियाँ अपूर्व सुन्दर हैं। उनके पोषाक-परिच्छद, रत्नमण्डित मुकुट और अलंकारादि देखकर तो मैं बिल्कुल मुग्ध हो गया था। अपने जीवन में कभी भी इसके पहिले मैंने ऐसा देखा नहीं था। मैं अपने मन ही मन कहता था, जगन्नाथजी वास्तव में जगत के नाथ ही हैं। नहीं तो इतना रत्नालंकार कभी किसी देवता के शरीर पर देखा हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं होता। हाँ, लोगों के मुख से सुना है कि उदयपुर के नाथद्वारा में श्री श्री नाथजी के भी ऐश्वर्य का प्राचुर्य अतिशय अधिक है। परन्तु उनका दर्शन करने का सौभाग्य मुझे अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है—आगे होने की भी आशा बहुत ही कम है। श्री श्री जगन्नाथजी भी पूर्ण ऐश्वर्य के ही विग्रह हैं इसमें सन्देह की कुछ भी गुञ्जाइश नहीं है। वाराणसी में सुवर्ण-निर्मित श्री श्री अन्नपूर्णाजी भी बहुत ही ऐश्वर्यशालिनी हैं। इनका दर्शन प्रतिवर्ष दिवाली के अवसर पर केवल तीन रोज के लिये हुआ करता है।

श्री श्री माताजी के साथ श्री श्री जगद्बन्धु-दर्शन करके हम सब लोग आश्रम लौट आये। मन्दिरों में रहते समय ही सुनने में आया कि ठाकुरजी के भोग लगने में विलम्ब है। मन्दिर के और भी दर्शनीय सब स्थान माँ ने घूमकर हम लोगों को दिखाये। यथा विमला देवी का स्थान, जिस स्थान में एकादशी बाँध कर रखी गई है, वह स्थान, अमृतकुण्ड, पाकशाला, भंडारघर, जिस स्थान में बैठकर सब कोई भोग की सब्जी बनाते हैं, वह स्थान इत्यादि इत्यादि। मन्दिर से महाप्रसाद आने पर माताजी के भोजन के अनन्तर हम लोग भी परम आनन्द से महाप्रसाद प्राप्तकर कृतकृत्य तथा धन्य हो गये। आज जाति-वर्ण-भेदभावविरहित होकर उपस्थित सब किसी ने श्री श्री माँ को महाप्रसाद खिला दिया। ऐसा अवसर जीवन में मनुष्यों को कम ही मिलता है। इसके दूसरे ही रोज दोपहर के समय पूर्वदिन का वासी तथा पानी में भींगा हुआ महाप्रसाद (पर्युषित अन्न) ग्रहण करके हम सब श्री श्री

माताजी के साथ नीलाचल से चल पड़े। इस यात्रा में यही एक वार छोड़कर मुझे दूसरी वार और जगद्बन्धुजी का दर्शन नहीं हुआ।

इस घटना के अनुमानतः पाँच वर्ष बाद एक दिन मैं अपने संन्यास आश्रम के श्री श्री गुरुदेव के साथ उनके काशी में अवस्थित मठ में बैठा था। बातचीत करते समय वार्तालाप के सिलसिले में पुरी के श्री श्री जगन्नाथजी की चर्चा चली। उनकी अतिशय अनुपम सुन्दर मूर्ति तथा उनके मणिरत्नादि ऐश्वर्य की वात जब मैं वर्णन कर रहा था तब मेरे श्री श्री गुरुजी महाराज मेरी ओर नजर फेरकर अचम्भे में मुझसे कहने लगे, आप कहाँ के जगन्नाथजी की वात बोल रहे हैं ? मैं तो संन्यासग्रहण करने के पहिले बहुत दिनों तक पुरी और भुवनेश्वर में रहता था। मैंने तो कभी जगदीश का इतना जेवरादि, पोषाक-परिच्छद तथा ऐश्वर्यादि नहीं देखा। इसके अलावा ठाकुरजी का मणिकोठा तो अत्यन्त अन्धकार में है। रत्नवेदी इतनी ऊँची है कि उस पर स्थित देवताओं को नीचे अथवा भूमि से हाथ उठाकर साधारण मनुष्य के लिये छूना कठिन है। उन देवताओं के शरीर पर भी तो वस्त्रादि अति साधारण रहते हैं। (मेरे श्री श्री गुरुजी महाराज अपने संन्यासी शिष्यों को तथा दूसरों को भी "आप" कहकर ही सम्बोधन करते हैं।) मैंने इस बारे में आपसे बहुत देर तक बातचीत की। परन्तु मैंने जिस तरह से पुरी में श्री श्री जगद्बन्धुजी को देखा था उसका मैं किसी प्रकार से भी उनको विश्वास न दिला सका। इसी कारण हम दोनों गुरु और शिष्य इस विषय में सहमत न हो सके। श्रीगुरुजी महाराज ने दीर्घकाल तक श्री श्री जगन्नाथजी के जिस तरह से दर्शन किये थे इसी प्रकार से उन्होंने उनका वर्णन किया था। आपके दर्शन तथा वर्णन में कुछ भी अन्तर नहीं था। परन्तु आपने जिस तरह से वर्णन किया था मैंने माताजी के साथ जाकर मन्दिरमें जगद्बन्धुके उस प्रकार से दर्शन नहीं किये। हम दोनों के दर्शन में इतना तारतम्य (अन्तर) किस तरह से हो सकता है यही केवल मैं सोच रहा था। परन्तु इसका कोई भी समाधान या मीमांसा मुझे नहीं सूझी। उस समय मेरे मन में विचार आया कि उस दिन माँ के साथ पुरी में मैंने जैसे जगन्नाथजी

के दर्शन किये थे वैसे ही हम लोगों के साथ के सभी मनुष्यों ने दर्शन किये थे अथवा केवल मैंने ही अकेले वैसे दर्शन किये थे ? क्या हम लोगों के संग के दूसरे मनुष्यों ने भी जैसे मैंने देखे थे वैसे नहीं देखे थे ? उन लोगों ने क्या भिन्न तरह से देखे थे ? मैंने भी क्या उन लोगों के सदृश नहीं देखे थे ? इसी प्रकार के नानाविध प्रश्न उस समय मेरे मन में उदित होने लगे। मन्दिर में ठाकुरजी के दर्शन करते समय मेरे मन में ये सब प्रश्न उठने का कोई भी हेतु नहीं था। मेरी तो उस समय यही धारणा रही कि जैसे ठाकुरजी के दर्शन मैं कर रहा हूँ उसी प्रकार सब कोई दर्शन कर रहे हैं। यही उनका प्रकृत या यथार्थ रूप है। उस समय अगर मेरे मन में इस तरह का कोई भी संशय या सन्देह उत्पन्न होता तो उसी समय मैं साथ के सभी मनुष्यों से प्रश्न करके इसका कोई न कोई समाधान अथवा निर्णय कर लेता। इसके अन्दर क्या रहस्य छिपा हुआ है, यह तो केवल माँ ही जानती हैं और जानते हैं प्रभु श्री श्री जगन्नाथजी।

मैंने यह अच्छी तरह से लक्ष्य किया कि आत्मज्ञान में डूबी हुई श्री श्री माता आनन्दमयीजी नीलाचलधाम में अत्यन्त ही स्वल्प समय के लिये जाकर न मालूम कैसी हो गई थीं। जलधि के उत्ताल तरंगों के साथ साथ माँ के भी आँख, मुख तथा सभी अंग प्रत्यंगों ने अधिक आनन्द से नृत्य करना शुरू कर दिया था। हम लोगों की प्राकृत तथा साधारण आँखों में भी यही दृष्टिगोचर हो रहा था। मालूम हो रहा था कि माँ का आनन्द हृदय में समा नहीं रहा है। उसी आनन्द का कुछ अंश हृदय में न समाकर बाहर निकलकर संसार को एकदम आनन्द से प्लावित कर रहा है। और उसी आनन्द के दो एक बूंद संक्रामित होकर फैल गये थे माँ के साथ के आदमियों के अन्दर। इस महापुण्यक्षेत्र श्रीक्षेत्र में आकर माँ का ऐसा भाव क्यों हुआ ? श्री श्री विमलादेवी का अथवा श्री श्री जगन्नाथजी का कोई विशेष गूढ़ सम्बन्ध है क्या ? यह बात केवल मैंने ही लक्ष्य की हो, ऐसी बात नहीं है। डाक्टर नलिनीकान्त ब्रह्म, एम० ए०; पी० एच० डी० महोदय ने भी अपने "मातृसंगे

पुरीधामे" नामक बंगला प्रबन्ध में इसी तरह का लेख लिखा है। उस लेख का सारांश यह है कि पहिले तारापीठ तथा कक्सबाजार में माँ को प्राप्त होने से जिस तरह का आनन्द पाया जाता था अभी माँ को पुरी में पाकर उस तरह का आनन्द अथवा ततोधिक आनन्द होता है। माँ के साथ श्री श्री जगन्नाथजी का जो विशेष सम्बन्ध है वह परिस्फुट हो उठता है। वह सम्बन्ध क्या है? यह समझ में न आने से भी, कुछ सम्बन्ध है इस में कुछ भी सन्देह नहीं है। इस बार श्री श्री माँ के साथ नीलाचल में आकर श्री श्री जगन्नाथजी के दर्शन मेरे जीवन की एक विशेष घटना है और इस घटना ने मेरे हृदयफलक पर ऐसा एक रेखापात कर दिया है जो कि काल द्वारा कभी भी म्लान अथवा मिटने वाला नहीं है।

—क्रमशः

॥ श्रीहरिः ॥

गीता की अद्‌भुत महत्ता

श्री रामनरेश दीक्षित 'नैमिषतीर्थ-पुरोहित'

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम् ।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम् ॥

(वाराहपुराण)

भगवान ने कहा है—'मैं गीता के आश्रय में रहता हूँ, गीता मेरा उत्तम घर है एवं गीता के ज्ञान का सहारा लेकर ही मैं तीनों लोकों का पालन करता हूँ।' आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्र के मुखारविन्द से निकली हुई यह श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय साहित्य का एक अमर ग्रन्थ है। इसमें सारे वेद, पुराण तथा शास्त्रों का सार निहित है, इसीलिये इसे—"सर्वशास्त्रमयी" कहा करते हैं। गीता हिन्दू जाति की परमोत्तम तथा चिरस्थायी विभूति है। गीता में सभी धर्मों का सार भरा हुआ है। गीता किसी धर्म की निन्दा नहीं करती। गीता का उपदेश केवल भारतवर्ष के लिये ही नहीं वरन् समस्त संसार तथा सब जातियों के लिये समान है। गीता का उपदेश युवा तथा वृद्ध, स्त्री तथा पुरुष, गृहस्थ तथा संन्यासी, एवं संसार के झन्झटों में फँसे हुये प्राणियों के लिए समानरूप से लाभकारी है। दुनियाँ की किसी भी भाषा में ऐसा सुबोध ग्रन्थ नहीं है। इसका उपदेश बहुत ही उच्चकोटि का है।

भगवान ने कहा है—

य इमं परमं गुह्मं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयम् ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

(गीता १८।६८, ६९)

अर्थात् जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परमरहस्ययुक्त गीताशास्त्र को रे भक्तों में कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। उससे ढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई भी नहीं है तथा पृथ्वी भर में उससे ढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्य में होगा भी नहीं। जिसकी परमात्मा की भक्ति ें और गीताशास्त्र को सुनने में रुचि है, वही इसका अधिकारी है।

कोई कोई ऐसा कहते हैं कि गीता प्रायः हिन्दुओं का ही धर्मग्रन्थ है, पर ास्तव में यह केवल हिन्दुओं के लिए नहीं है, मुसलमान, ईसाई आदि सभी र्मावलम्बियों के लिये है और जो धर्म को नहीं मानता उसके भी कल्याण का मार्ग ै। गीता की संसार भर में प्रशंसा है।

अमेरिका आदि सुदूर देशों में भी सहस्रों मनुष्य गीता पढ़ते हैं। न्यूयार्क, ैलिफोर्नियाँ, सेनफ्रांसिस्को, वाशिंगटन आदि सभी स्थानों में गीता का प्रचार है। ीता का यह अनुवाद न केवल भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में अपितु ग्रीक, लैटिन, र्मन, फ्रेञ्च, अँग्रेजी, फ़ारसी आदि संसार की अनेक भाषाओं में विद्यमान है।

गीता की विदेशी विद्वानों ने भी प्रशंसा की है। योरोप के प्रथम दार्शनिक लेटो' तथा 'पाथागोरस' ने स्वीकार किया है कि समस्त संसार गीता के ध्यात्मवाद का ऋणी है। रोंमारोला का कहना है—मैंने संसार के सम्पूर्ण दार्शनिक न्थों का अध्ययन किया, परन्तु जितने अच्छे दार्शनिक सिद्धान्त गीता में तथा

उपनिषदों में हैं उतने अन्यत्र कहीं नहीं। इसी प्रकार प्रोफेसर "मैक्समूलर" तथा "वाल्टर एडामर" और "मेकलम" तथा रूस के भूतपूर्व प्रधान मिस्टर 'स्टालिन' आदि ने गीता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

गीता का यह वही उपदेश है जो सदा हिन्दू जाति को निष्काम कर्म की ओर प्रेरित करता रहा और जिसकी भावना से प्रेरित होकर स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजी, विक्रमादित्य, भगवान बुद्ध, समर्थ रामदास, शिवाजी, स्वामी दयानन्दजी, महात्मा गान्धी, लोकमान्य तिलक, श्रीगोखले, श्रीरानाडे आदि समय-समय पर हिन्दू जाति को मार्ग निर्देश करते रहे हैं।

आज श्रीमद्भगवद्गीता प्रत्येक आस्तिक हिन्दू की बहुमूल्य निधि बन गई है। राजप्रासाद से लेकर कृषक के कुटीर तक में उसका प्रवेश हो गया है। यदि हिन्दूधर्म के समस्त ग्रन्थों का लोप हो जाय केवल गीता ही शेष रहे तो भी हिन्दूधर्म का महत्त्व संसार में—अमिट रह सकता है। गीता तो सभी के लिये इस लोक और परलोक में कल्याण करने वाली है। इसके अध्ययन से शरीर, मन, वाणी और बुद्धि की उन्नति होती है।

गीता के अध्ययन-अध्यापन और उसके अनुसार आचरण करने से अनेकों ऋषियों को उत्तम गति मिली। गीता का अध्ययन करने के फल और महत्त्व का वर्णन करते हुये भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥
(गीता १८।७०)

अर्थात् जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों के संवादरूप गीताशास्त्र को पढ़े उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा।

श्रीवेदव्यासजी ने कहा है—

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

(महाभारत भीष्म० ४३।१)

अर्थात् गीता का ही भलीभाँति गान करना चाहिये फिर अन्य शास्त्रों के विस्तार की क्या आवश्यकता है। क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान के साक्षात् मुखकमल से निकली हुई है। गीता का श्रद्धा और प्रेम के साथ गायन करने से इतना रस आता है कि उसके सामने सारे रस फीके पड़ जाते हैं।

गीता में निष्काम कर्म, स्थितप्रज्ञ, कर्मयोग, भगवान का अवतार लेना, चारों वर्णों की सृष्टि, ज्ञानी संन्यासी मन को वश में कैसे करें, योगभ्रष्ट मनुष्य की गति, प्रकृति और परमेश्वर, भगवान का स्मरण, भगवान की विभूति, भक्तियोग, जीवात्मा और परमात्मा, प्रकृति के तीन गुण, दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति के लक्षण, तीन प्रकार की श्रद्धा, तीन प्रकार के तप, तीन प्रकार के यज्ञ, तीन प्रकार का दान, तीन प्रकार का भोजन, तीन प्रकार का त्याग, तीन प्रकार का ज्ञान, तीन प्रकार के कर्म, तीन प्रकार के कर्त्ता, तीन प्रकार की बुद्धि, तीन प्रकार के सुख तथा चारों वर्णों के कर्त्तव्य बतलाये गये हैं।

गीता का उपदेश निरुत्साहियों को उत्साहित करने वाला, आशा से रहित हृदयों में आशा का संचार करने वाला, कायरों को वीर बनाने वाला तथा आलसियों को स्फूर्ति देने वाला है।

आज के इस जगत में सत् शिक्षा देने वाला सार्वभौम ग्रन्थ गीता ही है। इसका विश्व में जितना भी प्रचार होगा उतना ही वह सच्चे सुख और शान्ति की ओर आगे बढ़ सकेगा। यह सिद्ध हो चुका है कि गीता का उपदेश व्यक्ति को एवं विश्व को अनन्त सुख शान्ति का सुमार्ग प्रदर्शित कर रहा है। इसका पाठ करने से जितना

पुण्य होता है, समझने से उससे अधिक और आचरण में लाने से अनन्तगुना अधिक फल होता है। जिज्ञासुगण चुने हुये नित्य उपयोग में आने वाले श्लोक कण्ठ करें और समझते हुये उन्हें आचरण में लाने की योजना के अनुसार कार्यान्वित कर कल्याण के भागी बनें जिसके द्वारा गृहस्थाश्रम तथा अन्य आश्रम सुखमय हो सकते हैं। इससे मानवसमाज चरित्रवान् बनेगा जिसकी सभी को आवश्यकता प्रतीत होती है।

गीता सारे उपनिषदों का सार है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

अर्थात् सम्पूर्ण उपनिषद् गौ के समान हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दुग्ध दुहने वाले हैं, कुन्तीपुत्र अर्जुन बछड़ा हैं, महत्त्वपूर्ण गीता का उपदेशाऽमृत ही दूध है और उत्तम बुद्धि वाले पुरुष ही इसके पीने वाले हैं। अन्त में नीचे लिखी वन्दना के साथ इस लेख का उपसंहार करते —

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

श्री माँ का जयपुर शुभागमन

जयपुरनिवासी श्रीमदनमोहन वर्मा की साग्रह प्रार्थना पर श्री मां (नानीजी, दीदी गुरुप्रिया, स्वामी परमानन्द, स्वामी चिन्मयानन्द तथा अन्य भक्तों और सेविकाओं सहित) १८ सितम्बर को प्रातः दिल्ली से जयपुर पधार कर तीन दिन जयपुर विराजीं। सर्वप्रथम जयपुर स्टेशन से "मां" (पूरी पार्टी के साथ) वर्माजी के हाल में ही बने हुए निवासस्थान पर पधारीं, जहाँ श्रीमान् तथा श्रीमती वर्मा ने मंगल आरती द्वारा उनका हार्दिक स्वागत किया। तत्पश्चात् माँ, जिस स्थान पर उनके निवास का प्रबन्ध किया गया था, वहाँ पहुँचीं।

श्री मां के पधारने से जयपुर भर में खुशी की लहर दौड़ गयी। मां को अधिक कष्ट न हो, इस विचार से वर्माजी ने सामूहिक सत्संग का कार्यक्रम अपने निवास स्थान पर तीनों दिन केवल सायं ७ से ९॥ बजे तक रखा था। इसके अतिरिक्त मां के निवास स्थान पर भी दिन में १० से १२ बजे तक सत्संग होता था और अनेक स्त्री-पुरुष समय समय पर मां के दर्शनों के लिए आते रहते थे।

सायंकाल का सामूहिक सत्संग तीनों दिन खूब सफल रहा। ७ से ८॥ बजे तक कीर्तन, भजनादि होते, जिनमें आदरणीय पुष्पा बहिन की मंडली के मधुर गान के अतिरिक्त जयपुर की भक्त महिला मीरा बहिन और भक्तवर श्रीनारायण बाबा के भजन-कीर्तन भी होते, जिन सभी से मां की पवित्र उपस्थिति के कारण दूना, चौगुना रस बरसता था। दूसरे दिन तो स्वयं श्री मां ने कीर्तन करके सभी को आनन्द मुग्ध कर दिया।

पौने नौ से नौ बजे तक मौन होता जिसमें अटूट शान्ति रहती। ९ से ९॥ बजे तक श्री मां जिज्ञासुओं के प्रश्नों का उत्तर देकर शंका-समाधान करतीं। एक

दिन श्री मां अचानक पंडाल से उठकर वर्माजी के घर में आँगन के द्वार से प्रवेश कर गयीं और पूजा के कमरे में पहुँच कर प्रत्येक मूर्ति को स्पर्श कर उनकी प्रतिष्ठा सी कर आईं और आंगन में घूम कर सारा घर पवित्र कर दिया।

सत्संग वर्माजी के निवासस्थान पर आगे के मैदान में लगे पंडाल में होता, जिसमें सैकड़ों स्त्री-पुरुष जमा हो जाते। तीसरे दिन तो ५०० से भी अधिक उपस्थिति हुई थी और सारा मैदान भर गया था। अभी तक जयपुर के स्त्री-पुरुष मां की भक्तवत्सलता की चर्चा करके आनन्द बिभोर होते हैं। मां से जो लोग पहिले से परिचित थे उनमें एक विशेष चर्चा यह रही कि जयपुर की इस यात्रा में मां बराबर अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में देखी गईं, जो जयपुर के भक्तों के लिए परम सौभाग्य की बात थी।

न मालूम कितने जयपुर के भक्तों के उद्गार मां को जयपुर खींच लाए। वर्माजी अपने को केवल निमित्तमात्र मानते हैं।

वर्माजी स्वयं अपने को "अहैतुकी कृपा" का भिक्षुक बताते रहे हैं। तीसरे दिन के सत्संग में जब "अहैतुकी कृपा" पर एक सत्संगी के प्रश्न के उत्तर में मां ने अत्यन्त मधुर प्रवचन किया, तो वर्माजी को ऐसा भान हुआ कि मानो "अहैतुकी कृपा" साक्षात् मूर्तिमान् होकर फूल बरसा रही हो।

सत्संग में जो प्रश्नोत्तर हुए उन में से कुछ का संक्षिप्त वर्णन नीचे देने का प्रयास किया जाता है—इसमें त्रुटियाँ हो सकती हैं, जिनको पाठकगण क्षमा करेंगे, कारण कि उस समय सभी सुनने में मस्त थे, किसी ने तत्काल notes नहीं लिये। दूसरे, अधिकतर मां ने अपने अनूठे माधुर्य से प्रश्नकर्ताओं से ही उनके प्रश्न हल कराए ; अतः जो भाषा लिपिबद्ध की गई है उसमें स्वयं प्रश्नकर्ताओं की भाषा भी कुछ मिली जुली हो सकती है।

(१) प्रश्न—मेरा बुद्धि में इतना विश्वास है कि वह प्रभु में सरल विश्वास को जमने नहीं देता इस बुद्धिवादिता से कैसे पिण्ड छुड़ाया जा सकता है ?

उत्तर—यदि तुम अपने को बुद्धिवादी मानते हो तो यह जानने का प्रयत्न करो कि "तुम" कौन हो। "मैं" कौन हूँ यह जानने का गम्भीर प्रयत्न भी बुद्धिवादिता को समाप्त कर सफलता प्रदान कराने में समर्थ हो सकता है। विचार से मिथ्या अहम् भस्म हो जाता है और प्रभु-विश्वास से वह गल जाता है। जो केवल साधन भेद है, साध्य भेद नहीं।

(२) प्रश्न—आत्मज्ञान प्राप्त करने का सबसे सरल उपाय क्या है ?

उत्तर—भगवान को या उनके प्रतिनिधि के रूप में गुरु को आत्मसमर्पण कर देना ही सबसे सरल उपाय है। समर्पण के उपरान्त गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग जप, ध्यान आदि का अनुसरण करना चाहिए। गुरु उसी को समझना चाहिए जो अत्यन्त पवित्र और प्रिय लगे।

(३) प्रश्न—एक बालिका—"यदि मुझ में भगवान हैं तो मैं अपनी ही पूजा क्यों न करूं ?"

उत्तर—हाँ। पहले तुम अपने में भगवान को पहचान लो फिर पूजा कर सकती हो।

(४) प्रश्न—भगवान् की प्राप्ति के मार्ग में अनेक विक्षेप आते हैं, उनसे पार पाने का सहज उपाय क्या है ?

उत्तर—भगवान् के चरणों की शरण के सिवाय विक्षेपों पर विजय पाने का और कोई सहज उपाय नहीं है। मल, विक्षेप और आवरण जो कहलाते हैं वे अपने ही पूर्व कर्मों के फल हैं, परन्तु जैसे गाय अपने बछड़े को जन्म देकर उसके शरीर के

मल को चाट कर साफ़ कर देती है वैसे ही शरणागतों के मल को भगवान स्वयं खा कर नष्ट कर देते हैं। अबला का बल पुरुष ही है। और पुरुष केवल पुरुषोत्तम भगवान् हैं। जीव सभी अबला हैं।

(५) प्रश्न—मन बड़ा चंचल है। इसको कैसे स्थिर किया जाय ?

उत्तर—चंचल मन को अचंचल (भगवान) के लिए चंचल कर दो। भगवान के स्मरण का अभ्यास करने और संसार की ओर से राग हटाने से मन स्थिर हो सकता है। भक्तियोग के अभ्यास स्मरण, कीर्तन, वन्दन आदि शास्त्रों में बताए हुए हैं।

(६) प्रश्न—मन को स्थिर करने के लिए वैराग्य अभ्यास आदि तो बड़े और भक्त ही कर सकते हैं। हम गृहस्थ लोग अपना धन्धा भी करते रहें और भगवत्प्राप्ति भी हो जावे ऐसा सरल उपाय बताइये।

उत्तर—भगवान हमारे स्वामी हैं और हम उनके सेवक हैं। यह कुटुम्ब भी हमको भगवान ने सेवा करने के लिए दिया है। हम इस गृह-मन्दिर के पुजारी या मैनेजर हैं, भोजन भी भगवान का प्रसाद है, इस प्रकार की भावना निरन्तर रखने से भगवान में प्रेम हो जावेगा।

(७) प्रश्न—सुना जाता है कि भगवान अहैतुकी कृपा करते हैं। परन्तु देखने में यह आता है कि साधन करने वाले ही सिद्धि प्राप्त करते हैं। इसलिए साधना का रहस्य बताने की कृपा करें ?

उत्तर—"एक कृपा से होय सो होय"। भगवान की कृपा बिना हेतु के ही होती है। हमको यह मनुष्य शरीर भी उसने ऐसी ही कृपा करके दिया है। सद्गुरु भी भगवान की कृपा से ही मिलते हैं। साधना की ओर प्रवृत्ति भी भगवत्-कृपा से

होती है। साधन की पूर्णता भी इसी में है कि साधक यह मानता हुआ साधन में लगा रहे कि सफलता उन्हीं की कृपा से होगी, मेरे किए कुछ न होगा। यही साधन की पराकाष्ठा है।

वास्तव में तो प्रभु की अहैतुकी कृपा सदैव बरस रही है। अपना बरतन औंधा न रख कर सीधा रखना है। यह जो जनताजनार्दन का सत्संग हो रहा है, यह भी तो प्रभु की अहैतुकी कृपा का ही फलस्वरूप है।

(८) प्रश्न—गीता में कहा है—"तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च" अर्थात् सभी काल में मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। परन्तु शत्रुओं पर प्रहार करते हुए और उनके प्रहारों से बचाव करते हुए भगवान का स्मरण किस प्रकार संभव है ?

उत्तर—यह उपदेश एक विशेष परिस्थिति में अर्जुन जैसे भक्त को दिया गया था। हम लोगों के लिए इसका पालन ऐसे हो जायगा कि प्रत्येक कार्य के अन्त में और उसके आगे का दूसरा कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व हम भगवान का स्मरण कर लें। ऐसा करने वाले भक्त, जो ईश्वरार्पण बुद्धि से सब कार्य करते हैं, इस उपदेश का पूर्ण पालन कर रहे हैं, ऐसा मान लेना चाहिए।

The ONE who is the Eternal, the Ātman,
His Himself is the traveller on the path of Immortality,
He is all in all, He alone is.

MATRI VANI

Repeat the name of the Great Mother, contemplate Her, try to see Her in everything. Aspire to become ever more permeated by Her.

* * *

The pilgrim on the path of Immortality never contemplates death. By meditation on the Immortal the fear of death recedes far away; remember this! In the measure that your contemplation of the One becomes uninterrupted, you will advance towards full, unbroken Realization.

* * *

The mind's suffering and its problems, its perceptions and creations are all within Him. What is termed near and far is also contained within Him, the Self; and likewise is the sustained effort of the aspirant. One should endeavour to remain constantly immersed in the stream of the *sādhana* which has the inherent power to make one possessed of one's Supreme Wealth. At all times He alone plays His play, disguised as ego and intelligence. The One who appears as the action of the ego, He and no other manifests also as pure action. In order that this may be realized, intelligence becomes aware of rest in movement—when by the movement of Self-action the Essential Nature (*Svarūpa*) of pure intelligence is to be revealed. Thus, ignorance, intelligence, as well as the knower of both, are none but He, who, ever Self-effulgent, yet becomes revealed He, the Self is infinite and finite. Holding on to Him, without flinching, unimpeded, one must endeavour to forge ahead ceaselessly. Having entered that current, any form in which He allows Himself to be grasped by the purified mind and intelligence may be accepted as an aid towards Self-realization.

* * *

It is man's duty to try and cultivate faith and devotion. Blows are characteristic of life in the world; thus man is taught to understand what the nature of the world is, and then detachment from pleasure and enjoyment ensues.

* * *

When there is a choice between the pleasurable and the elevating, one should always choose the latter. By practising renunciation in the endeavour to draw nearer to God, one moves but towards one's own Self. Truly, the striving for his own perfection is man's duty as man.

* * *

One who serves God can never be helpless. The more ardently one seeks communion by engaging in *japa*, His service and contemplation, the fuller will be His revelation.

A person who knows that he is ignorant must be credited with having most certainly attained to some measure of knowledge.

"Ma"

INSPIRED SAYINGS

SWAMI RAMDAS

You should not forget God. Remember Him by taking His holy name, This will enable you to live a balanced life.

* * *

Concentrate upon *Ramanama* as your main *Sadhana*. *Ramanama* alone is all-sufficient. This will grant you perfect purity of mind and enable you to realize God.

* * *

You can spiritually advance even when you are living with your family, provided you spend some time exclusively in the remembrance of God and meditation on His divine attributes.

* * *

If you stick to the name of God with all love and devotion you will achieve anything and everything. Principally you should aim at God-realization. Concentrate on the Name and you will be saved.

* * *

When you are always thinking of God, you will realize Him. God-realization comes by surrendering your little self to the higher Self—God. For this, what is needed is the unbroken remembrance of God.

* * *

Everyone meets with disappointments in life. This is the common lot of mankind, but the man who trusts God and remembers Him constantly is free from worries. He reconciles himself to every situation that falls to his lot. 'Contentment is a continual feast'.

* * *

If you attune your mind with ***Rāmānamā***, your intelligence will be awakened, your senses will be controlled, and your life blessed by the revelation of the Divine within you.

* * *

Depend upon God in all things. Surrender to Him is the only way to inner freedom and peace.

* * *

The real beauty of life lies in beholding the Divine everywhere. The whole nature before you is His manifestation. In this supreme vision lies your real freedom, peace and bliss.

* * *

God dwells in the hearts of us all and you are not separate from Him. In fact, God and you are one. God is all, and all-in-all.

* * *

A man who is aware of God is a great force for good in the world, whereas a man who is not, lives in vain.

* * *

God is your life and soul. If you recognize this truth you can lead a life of fulness, freedom, bliss and peace. Then divine power reveals itself in all your thoughts, feelings and actions.

* * *

How grand is the Self! It is still grander to know that you are the Self. Let your life be radiant with this supreme Realization.

Prajna—The Light of Intuition

PROFESSOR MADAN GOPAL, M.A. (ALLD.), B. LITT. (OXON),
C. P. E. S. (RETD.)

(Continued from last issue.)

Enough has been said to give some idea of what this faculty of *prajña* means. It is an inner light different from the light of the mind, because it does not rest upon logical conclusions and reasoning, but upon a sort of inner feeling. Instead of being ethically neutral, as the intellectual principle largely is, it is essentially dependant on an ethical view of life. Instead of being proudly arrogant and self-assertive, it rests upon humility and a passive acceptance of the light that comes from within. It is best cultivated by quiet meditation and practice of true virtue. It is generally awakened by the influence of some spiritually advanced person ; this is the best way in which it can come to us. So it is evident that it is different from the intellectual principle and not a mere extension of it into a higher dimension.

In *yogic* training this kindling of *prajña* plays a central part. In ancient Indian education great stress was laid upon *prajña* (often under the name of *buddhi*) and the *Gurus* directed their attention to the cultivation of this faculty much more than the intellect. The *Gurus* carefully examined their pupils as to their fitness for this kind of development, and insisted upon an austere course of life, including strict truthfulness and chastity in order to prepare their disciples for the reception of this higher light. Their courses of instruction appear strange to us, but if we examine them carefully we shall find them full of psychological significance. They did not aim at giving clear definitions and principles, but only placed problems before their pupils and expected them to solve them problems by their own inner light. Instances abound in the Upanishads where the *Gurus* led their pupils from one stage to another by compelling them to think out and guess the nature of the truth they were asked to investigate. Sometimes this process took years and would hardly be submitted to by modern aspirants after knowledge. But the Gurus knew that they had to build up a faculty and this could not be accomplished easily or quickly. Hence they utilized every device, including the intricacies and ambiguities of the Sanskrit language, to compel their pupils to go through the strenuous exercise of learning to walk in their inner journey, by the light that comes from within. This, combined with the ethical discipline insisted upon, and the personal influence of the Guru, it was expected, would lead to the opening up of the intuitive faculty. Like all systems, this also came to be abused when it fell into weaker hands, and it is true that in its later stages it led to mere vacuity and useless hair-splitting. But originally the idea was sound, and even now has great possibilities under right conditions.

It may be asked then, how it is that even people who can be expected to possess this light, often make mistakes ? It has to be understood that this light is perceived in its purity only in the higher regions of the psyche, and the problem of bringing it down to the earth, so to say, is beset with many difficulties. The intellectual mind begins to operate on it, our hopes and prejudices begin to colour it, our fears and inhibitions arise to modify it, and by the time a practical decision can be taken, its original nature and force are much diminished. I have often observed that religious people with a highly developed ethical sense and nobility of character, react *rightly* to certain problems at first, but soon lose themselves in a mass of sophistries. This happens even with people of unblemished religious and spiritual antecedants, who yet cannot adjust themselves to the social problems of today, which have to be considered in a light independent of the ancient *S'āstras*. Here it is evident that the guidance of *prajñā* gets mixed up with intellectual ideas and even prejudices, and so the result is not the true reflection of the principle of *prajñā*. We must not blame *prajñā* for not giving us the correct guidance if we do not obey its commands, either on account of mental cowardice or laziness.

It must also be remembered that, like everything else that takes place deep in the psyche, the light of *prajñā* can only be interpreted correctly after long practice. So the aspirant after the inner Light has to learn to obey its commands and to carry out its injunctions as fully as possible. The strict practice of truthfulness is very important in this connexion ; because even slight concessions to conventional untruth (so difficult to avoid in practical life) can lead to serious distortions and then this faculty refuses to act. The psychological problem involved is of great delicacy, and it requires much moral courage and persistence to handle it properly. Any deliberate refusal to see the light on account of social pressure or for the sake of ease and comfort, will create a permanent blind spot. Any prejudices and fixed ideas that get mixed up with it will lead to a distortion of the truth. Only a very resolute and pure attitude can succeed in arousing this faculty in such a manner as to act as a reliable guide.

Here a few words may be said with regard to a very interesting question that arises in the minds of many inquirers. Most people who aim at a religious or spiritual life realize the importance of faith. But what is this faith ? Many seem to imagine that it is some kind of a rigid attitude of the mind, supported by an iron will to keep the mind fixed on certain truths or a certain attitude, and not to allow any doubts to arise. This can be done by some people, but only at great cost. For, as modern psychology shows, the sub-conscious or 'depth-mind' is not so easily amenable to the will ; and doubts, if forcibly suppressed, can lead to a serious distortion of the personality. By forcibly suppressing our doubts, we weaken the faculty of clear thought and that opens the way to all sorts of foolishness, mental vacuity and a general lowering of the intellectual powers. This is often seen among people of a pious and devout temperament, who lose the faculty of critical thought because they have fallen under the deadening influence of some dogma, which has given them temporary peace, and consequently they dare not question it. The emptiness of many religious practices, the deadness that they show in actual manifestation, the ridicule and ribaldry that they often provoke, is just due to the fact that they are performed by people who have never thoroughly purified their minds, and in spite of all pretences, doubts are corroding their mind from within. This danger is specially marked in traditional civilizations like that of India.

Now True Faith does not arise from an attitude of the will or the forcible suppression of doubts, but from a vision of *prajñā*. It is only possible when the mind has been purified by the practice of virtuous conduct and does not demand any forcible suppression of thought. It is well known that sometimes people are prepared to make great sacrifices for a principle, which they can neither clearly define nor fully understand. This is really the rising of *prajñā* in its earliest form; for, as has been said before, *prajñā* depends more upon an ethical attitude than anything else. Hence, even if the rules of *yama* and *niyama* (Truth, Self-control etc.) are followed dogmatically, they lead to a clearing of the inner consciousness and soon one begins to see the reasons for them and their relationship to the fundamental Law of Harmony (*dharma*). This does not need any suppression of the intellectual side of the mind. The dangers pointed out above arise mainly because people want to achieve rapid results. In my opinion it is much better to live with one's doubts, and to defer religious practices until the mind has cleared up through the observance of moral rules and sincere thinking.

I shall say only a few words about the next step - what Buddha calls Right Meditation. This is a powerful aid in arousing the *prajñā* when rightly done. Briefly, meditation can be about (1) a divine form or personality, (2) a principle like Truth or Harmlessness or (3) the problem of life itself, i.e. trying to understand sincerely and directly the significance of all that we see around us, and trying to relate it to the supreme law of harmony. These three kinds of meditation are arranged in ascending order of difficulty and do not naturally contradict one another. The first is only possible to those who can accept a divine form or personality, i.e. in whose minds such a faith already exists on account of their past *samskāras*. This is the meditation most common amongst Hindus, but there are many people of Western origin or with a Westernized mind who cannot do it. For them, meditation on an abstract principle (type 2) may be possible and can yield very good results if followed sincerely and persistently. The third type is the most difficult, because here there is nothing for the mind to cling to, and the necessary intellectual elasticity is a rare virtue. But for keen intellects this is in some ways the best type of meditation, especially if some strength has already been gained by the practice of ethical discipline.

Thus Faith, which is necessary for any advancement in inner life, is seen to be but a partial manifestation of *prajñā*. When *prajñā* is fully aroused, the question of faith recedes into the background, for the harmony of life is felt so strongly that no doubts with regard to the fundamental realities upon which spiritual experience is based, can arise. It only shows us *our own path*, but it does this with complete clarity and inner authority. A man in whom *prajñā* is aroused may become a philosophical thinker also if his intelligence is strong, but that is not always the case. However, at any rate he will have a firm grasp of ethical principles, and will have no doubts about what I have called the fundamental Law of Harmony (*dharma*). Equipped with this, he will be able to face life with courage and equanimity under any circumstances and will stand out amongst his fellow-men by his sincerity and courage. What his religious views may be will depend upon the circumstances of his birth and education, etc., but he will never be found wanting in charity and understanding for others with different views. Such a man may manifest great variations of religious opinion, but will show sincerity, steadfastness, clarity and courage which raise him above the common level. Rightly understood this is the firm foundation for any of the higher spiritual experiences.

Of course, these things must not be understood in a rigid sense, for the various kinds of knowledge overlap, and ultimately all knowledge becomes one. The intellectual view as well as the perceptions of the senses and the instincts have a place in a completely balanced psyche; and when the *prajñā* has been awakened, the intellect can become a keen and useful tool under its guidance. The bodily functions and sense activities too can be transformed marvellously under the influence of wisdom. But without this wisdom, the human psyche remains incomplete. However brilliant the intellect may be, it does not become truly creative nor lead to inner peace. ***Prajñā*** is a faculty that is just dawning in humanity and consequently its nature is not well understood as yet. The intellect, with its brilliant achievements in certain directions seems to dazzle most modern minds. But *prajñā*, which is often compared in mystical literature to Moonlight, as against the sunlike quality of the intellect is far more satisfying and peaceful.

Nothing very much need be said about the higher faculties, because they are only accessible to yogis and sages. The nature of the *Mahat* is said to be like the break of day after a dark night, when the whole landscape can be seen in its entirety. At this stage soul knowledge arises, and the true nature of the human psyche begins to reveal itself. Man begins to understand what he is in reality and therefore problems like those of re-incarnation, birth and death, the true purpose of life, freedom and predestination, begin to be seen in a true perspective. Before this stage, howsoever clearly we may grasp these problems by the intellect, they will not convince completely the inner mind, and an element of doubt and uncertainty will remain. When the *prajñā* is aroused, one will begin to feel intensely that these problems are capable of solution and that a higher Truth does exist. But one will not be able to define what that is exactly, even to oneself. Yet when the light of *Mahat* (the Great Principle) has dawned, all these problems become clear, and no question or doubt can arise in the mind. The whole problem of existence lies before one like a landscape on a bright day. So at this stage, self-knowledge becomes a reality, and through that self-knowledge the laws of the cosmos are perceived in their fulness. That is why this faculty is called '*Mahat*'. Hence the man who has learnt to function on this plane is truly called a *Mahātmā*. But it must be understood of course that he may be unable to communicate this knowledge to lower minds in the way they desire it. The conclusions of mathematics are completely clear and convincing to the trained mathematician, but cannot be explained to a child. It is important to understand this as the question is often asked: 'If there are such higher intelligences, why don't they explain the problem of life to us?' The real reason is that an idea cannot be understood apart from the experiences that lie behind it. The modern views of physics seem contradictory and paradoxical to a layman who approaches them without the necessary preparation. It is only after a full understanding of the mathematical and experimental basis of modern science that these conclusions seem to be inescapable. Similarly, but to a much higher degree, the knowledge of a sage is based upon experiences which are real only to one who has gone through them. For example, the idea that all sense perceptions are mental and that it is the mind that lends colours and qualities to all things, seems a manifest paradox to the ordinary mind. But to the trained *yogi*, who has learnt to create and uncreate things by his mental powers, it is an experienced reality. Similarly, the doctrine that all life is joy seems a cruel paradox to us, immersed as we are in personal sufferings and struggles. But to the sage it is an ever present verity. These things could be stated as bare aphorisms (as has often been done in the Upanishads) or could be expressed by symbol, myth or story, as is the way of the *Puranas* and the *Tantras*, but they can at the best only stimulate the imagination or lend some help to the dawning *prajñā*. In their fulness they can only be understood by the experience referred to above.

I shall say nothing about the two next higher faculties or planes of consciousness *Avyakta* and *Purūṣa*, (*mahatāt param avyaktam avyaktāt purūṣoparā*). In so far as I have been able to investigate, it appears that there are creative stages in which the individual soul is united with the Supreme Source and begins to exercise Creative powers. This of course is a very high stage, and few are capable of really discussing it. This is very inadequate attempt to describe something that is both important and ilusive. Even the ordinary faculties of man like connation, emotion and the intellect are difficult to describe or to separate one from the other. The still higher faculties of intuition (which is being recognized in European psychology) and the faculty of clear vision (*Mahat*), which is only beginning to be guessed by advanced thinkers, are naturally much more subtle. Here, in Eastern psychology, their names and natures briefly indicated but no detailed descriptions are available. Whenever Eastern thinkers of the past tried to delve deeper into these problems, they adopted the language of symbol and myth as the one most effective for their purposes. But the modern mind is analytical, and wants concepts that can be clearly understood and related to other branches of knowledge. This could only be done by minds of an extraordinary quality, combining yogic experience, the faculty of clear exposition, and an understanding of the modern map of knowledge. I have no doubt that such minds will arise in time, for when the spirit of the age needs a certain expression, it finds its embodiment in appropriate human personalities. But at present the task largely remains to be done. It is in order to point the way to this that the present essay has been attempted.

Conversations with Sri Sri Anandamayi Ma

PROFESSOR B. GANGULY

(Translated by Atmananda)

(7)

Ranchi Ashram,
20th May, 1958.

Question : May it not at times happen that the *japa*, overpowers the one who practises it and forces him to continue with it ?

Mataji : Yes this also is a possibility.

Quesiton : Does God Himself sometimes perform the *japa* of some individual ?

Mataji : Of course ; for who are you in essence ? Practise your own *japa* ! Again, seen from a different point of view : is there any need to engage in *japa* ? Who actually does the *japa* ? Within the sphere of God's *Lila* everything is necessary—Sita, Lakshman, Mahavir all are wanted so that the Play may proceed. But in Reality nothing at all is needed.

Question : Why is the Play so full of tragedy ?

Mataji : Everything happens according to His Will.

Question : How much longer shall we have to weep ?

Mataji : So long as you do not realize Who you are.

Question : God feels pleased when His Name is repeated, does He not ? Therefore may one not call Him selfish ?

Mataji : It is you who find happiness and bliss in repeating His name. God is not a trader. It is you who say : "I am doing *japa.*" God in His Grace has shown you the path of the repetition of His name, so that you may realize Him.

Question : How much of His Grace does He bestow in punishment and how much in compassion ?

Mataji : God does not calculate. Whatever is necessary for the real good of His children, that He does.

Question : If our heart is full of faith, is it necessary to practise *japa* and meditation ?

Mataji : The fact that you ask proves that you have no faith. If you had real, genuine faith, these practices would be unnecessary.

Ranchi Ashram,
21st May, 1958.

Question : In the *Chandi* we read that *Mahāmāyā* cast a veil even over the consciousness of *jñāni*. Does this apply also to *Brahmajñānis* ?

Mataji : It applies only to men of ordinary knowledge, not to those who have attained to Supreme Knowledge. In the state that is beyond knowledge and ignorance, there can be no question of delusion.

Question : In the *Gītā* it is said : "Supervisor and permitter, supporter, enjoyer, great Lord* ......" etc. Does this imply that He is realized gradually by stages ?

Mataji : Yes, the possibility of realizing by stages also exists.

Question : What does '*Guru kripā hi kevalam*' signify ?

Mataji : That everything can be made possible by the *Guru's* Grace.

Question : Is there a difference between he *Guru* and the *Ista* (Beloved) ?

Mataji : From the viewpoint of the world they are different ; but actually they are one. It is the Beloved Himself who appears as the *Guru*.

Question : Suppose an aspirant does not feel inclined to practise the name or *mantra* received from his Guru, but otherwise engages in good and meritorious deeds ; how will he fare ?

Mataji : He will reap the fruit of his meritorious deeds ; but he will not get the benefit that results from carrying out the *Guru's* orders.

---

* *Srimad Bhagavad Gītā*, chapter XIII, verse 22.

Question : Where *sādhana* is concerned, does one's strength count for more than the *Guru's* ?

Mataji : Everything is possible by the *Guru's* Grace; whereas for the ego, not everything is possible. Thus the *Guru's* Grace has greater power. Three things are required—the *Guru*, the *mantra* and the practice. To engage in *sādhana* means to have mercy upon oneself. Upto a certain level one needs one's own mercy—and later the Guru's Grace.

Question : In what sense are the Name, the *Guru* and the *Ista* one ?

Mataji : The Name and He whose name it is are one ; the Guru is said to be *Brahma*, *Viṣṇu*, *Siva*—in this sense they are one ; that is to say, in the state of perfection they are one, but on the level of *sādhana* they are each separate. The *vigraha* (image) must be looked upon as God Himself. Likewise it is considered a sin to regard the *Guru* as a human being. "My Beloved has come to me as the *Guru* and the *mantra*, so that I may realize Him"—this is how you should comprehend it.

The Background of our Letters*

U. C. Dutt

Every letter of any language is a symbol of sound. Each letter combines with others and forms a word. A combination of words constitutes a sentence. Corresponding to these three aspects of language the linguistic science has got three distinct lines: (1) *Shabda* (sound) or voice, (2) *Artha* (meaning) or object, (3) *Pratyaya* or *Jñāna* (mental apprehension or knowledge). Here we are concerned with the sound aspect only.

Western scholars generally trace the origin of such sounds to natural phenomena like cries of animals, murmuring brooks, howling storms, dashing waves, rushing torrents, a clap of thunder and so forth. They do help no doubt, but Indian experts place all these audible sounds under one class called "*Vaikhari*". Whatever is uttered or heard originates from throat, *Vishuddha Chakra* or plexus at *Kantha*. The stage behind *Vaikhari* is *Madhyamā* which takes the form of light, a diffused and diluted light of dawn about to burst into sounds. It is located at the heart at *Anāhata Chakra*. Beyond *Madhyamā* is *Pashyanti*, a pure strong light of the meridian sun, melting all duality. It rests below the navel, called *Swādhisthan Chakra*. It emanates from the unspeakable, unknowable, primal source of creation suggested as *Parā*. As the ultimate source of light and sound (the former being the subtle form of the latter), *Parā* pushes *Jyoti* and *Nāda* outward due to its creative urge, so to speak.

---

* Based on talks by Mahamahopadhyaya Dr. Gopinath Kaviraj, M.A., D.Litt.

The dynamic aspect of consciousness (*Chitshakti*) as *Parā*) vibrates from *Mulādhāra* plexus at the bottom of the spinal chord near the rectum and goes up. The entire process is the working of *Nāda Brahma* expressing itself in the reverse order as sound, light and pure forms of consciousness (*Swarup*).

A letter is called *Varna* (colour). Obviously sound has no colour, but light producing sound is made up of rays of different colours. Each letter represents a colour. Fifty letters express 50 colours or rays, besides symbolizing the constituents of the transcendental Reality and the *Tattvas.* Our sources of knowledge are senses, reasoning and imagination. Another instrument is instinct, generally used by animals, children and uncivilized people, even by civilized men. All of them work on the normal plane. There is a supernormal or supramental source of knowledge called intuition—*Prajñā* or *Pratibhājñāna.* When this faculty is developed in a man under certain spiritual discipline, metaphysical truths—truths beyond time and space—are revealed to him or her in a flash." The whole man responds to it; the entire being is transformed, the past, present and future are reduced to a "specious present". Such a knowledge is free from errors, while knowledge from other sources is true in its own narrow spheres only. Intellect knows by multiplying concepts that hide facts, but intuition eliminates concepts and is brought face to face with eternal truth. It is difficult for a rational man to accept intuition as a sure instrument of knowledge. The West was reluctant to accept Bergon's Intuitionalism after the waves of Intellectualism caused by Kant and Hegel. Seers in all parts of the world have got intuitional experience. Some of them gave us the Vedas, the Upanishads, the Agamas, the Tripitakas, the Bible, the Koran, etc. In words of Tagore, they speak the language of Personality, not of intellect.

Those who are acquainted with Indian Philosophy know that all top-ranking systems like the Yoga and the Vedanta have accepted the Samkhya Cosmology. The Samkhya system has 25 principles (*Tattvas*): They are *Purusha*, *Prakriti*, *Mahat*, *Ahankāra*, *Mana*, five senses of knowledge, five senses of action, five *Tanmātras* and five *Mahābhutas* (gross elements). To them the Yoga system adds God as one of the three eternals (*Purusha*, *Prakriti* and *Ishwar*). The Vedanta unifies all of them under one principle, *Brahma* and explains plurality with the help of *Maya*. The Gita subsumes all the changing and non changing aspects, *Kshara* and *Akshara Purushas* under the synthesis of *Purushottama*. It was left to the Agamas to supply the intervening stages beyond *Purusha* and *Prakriti* with II principles. The *Shaiva* and *Shakta* Agamas agree to these 36 *Tattvas* (25+II principles). *Parama Shiva*, *Para Shaktti*, *Purushottama* and *Brahma* point to the highest reality in *Shaiva*, *Shakta*, *Vaishnava* and *Vedanta* cults respectively with this difference that *Brahman* is impersonal and attributeless, while the other three are both personal and impersonal with and without attributes or powers at the same time. When *Parama Shiva* intends to project himself as creation, 36 *Tattvas* follow.

They are (1) *Shiva*, (2) *Shakti*, (3) *Sadāshiva*, (4) *Ishwar*, (5) *Suddhavidyā*, (6) *Māyā*, (7) *Kalā*, (8) *Vidyā*, (9) *Raga*, (10) *Kalā*, (11) *Niyati* besides the 25 principles noted above. *Shiva* contracts His powers of omniscience, omnipotence, etc. with the help of *Māyā* (ignorance) and becomes *Jiva* or *Purusha* and His powers become *Prakriti*. These *Purusha* and *Prakriti*—conscious monads and unconscious matter—evolve 23 other principles. Thus the *Shaiva* or *Shakta* Agamas adopt 36 principles to explain the origin, process and product of the world system. The whole universe is a manifestation of *Shiva* and *Shakti*, the static and dynamic aspects of the ultimate Reality—*Paramo Shiva*.

Time and space begin to operate with the creation of mind. Principles prior to mind exist in supertime and superspace (*Mahākāl* and *Mahākāsh*). It is difficult for mind or intellect to form notions about such supertime-space existence that can be caught only through intuition. Intellect knows becoming in its time-space-causality setting, while intuition sees being prior to its functioning at a lower level as becoming—the world-order in motion. Hence arises the necessity of transcendent or pure logic as different from traditional or formal Logic. Perhaps in this sense Oswald Spengler uses "Organic" and "Inorganic" Logic in his famous book, *The Decline of the West*. While dealing with the problem of World History (page 117), he explains the idea of Destiny and the principles of Causality. "The Destiny idea demands life-experience and not scientific experience, the power of seeing and not that of calculating, depth and not intellect. There is an *Organic Logic*, an instinctive, dream-sure logic of all the existence as opposed to the logic of the inorganic, the logic of understanding and of things understood—a logic of direction as against a logic of extension—and no systematist. no Aristotle or Kant, has known how to deal with it." The former deals with the essence of things and its relation with the basic forms emanating in succession from the static and dynamic aspects of pure consciousness, revealing its world-longing, its desire to rise into the light, to accomplish and actualize its design. The latter discovers some laws of thought—Identity, Non Contradiction and Excluded Middle—and recasts the basic forms in the light of the Laws of Consistency as conceived by intellect and distorts facts as they are. So knowledge derived through senses and intellect are virtually different from that derived through intuition. One is impure, misleading Avidya (ignorance). The other is pure, luminous Vidya (knowledge). A pure form assumes masks at different levels of cosmic order and alters its shape to amuse the deluded spectators, so to speak. We have come down from pure light to pitch darkness by slow degrees and have to go back by retracing steps from the unconscious to the super-conscious. Stuff of the world is light, like fish of light we swim in the ocean of light unconsciously. Intuition, not intellect, is the sure guide to pure knowledge, and it can be developed under thorough spiritual discipline.

Intellect has its pragmatic value and works all right in its own sphere for practical purposes, but too much stress on it blocks the way to the finding of the deeper values of life, the return journey to Light. Even Aristotle, the father of

European Logic, had to admit that "God is the meeting-ground of all contraditions", and Schopenhauer exclaimed "Consistency is the great hobgoblin of human mind".

(To be continued)

At all times let patience be your stronghold. Say to yourself : "Lord, everything Thou doest is for the highest good !" Pray for the power of endurance. Nothing happens that is not an expression of God's Grace : verily, all is His Grace.

Anchored in patience, bearing everything, abide by His Name and live joyously.

"Ma"

With Mataji on the Bank of the Gomati River

KRISHNANATH

In the February 1961 issue of Ānanda Vārtā, an account was given of the *Samyam* and *Bhagavat Saptahs*, held from 23rd October to 4th November 1960. The functions were an uplifting spiritual experience, but still left a sense of disappointment in my mind; for my expectation that in Naimisharanya, being an out-of-the-way place, there would not be so many people and it would therefore be possible to have more intimate contact with Mataji, had not been realized. We could see Her sitting on the dais for long hours and occasionally had the good fortune of having her *darshan* from somewhat nearer in Her cottage, but the informal atmosphere that I longed for was impossible. It was rumoured that after the two functions, Mataji was likely to shift from Naradananda Ashram to some cottage on the banks of the Gomati. Many of those who had come, would have liked to stay on, but they were discouraged from doing so by the dismantling of the tents, the severing of electric connections and the cessation of feeding arrangements. All this was costing a lot of money and could not be maintained any longer. It was also made clear that Mataji wanted to be left alone after the strenuous time during the two *Saptahs*.

So, with a heavy heart, I was resigning myself to leave, when I learnt that Dr. Pannalal, one of Mataji's oldest devotees, was to be favoured with some accommodation and that Mataji had indicated that I could share it. If you wish for anything from Mataji very strongly, how readily and kindly She grants it ! For three days Dr. Pannalal and I stayed together in the Prakash Kutir of Naradananda Ashram—a cottage which had been previously occupied by Dr. Gopinath Kaviraj, who seemed to have left in it an impress of his spiritual practices. When Mataji shifted to the cottage on the Gomati bank, Her host there, Shri Prag Narain Saigal, was so kind as to lend us his own big tent. And so it happened that I was fortunate enough to get another fortnight with Mataji, in just the conditions I had longed and prayed for. Not only were there hardly any outsiders, but even most of the Ashramites had been sent away one by one to their various places, and after a time only a handful of them were left. So there was nobody to keep a record of 'this solitary stay of Mataji in the most charming surroundings' (to quote from *Matri Lila'*). It may not be out of place, therefore, if I narrate some of my recollections of this very happy period of my life.

During the three days that Mataji was still at Naradananda Ashram, we heard on the verandah of Her cottage the tape-recorded discourse of Swami Chetan Giriji who also gave one more talk on the *Kenopanishad.*

Mataji's silvery laughter is known to everybody, but I have never seen Her so convulsed with laughter as on one occasion. During the *Saptahs* a large number of dogs had gathered round our camp. They used to fight ferociously for leavings of food outside of the cook-house. One day, while we were sitting round Mataji on the verandah, I heard a loud bang outside, and Mataji was laughing away with a most amused expression on Her face. One of the dogs had thrust its head into a big earthen pot ; it was stuck there and the dog, while running blindly, had hit against a wall ! The dog was now running even faster in fright, with the rim of the pot like a collar round its neck ! It was only when somebody hit the rim and broke it that the dog ceased its antics.

The place on the Gomati was a kind of small hermitage. Taking advantage of an old *ghat* (stone-steps leading down to the river), Shri Saigal had built alongside, a row of five small huts, like hermit cells, with a somewhat larger cottage at one end on a slightly higher ground, and a double-roomed cook-house at the other end. He had created these for the benefit of visiting *sādhus*. Mataji occupied the bigger cottage, while Gurupriya Didi and the Ashram girls were given the cells. Soldaries (small tents) were provided for the *sadhus* of the Ashram who had remained behind, while some of them continued to stay in Nāradananda Ashram, which was not far off. Besides our little hermitage, there were, further away, other temples and Ashrams built by famous saints, who had resided here in the past. The surroundings were very picturesque. On one side was the winding river with its broad sandy basin, its banks dotted with these Ashrams ; there was a railway bridge at some distance over which trains could be seen, and heard whistling and rattling twice a day. On the other side of our camp there was a small hillock called the *Hanuman Tila*, with a temple on top, containing a huge image of Hanumān (about 18 feet high) carrying on his shoulders Rāma and Lakshmana, whom he had rescued from *Pātala* (the under-world). This hill was said to be the fort of King Virāta at whose court the *Pāndavas* had resided in disguise during the final year of their exile, which they were required to pass incognito. There are images (rather crude) of the five Pandavas and Krishna in one small house, and of Draupadi in a separate little hut ; but these are obviously of recent origin. There is a cave with an image of a smiling Hanumān in front, which is said to have a subterranean passage leading from the fort to some distant place. The rest of the hill is wooded and some of the trees seem to be very ancient.

A few people occasionally dropped in to have Mataji's ***dars'han***, but on the whole it was a very peaceful fortnight. For the first few days Mataji suffered from acute pain in Her joints. It looked like the result of the strain of the previous fortnight, but I suspect it was due to the troubles of other people She must have tried to lighten. But apart from taking it somewhat easy, Mataji showed no outward signs of what She was suffering, and in fact seemed very relaxed and jolly.

It was on the 6th of November that Mataji moved over from Naradananda Ashram to the Gomati bank. On that day *Akhanda Kīrtan* for twelve hours was arranged at Mataji's instance at Chakra-Tirtha by the *Pandas* of the place. Mataji was present there during the closing hours, when quite a large crowd had gathered.

The first evening Mataji made a tour of inspection round the camp on the Gomati bank. When She came to our tent, Dr. Panna Lal was in a half-dressed condition and to the amusement of the people following Mataji, he simply prostrated himself before Her in that state. What Mataji noticed was not his scanty clothing, but the lack of a *durrie* (covering) on the floor in the front portion of the tent, which was then promptly supplied. What touched us was the way She looked over everything, the little cells, soldaries and the cook-room, to make sure that everyone was comfortable. She was here truly like the mother of a small household. Throughout the stay we all felt as if we were members of one family. It was so cosy and comforting to sit around Her mornings and evenings on the verandah of Her cottage. At night, when it was cold, some of us had the privilege of sitting inside the cottage near Her during the nightly *bhajans* and the 15 minutes *mauna*. How our silent meditation was helped by Her close proximity ! But at other times also one felt Her presence, even when one was nowhere near Her.

Though Mataji had cured me of my habit of smoking, I was still fond of my cup of tea in the morning, which Dr. P.'s bearer faithfully provided regularly. It was a welcome warming up after the cold night and before the dip in the cold waters of the Gomati. The bathing in the river was invigorating and refreshing. After *puja* and breakfast in our tent, Dr. P. and I would wander for about half an hour over the hill or visit the nearby Ashrams and temples. At about 10 A. M. we used to join the very attenuated party for the daily recitation of scriptures on the parapet round a tree between the small huts, which also had a small shrine of Shiva. After the recitation, the *Bhagavata* used to be read and expounded by Brahmachari Kantibhai. After his departure, Brahmachari Kusum was entrusted with this task. This would finish by 10-30 or 11, when it was time for Mataji to come out on the verandah of Her cottage, where we would gather round Her. One day, when for lack of time Kusumda had omitted the reading of the Bhāgavata, the very first question Mataji asked was, whether the Bhāgavata had been read. Thus it was made clear that even when She was not present, nothing was hidden from Her. There was another instance of this supernormal perception of Hers. Dr. P. and I, while wandering round, had discovered, at some distance from our camp, another broken down *ghāt* and a big tree with a large parapet round it. We thought it would be an ideal place for meditation and decided to sit there every day between 3 and 4 P. M. The very first day, Mataji told us in the evening that She had seen us going with our āsanas. Then She went on to say that it was a *tapobhūmi*, a specially favourable place, and that we should do a lot of meditation (खूब तपस्या करो). This was a great encouragement to us.

The conversations that took place on Mataji's verandah every morning and evening were very informal. We all felt instinctively that there was no need to ask questions. Generally Dr. P. reminded Mataji of some incident of Her life, or of a story She had previously told and She would repeat these to us. (I will recount some of the stories later). In addition, Mataji made Dr. P. read to us *Naimisharanya Mahātmya*, a book on Naimisharanya, which one of the pandas had brought. Dr. P. also expounded the *Nārada Bhakti Sutra*, which contains not merely very illuminating aphorisms, giving a most delightful exposition of the path of devotion (*bhakti*), but is also a lyrical composition written in very poetical language. Dr. P. after giving his own explanation, would every now and then appeal to Mataji, who added Her illuminating comments.

In the evenings Mataji sometimes walked a little near Her cottage. One evening a flock of birds flew over our heads in formation and Mataji asked Dr. P. how many birds there were in the flock. He quickly answered, 'Thirteen'. The flock wheeled round and again passed over us. Some of the people present tried to count. Some counted twelve and others fourteen. Mataji said, thirteen was right, and asked Dr. P. if he had actually counted them. Dr. P. admitted that he had given a number which just came to his mind. Mataji then told us that She had thought of the number 13 and that sometimes others spoke out Her thought. On another occasion—namely after the *mauna* in Her cottage—She asked what Avadhutaji had said. As She did not indicate to what incident She was referring, we did not know what She meant. She then repeated the question, adding, we had all been there, could no one remember it ? Then Kusumda came out with Avadhutaji's remark about कुतर्क (wrong reasoning) and the illustration he had given of how someone had tried to disprove God's greatness by asking : "Can He create something greater than Himself ?' and then saying : "If He could, He would no longer be the greatest and if He could not, that also would prove that He was not so great." This was the remark that Mataji was referring to. Perhaps She tries from time to time to see which one of those round Her is capable of being a receptacle of Her thought-transfers.

Another thing I have realized during this stay was that Mataji like other great prophets and saints, often speaks in parables. She Herself told us the story of a rich man, whom She had advised to 'keep his mouth sweet'. When he met Her again after a year he complained that he had not yet had any experience of God even though he had followed Her advice of always keeping a piece of sugar candy (मिश्री) in his mouth. The only way in which he had benefited was the disappearance of his cough and cold. This man had taken Her literally and not understood that She was asking him to repeat God's name constantly. Another advice Mataji gives is, 'go and sit under a tree'. Here the tree is a symbol of someone who gives solace without making any distinction. What is meant is that one should seek the company of *Māhatmās* or *Sādhus* and, of course, ultimately of God, who drops the fruit automatically into one's lap. She once explained the allegory in the *Gītā*, about this life being an Ashwattha tree with its roots above and branches below (ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम्) by asking, "Is not your head, which is the seat (*mūla*), of your consciousness on the top? You get your knowledge through your brain, just as water reaches the tree through its roots and that too not directly, but through the soil." At the end of our stay, when I told Her that I was returning to Bombay, She said, "How long are you going to remain in a *dharamśālā* (caravanserai)? You must now go home". I thought at first that I was being asked to renounce the world at once, but later, in another connection, She explained that what She meant was that one should not remain attached too long to worldly activities and possessions, but turn one's mind to God, one's real home.

It is well known that Mataji has never been to school to learn Grammer, but She has evolved Her own practical etymology. Her derivations of words are quite unorthodox and yet bring out their meaning in a new way that hits you in the eye. Thus, according to Her, *Viṣaya* (object of sense), is *viṣ hai*, and so She calls it 'slow poison'—one of the English expressions She is fond of using. Similarly She explains *vāsana* (desire) as '*vāsa na*' where God does not dwell'. She adds : "When you cling to your desires you cannot reach God. Therefore give up those vain passions, which lead you away from God to the realm of death." One day a Brahmachari said to Mataji: "How can we love whom we have never seen ? Therefore we first of all want God to give us a glimpse of Himself." Mataji's reply was that this was *durbuddhi* (literally 'wrong idea') which She defined as *dūr-buddhi*, 'thinking that God is at a distance' and this is what leads to *durgati*, (literally, misfortune) meaning, according to Her, *dūrgati* 'going away from Him instead of realizing Him.' How beautifully this expresses the truth that God is within ourselves ! Ma went on to say that if one could not visualize a particular form of God, one should look upon the letters of the *mantra* itself as representing God. In Sanskrit the word for the letters of the alphabet is *aksara*, which also means 'imperishable' and is in this sense applied to *Parabrahma* in the *Gitā*. The term '*mantra*' is ordinarily derived from *mannāt trāyate*, 'that which protects by contemplation,' but Ma's derivation is *man tera* 'My mind is Thine—complete surrender !

Occasionally outsiders who came to see Mataji asked questions. A few of those, together with Her answers, may be quoted here. A student wished to know how to find time for *japa* (silent repetition of God's name), without interfering with his studies ; Ma said, "Spend less time in chatting and thus you can save at least ten minutes in the morning and ten in the evening." A man asked 'how to get rid of *kāma krodha* (passion and anger)'.

"By repeating God's name".
"Even when one is impure ?"
"Yes. God purifies everything."

One man, who said he was employed in the Railway, wanted to know a simple way of reaching God without having to spend time of *japa*, *dhyāna* (meditation etc.)

Mataji : "Keep *Satsang*, meet saints."
"If even that is not possible ?"
"Then read *Sadgrantha* (good religious books)."

He asked how he was to earn his livelihood if, in pursuit of God, he left his job. Ma said, "God provides." Then She told a story of two friends who tried to test the truth of this belief by meditating in the jungle. After several hours, one of them got hungry and seeing no prospect of food coming to him, went back to town and had a hearty meal there. Then, feeling sorry for his friend, he took some food to him to the jungle where he was still sitting and meditating under a tree. To his taunt that God was not providing any food for him, the friend replied that God had already sent some through the doubting friend himself.

The gentleman who was questioning Ma continued to express his disbelief and some of us were feeling annoyed at his conceited way of talking, but Mataji gave him *prasād*, spoke sweetly to him and asked him to try.

One old lady wanted to know how to find the Lord. Ma said: 'Do *puja*'. The lady replied, she did not feel interested in puja and would rather do *japa*, but found that her mind would not settle down to it. 'Compel your mind,' said Mataji. The lady had come to stay in the camp, and another day asked, which was better *jnāna* or *bhakti*, since each was being praised at different times. Narayan Swami replied: 'They go together and one follows the other.' Mataji said: 'Try *bhakti* first', but the woman said जी नहीं लगता (I have no aptitude). Ma said 'Then first practise *Guru bhakti*.' Another day again the lady asked similar questions and from something that Didima said I realized that she was no idle questioner, but an earnest seeker who was finding it difficult to concentrate. Ma advised her to reserve a special place for meditation and to sit there doing *japa* for not less than half an hour at a time; if she felt sleepy she should refresh her eyes with water. The sweet old lady ultimately said she wanted Mataji's blessing.

Another lady asked: 'What should a person do if she did not understand the *Gitā*, *Bhagavata* or the *Purānaṣ*?'

'She should approach God directly; pray and repeat God's name.'

'Is not a Guru necessary ?'

'Yes. A Guru will appear when necessary ; in the mean while make God your Guru.'

A man posed the problem : 'What is better, *par seva* (service to others), or *bhajana*, (singing God's name) ?'

Mataji : 'It is wrong to look upon service as *par seva*'; that only enhances the ego. You must look upon everyone as God, (*Tat*) and thus do only His service.

'Should one get up while doing worship, if a person in dire distress wants help ?

'Look upon the needy person as God and there will be no problem.'

A Police Inspector said he had to beat people in order to detect crimes and asked what he should do about it. Mataji requested me to reply. I said, it was wrong to beat. "Then how is he to detect the criminal ?" asked Mataji. I said there was a science of criminology, fingerprints and other clues by which crimes were detected in other countries, where the Police did not resort to beating to extort confessions. The Inspector exclaimed it would take many years for our country to progress to that stage. For us there was no other way. He also felt that it was not he who did the beating, but some power within him. Ma said, अपने कर्मफल तो भोगना ही पड़ता है, meaning that he could not escape the responsibility for his actions.

On new moon day, when lots of people had come to bathe at the Chakra Tirtha, Mataji told us to go there and see *Bhagavan* (God) in the guise of the crowd. So Dr. Pannalal and I walked to the sacred pool, and looking with the vision suggested by Ma, we were truly touched by the sight of hundreds of men, women and children milling around and bathing. They had come walking, some as far as forty miles. We saw two boys measuring their length by prostrating themselves on the ground and proceeding in this manner towards the pool. Another interesting feature were the *Pandas* (Priests) sitting all around the tank either on small cots or just squatting on the ground with a basket in front of them in which the pilgrims deposited their clothes and belongings. They were given *kusha* grass to sprinkle water as offering to God, and on returning after the bathe they placed in the basket as a reward to the priest whatever they had brought, mostly handfuls of grain or vegetables from their own farms. Whenever I shall in future see crowds at holy places, I hope I shall remember not to get annoyed, but to look upon them as manifestations of God.

During the *Samyam Saptah* one gentleman used to ask Mataji if She saw any divine beings in the air. Ma never satisfied this person's curiosity, but those of us who remained behind on the Gomati bank had the privilege of hearing some of her experiences in that sphere. On the night of the 19th November, Ma told us in Her cottage after the *mauna* that immediately after the *kirtan* was over, She first heard a kind of throbbing sound which gradually became louder and turned into a chant—'परमेशा, शरणागतं शरणागतम्', and then gradually faded off. She repeated the tune several times, but unfortunately when, the next night, She asked us to reproduce it, nobody could remember it precisely and She would not sing it again at the time (though afterwards I found that Sri Shobhanda had learnt it and sang it once or twice). It was suggested that the correct words might be शरणागतोऽहम्. Mataji at once agreed to this. She explained that somebody had chanted this hymn in the ancient days, and it had remained in the air.

(To be continued)

PAGES FROM MY DIARY

GURUPRIYA DEVI

(Translated from Bengali)

16th February, 1957.

Last night at about 12-30 p.m., Mataji arrived in Jaipur from Ahmedabad. Swami Paramananda, Buni, Udas, Shobha and a very few others were accompanying Her. A crowd of men and women had collected at the station, eager for Mataji's *darsana*. Mataji was taken to a large *Asrama* of the followers of saint Dadu. It is a fine place with extensive gardens. Sri Haribabaji Maharaj, Sri Krishnananda Avadhutaji and many other Mahatmas have come. They are all putting up at the house of Sri Madan Mohan Verma. He and his wife have known Mataji for many years. The whole family are devotees. Sri Verma was formerly the Registrar of Jaipur University and is now a member of the Rajasthan Service Commission. A pandal which serves as a *satsang* hall has been erected in the compound of his residence. Mr. Verma has made it a point to see in person to the comforts and well-being of all his guests. No one is being put to any inconvenience.

17th February, 1957.

This afternoon Mataji has been taken to the famous Govindaji temple. She wandered all over the place and inspected everything in detail. The temple is really worth seeing. It is said that when the Govindaji temple at Vrindaban was destroyed during the Mohammedan invasion, the image was brought to Jaipur and installed there.

During the evening gathering, a gentleman asked the following question: "Mataji, from where does *maya* emerge ?"

Mataji replied laughingly: "*Pitāji*, to understand from where *māyā* emerges, while one is right in the midst of it, is difficult. Try to realize Him; or, if you have no faith in Him, try to realize your own Self. To know your Self means to know Him, and to find one's Self, to find Him. When you have found your Self, all your problems will be olved."

Question : What is the means to Self-knowledge or Self-realization ?

Mataji : Endeavour to follow the path that the *Guru* indicates. Don't sit idle ! If you have not found a *Guru*, try to sustain the constant flow of any one of God's names that appeals to you most. Don't spend your time just eating, sleeping, and living a humdrum life. Having received the priceless boon of a human birth, do not waste it by keeping your mind occupied with petty thoughts and worries. Rather than remaining in a ***dharmaśāla***, try to reach your own real home, ***Pitāji*** !'

18th February, 1957.

This morning at 8-45 a. m., Mataji motored to Kuchāman, after a sojourn of three days in Jaipur. The Raja Pratap Singhji of Kuchāman was extremely eager to receive the blessing of Mataji's visit. He came in person to take Mataji to his country and himself drove the car.

Kuchāman is about 90 miles distance from Jaipur. On the way, about 10-12 miles before reaching the border of Kuchāman, Mataji noticed two large forts on a hill. She asked to whom they belonged.

While driving the car, Raja Pratap Singhji related their history. These forts belonged to his ancestors. About 250 years ago, two brothers had a family dispute and one of them left his home. As he wandered on and on, he came to the hill in question, and saw smoke rise up from it. Out of curiosity, he climbed the hill and found an old *Mahātmā* there. The *Mahātmā* wanted to know why he had come. "In search of bread", was the reply. Wherever he could get a livelihood, there he would settle down. Thereupon the *Mahātmā* told him to live on the hill, in a place with 3 large rocks. In obedience to the *Mahātmā's* command, he later built the fort at that very spot. how the kingdom of Kuchāman originated.

The old *Mahātmā* was known under the name of *Siva-Visvambernātha Baba*. Even at this time the *Mahātmā's* wooden sandals, his staff and other belongings are being preserved with great care in the fort. In due course a temple was built there. The *Mahātmā's samādhi* (tomb) is within the precincts of the temple.

While thus listening to the history of Kuchāman, we gradually approached the town. At a distance of about 3 miles from the city, Mataji and Sri Haribabaji rested on the border of a lake. From there Mataji and the whole party were taken in procession. Mataji was seated in a profusely decorated car. Closely behind it walked, on the one side, Raja Pratap Singh himself, fanning Mataji with a chowrie. He was attired in his traditional royal uniform. On the other side walked his youngest brother, holding a costly umbrella over Mataji. Thus Mataji was given a really royal welcome. Large posters with "Jai Ma" could be seen at intervals in the city and beautifully decorated gates had been erected in various places. Hundreds of men and women, who stood in lines on both sides of the road, showered flower petals on Mataji and the *Mahatamas.* Over a thousand people followed the procession. With the special permission of the Government, seven gun shots were fired in honour of Mataji. An enormous crowd of people had collected, so that the police could only with difficulty keep the path clear for Mataji's car. In this way we arrived at our destination at about 1. p. m.

Mataji has been accommodated in a large temple in the city, since She will not stay in a Raja's palace. The Rani of Kuchāman, Premaji Devi, has in person seen to all arrangements for Mataji's stay. We have known Premaji for many years. She is an extremely sweet and simple-hearted person. Inspite of having any number of servants at her disposal, she does all of Mataji's work with her own hands and is ever watching for opportunities to be of service to Mataji.

19th February, 1957.

To-day Raja Pratap Singh took Mataji in a palanquin to see the Kuchāman fort. He himself showed Mataji round. There were so many beautiful things to be seen. The decorated inner court is all coloured in gold. The colour still looks so fresh, as if it had just been painted.

The Raja and the Rani have arranged everything for Mataji and Her party with the minutest care. They requested Her and all the *Mahātmās* to remain at *Kuchāman* for at least one week. But Sri Haribabaji had already beforehand fixed a programme at Jodhpur for tomorrow, and so Mataji and Her whole party had to leave this evening at about 9 p. m.

13th March, 1957.

Mataji is at Vrindaban. This morning Sri Bhaktaraj Maharaj, an old *sādhu*, of the Ramakrishna Mission, came for Her *dars'ana*. He talked to Mataji for quite a long time. Before leaving, he bowed down, touching the ground with his forehead, and said to the assembled people: "This time He has come in the shape of a woman. In Her body everyone should recognize his own *Iṣṭa*, Our connexion with Mataji has not been newly established, it has existed from birth to birth, throughout eternity."

Raja Pratap Singh of Kuchāman is here. He met Sri Bhaktaraj Maharaj and said to him: "Regard yourself as Mataji's child. She will take everyone across the sea of becoming."

Sri Bhaktarajji is putting up in some *dharamas'ala* at Vrindaban. In the evening he came again, bringing with him a number of people to witness the performance of the *Rāsalīlā* in our Ashram. Sri Bhaktaraj's spirit is wonderful; he is so simple and utterly childlike. For him no difference of creeds and sects exists. How much faith and veneration he has for Mataji!

Today a gentlewoman, named Kasturi Devi, came for Mataji's *dars'ana*. She is a disciple of Sri Kishori Das Babaji of Vrindaban. She related something most interesting.

One night, she was crying in her desperate yearning to win the Lord's Grace. None of her attempts at *sādhana* had brought the desired result. Later in the night, she dreamt of a woman dressed all in white, who was accompanied by a girl wearing the ochre robe. The girl took Kasturi's hand and said: "Why do you cry? Your Lord here itself. Come with me, quickly!"

She dreamt the same kind of dream on two successive nights. A few days ago, she heard someone say that there was a *Devi* at Vrindaban, called "Sri Anandamayi Ma." Thus she had come for Mataji's *dars'ana* today. Udas* was sitting near Mataji. On seeing her, Kasturi Devi was struck with amazement, as she recognized in her the girl dressed in ochre of whom she had dreamt for two successive nights. When she thereupon scrutinized Mataji's face, she realized that the woman in white she had seen in her dreams was the exact likeness of Mataji.

---

*Udas is one of Mataji's attendants, who wears the ochre robe.

* * *

At night a few of us sat in Mataji's room. The conversation turned to the time when Mataji lived at Bajitpur.* Laughing heartily, Mataji related. "When this body stayed at Bajitpur, a gentleman who was a judge, lived near Bholanath's quarters. At his place *Kirtan* of '*Hare Krishna*' was very often sung. This body could distinctly hear the sound, and listening to it, this body would lie as if unconscious. When the judge heard that this body went into strange states, he advised Bholanath to put a necklace of small *tulsi* beads round its neck. When Bholanath related this to me, this body responded by saying : 'Ask the judge, what kind of *tulsi* beads are to be worn, material ones or mental ones ?', When the judge heard this, he declared that there would be no more need to wear a string of beads'."

---

*Mataji lived at Bajitpur from 1918 till 1924. This was the time of Her *Lilā* of *sādhana*.

The Prophet of Islam and the Ideal of Common humanity

DR. M. HAFIZ SYED. M.A., PH.D., D. LITT.

The basic principle of Islam is a faith in all the prophets of the world. The great and liberal mind that preached not only love and respect for the founders of the great religions of the world but much more than that *faith in them*—could not shrink down to the level of utter intolerance for those very religions. Tolerance is not in fact the word that can sufficiently indicate the breadth of the attitude of Islam to other religions. It preaches equal love for all, equal respect for all, and equal faith in all. Not to compel the unbelievers to accept Islam, for it was against all the broad principles in which they had been hitherto brought up. No, it was to establish religious freedom, to stop all religious persecusion, to protect the houses of worship of all religions, mosques among them. Here are a few quotations :

"And had there not been God's repelling some people by others, there would have been pulled down cloisters and churches and any synagogues and mosques in which God's name is much remembered. (Quran 22 : 40.)

"And fight with them until there is no persecution, and religion is only for God", (2 : 193).

"Every student of Islamic history knows that the Holy Prophet and his companions were subjected to the severest persecutions as Islam began to gain ground in Mecca" (Introduction to the Quran by Muhammad Ali, pp. XVIII & CIX).

So from the first to the last, the Holy Quran allowed fighting only against those who fought the Muslim first: it allowed expressly only fighting in defence without which the Muslims could not live, and it clearly forbade aggressive war.

WAGING OF WAR ON UNBELIEVERS

Again intolerance could not be ascribed to a book which excludes compulsion from the sphere of religion altogether. "There is no compulsion in religion" (II 256) it lays down in the clearest words. In fact, the Holy Quran is full of statements showing that belief in this and that religion is a person's own concern, and that he is given the choice to adopt one way or another: that if he accepts truth, it is for his own good, and if he sticks to error, it is to his own detriment. A few quotations from the Holy Quran are given below to prove the authenticity of these statements :—

"The truth is from your Lord so let him who please believe and let him who please disbelieve (18 : 29).

"If you do good, you will do good for your own souls: and if you do evil, it shall be for them."

The Muslims were allowed to fight indeed, but with what object? To compel them to accept Islam is a myth pure and simple, a thing unknown to the teachings of the Holy Quran. The conception of God in Islam is the God of all mankind and His favours are not confined to any 'chosen' people. The Muslims are prohibited from running down the deities of non-Muslims. The Holy Quran says :—

"Revile not those whom they call on besides God, lest they in their ignorance despitefully revile Him" (VI : 108).

Every Muslim is enjoined not to make any distinction between Muslim and non-Muslim when he has an opportunity of serving a needy person. The Prophet says in unambiguous language :

"The whole world is the family of God. Therefore, he alone is good in His sight who accords kind treatment to all His creatures alike."

Further the Prophet says :

"Assist any person oppressed, whether Muslim or non-Muslim."

"Whosoever goes with a tyrant to assist him knowing him to be a tyrant then verily he has gone out of Islam."

It is not for the Muslim to ignore any one of the great teachers who have long since done their work and retired from this world : he dare not utter a word of disrespect towards them. On the contrary he is bound to show the greatest deference to each one of them (Quran IV. 150-152).

Speaking of the Prophets of the house of Israel, the Quran says, "Says ye, we believe in God, and what was revealed to Abraham and Ishmael and Isaac and Jacaob and the tribes, and what was given to Moses and Jesus and what was given to the other prophets from their Lord--we make no distinction between any of them ; and to Him we submit (Quran II-136, III-34).

And it is not only to Moses and Jesus and Muhammad that the Muslim owes allegiance, but to all the prophets of all the nations who have appeared in the different ages of the history of mankind. Thus along with a thousand others, Sri Ramachandra, Sri Krishna, Gautama Buddha of India, Zarathushtra of Persia and Confucious of China, have alike a place in the hearts of all the followers of Islam.

CONVERSION IN ISLAM

Forcible and unwilling conversion is repeatedly forbidden in the Quran. On the other hand it inculcates simple preaching through persuasion as the only permissible method for spreading the faith in Islam. The Holy Quran's injunction in as clear as day light. It puts it thus :

"There is no compulsion in faith." (II 256).

"You shall have your religion and I shall have my religion." (CIX : 109).

"And we have not sent thee otherwise than to mankind at large, to announce and to warn." (XXXVI : 27).

"(My) sole (work) is preaching from God and His message" (LXXII : 24).

"Obey God and obey the apostle but if you turn away, yet is our apostle only charged with plain spoken breaching." (LXIV : 12).

IDEAL OF HUMAN FRATERNITY

In Islam all humanity is one vast brotherhood, with God as their creator and master who looks upon them all as equal.

All the barriers racial and others, raised aga n t it by the self interest of man are destroyed, difference and division merely on the ground of religion are not recognised. Its teachings are directly opposed to sectarianism and are generally based on the broad principle of common humanity. "Be ye all worshippers of God and brothers to one another, like as God has commanded you." (Sayings of Muhammad, 904, translated by Abul Faz). The service of man and the good humanity constitute pre-eminently the service and worship of God. "All creation", says the Prophet of Islam.

"In the family of God, and of all creation the most beloved of God is he who does most good to His family." "God is not merciful to him who is not merciful to men (Sayings 511). "The merciful God is merciful to those who are merciful : be ye then merciful to those who are in earth, so that He who is in heaven may be merciful to you" (Saying, 508).

"Ye shall not believe unless ye love one another" (Sayings, 194).

"By him in whose hand my life is! No worshipper (truly) believes untill he loves for his brother what he loves for himself." (Ibid, 214).

The essence of religion according to the teachings of Islam, is the service of the *afflicted humanity.*

"Hast thou seen him who calls the religion a lie. That is (the man) who pushes away the orphan, and stirs not up (others) to feed the poor."

"And woe to those who pray, who of their prayers are unmindful, who make a show, and refuse help to the needy." (The Quran CVII).

And what is the duty of man in Islam? "Verily", says the Quran, God commands justice and the doing of good, and the giving to those of kind (their due): and he *forbids filthy actions* and inequity and transgression." (Quran XVI 90).

"When one of you sees wrongdoing", said the Prophet, "let him undo it with his hand: and if he cannot do this, then let him speak against it with his tongue, and if he cannot do this either, then let him abhor it with his heart—and this is the least of faith" (Sayings 235).

"Assist one another in goodness and piety, but assist not one another in sin and enmity: and fear God: verily

God is severe in punishing. And let not the malice of a people provoke you to transgress but act justly—it will be nearer to piety : and fear God : Verily God is informed of what ye do". (The Quran V 2 and 3).

RESPECT OF SENTIMENT

Wanton destruction of life is considered reprehensible:

"There is no moving thing on the earth, nor a bird that flies with its wings, but is a being like you…………to their Lord shall they be gathered. (The Quran VI-33).

"Who kills a sparrow for nothing, it will cry aloud to God on the day of resurrection, saying, O my Lord! Such—and—such a man killed me for no good. (Sayings, 36).

"Take not things, which have life to shoot (arrows at)." (Sayings, 39).

The Prophet of Islam denounced the heartless act of men who burnt the abode of ants. (Ibid 46, 54).

He forbade the robbing of eggs from the nests of birds. (Ibid 55).

He forbade likewise, the capturing of young birds and distressing the mother-bird and would have them restored to their nests. (Ibid 54 and 55).

The Prophet would go up to any distressed animal, and stroke him and enjoin upon their masterly kindness against oppression and gatigure." (Sayings 53).

Regarding the value of human life the Quran teaches.

Who so kills a being unless it be for another being, or for evil doing in the land, it is as though he killed all mankind, and who so saves one, it is as though he saves all mankind.

In Chapter IV verses 15 and 16 fornication is strictly denounced. Similarly abduction of innocent women, and killing of helpless children are condemned. Once more we are clearly reminded by the Prophet that—

"He who helpeth his fellow creature in the hour of need, and he who helpeth the oppressed, him will God help in the day of Travail. What actions are most excellent? To gladden the heart of a human being, to feed the hungry, to help the afflicted, to lighten the sorrow of the sorrowful and to remove the wrongs of the injured. Who is the most favoured of God? He from whom the greatest good cometh to His creatures."

MATRI LILA

(JULY 15TH—OCTOBER 15TH, 1961.)

We have to apologize for being unable this time to give the usual detailed account of Mataji's Līlā during the last 3 months. The following is only a brief report of Her movements.

On July 15th Mataji, Didima, Didi and a party of about 20 left Poona for Bangalore, at the invitation of Sri S.R. Das Gupta, the Chief Justice of the High Court in Mysore. Sri Das Gupta is a devotee of many years' standing. He made excellent arrangements and everyone enjoyed a comparatively quiet and restful time in the pleasant climate of Bangalore, surrounded by beautiful gardens full of colourful flowers. Needless to say that many people of Bangalore and Mysore, amongst them high officials, availed themselves of this rare opportunity to have Mataji's *dars'ana* and to listen to Her words.

On July 23, Mataji left for Madras, where She halted for a few hours on Her way to Calcutta. Mrs. Talyarkhan, who had especially come from Tiruvannamalai to welcome Mataji, received Her at the station together with devotees from Madras. Mataji was taken by car to a newly built house where She spent a couple of hours. To the regret of the

South Indian devotees, Mataji had to leave that same evening for Calcutta, where She alighted on the 25th midday, proceeding immediately to the Agarpara Ashram. It goes without saying that, from the moment Mataji arrived at Calcutta until She left for Varanasi on July 31st night, She had an extremely busy time. In fact the crowds that came from great distances, eager for Mataji's *dars'ana*, were often quite unmanageable. On July 27th, Gurupurnima was celebrated in the usual manner from early morning till late at night, with thousands trying to pay hommage to Mataji on this auspicious day. During Her sojourn at Agarpara, Mataji visited the residences of several devotees at Calcutta, who arranged for *Kirtan* on these occasions.

From August 1st Mataji remained in Varanasi for a week. On the 8th She motored to Vindhyachal, where She stayed for one night only. Even so, a number of officials and other devotees arrived from Varanasi and Mirzapur for Mataji's *dars'ana* and She talked to them until late at night. On the 9th She proceeded to Allahabad by car. The same night, She boarded from there the train to Delhi where She reached on August 10th. Among the many distinguished visitors at the New Delhi Ashram were Ryhana Tayabji and the famous singer Hirabai Barodkar, not to mention the many Government officials and Ambassadors who come to see Mataji whenever She happens to be in Delhi. Sm. Indira Gandhi, the daughter of the Prime Minister, also paid a number of visits to the Ashram to meet Mataji. On August 20th *Akhanda Nāma yajña* (uninterrupted *kirtan* for 24 hours) was performed at the New Delhi Ashram. On August 21st

Mataji left for Vrindaban, to be present at the *Jhulan* celebrations, which were observed in great style. We have on former occasions described in great detail this festival, when night after night Sri Krishna and Radha are placed on decorated swings and worshipped.

The *Jhulan Purnima* (full moon in August) has a special significance for us, being the anniversary of the night, when in 1922 at Bajitpur, Mataji went through the actions of a spiritual initiation. She Herself was the neophyte, the *Guru* and the *mantra* all in one. This marked the beginning of Her play of *sādhana*, when She, in an incredibly short time went through countless *sādhanās* and forms of worship, not only Hindu forms, but non-Hindu rites and ceremonies as well. In Her play of a *sādhaka*, the minutest details of each faith were revealed to Her in their true significance. Referring to this period of Her life, Mataji has often declared that the question of *sādhana* did not arise for Her, since there was nothing to be attained. Therefore, what else should it be called but a play ?

On August 27th Mataji left for Hardwar with a very few companions only, while Didima, Didi and the rest of Her party remained in Vrindaban for *Janmāstami*. At Hardwar Mataji put up as usual at Baghat House, Kharkhari, where *Janmāstami* (Sri Krishna's birthday) was celebrated on September 1st. On September 2nd morning, Mataji motored to Dehradun, where *Nandotsava*, the riotous joy of the cowherds over Sri Krishna's birth, was commemorated with the usual frolics at the Kishenpur Ashram.

On September 4th Mataji boarded the train for Delhi, where She arrived on the 5th morning, when Her party from Vrindaban also joined Mataji. On September 17th, Mataji went to Jaipur for four days. From September 21st to October 7th, Mataji again remained in New Delhi. During that period She accepted special invitations to the Rastrapati Bhavan by the President of India, Dr. Rajendra Prasad, and also to the residence of Sri Jawaharlal Nehru. On October 7th night. She left for Kanpur, where Durga Puja is to be celebrated from 15th—20th October at Swadeshi House, at the invitation of Sri Mangturam Jaipuria and his son Sitaramji.

The 12th *Samyam Mahāvrata* will be observed at Shukhtal, near Muzaffarnagar, from November 9th—15th, followed immediately by the ceremonial reading of the *Śrimad Bhāgavata* for 7 days, namely, up to Novomber 22nd. Swami Akhandanandaji of Vrindaban has very kindly agreed to hold the daily discourse in Hindi on the *Bhāgavata.*

NEW PUBLICATION

WORDS

OF

Sri Anandamayi Ma

A selection of Mataji's replies to oral questions, dealing with meditation, the spiritual path and self-realization, with a great variety of problems—practical, philosophical and meta-physical—as encountered by seekers after Truth at various stages. Mataji throws light on every question from many different standpoints. This collection is a veritable treasure grove for every earnest seeker.

With 2 pictures by the renowned English photographer Richard Lannoy.

Price : Board bound Rs. 3·00, Rexin bound (printed on superior paper) Rs. 5·00 10/-Sh. or $1·50 for abroad.

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. RN 4726/57

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA, VARANASI.
LIST OF PUBLICATIONS.

Hindi

Mātri Darshan—by Bhaiji	2·50
Sad Vāni ,, ,,	1·00
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi	
Vol. I–III, V and VI	each 2·00
Vol. IV	3·00
Ma Anandamayee—Dr. Pannalal	2·50
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1·50
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2·50
Kīrtan Rasa Swarūpa	6·00
Mātri Līla Sankīrtan	0·31

Bengali

Mātri Darshan—by Bhaiji	2·00
Sad Vānı ,, ,,	1·00
Mātri Vani	·75
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi	
Vol. I–IX	each 2·00
Vol. X, XI	each 2·50
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1·50
Akhanda Mahāyajña ,, ,,	2·50
Kīrtan Rasa Swarūpa	6·00
Suno Bali Maer Kotha—Sailesh Brahmachari	1·25
Mātri Lila Sankirtan	0·31

Gujarati

Matri Darshan—by "Bhaiji"	1·50
Ma Anandamayee Ke Sannidhyame, Part I & II—Br. Kantibhai	2·00
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2·00

English

Mother As Revealed to Me—Bhaiji	(out of print)
Mother As Seen by Devotees (A Symposium)	3·00
Mātri Vani (Sayings)	1·25, Special edition 1·50
Words of Sri Anandamayi Ma	Rs. 3·00 or 5·00 (Rexin bound)

Photos etc.

Album	1·50
Photos—various sizes ranging from	0·37 to 15·00
Lockets	1·25

Ananda Varta

HINDI & ENGLISH

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. IX February, 1962 No. 4

NEW PUBLICATION

WORDS

OF

Sri Anandamayi Ma

A selection of Mataji's replies to oral questions, dealing with meditation, the spiritual path and self-realization, with a great variety of problems—practical, philosophical and meta-physical—as encountered by seekers after Truth at various stages. Mataji throws light on every question from many different standpoints. This collection is a veritable treasure grove for every earnest seeker.

With 2 pictures by the renowned English photographer Richard Lannoy.

.Price : Board bound—Rs. 3·00
Rexin bound (printed on superior paper)-Rs. 5·00
10/-Shillings or $ 1·50 for abroad.

Ānanda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Shree Shree Ma Anandamayee and with other religio-philosophical topics.

Board of Editors

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M.A., D. Litt.
Kumari Lalita Pathak, M.A.
Kumari Padma Misra, M.A., Acharya.
Kumari Bithika Mukerji, M.A., D. Phil.
Brahmacharini Atmananda.
Sri Sailesh Brahmachari.
Sri Amulya Kumar Dutta Gupta, M.A., B.L.
Sri K. Bose—*Managing Editor.*

* * *

Annual subscription (postage free) India—Rs 5/-
Foreign—Rs. 6/- or 10 shillings or dollar 1·25 only.
(Rs. 8/- extra for Air-mail postage)

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English in the first weeks of May, August, November and February. The year begins from May.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha,
Bhadaini, Varanasi, (U.P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma
Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U P.).

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent ***latest by the second week of the month of publication.***

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to "dishonour" any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a considerable loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Contents

HINDI SECTION

Page No.

1. मातृ-वाणी 157
2. मातृ-सत्सङ्ग—श्री रघुनाथदास गोस्वामी (ब्रह्मचारी कान्तिभाई) 159
3. डायरी के कुछ पन्ने—गुरुप्रिया देवी 175
4. मातृ-कथामृत—'नीलमणी' 182
5. कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा—श्री दत्तात्रेयानन्द् ब्रह्मचारी 185
6. श्रीगङ्गाजी की महिमा—श्री रामनरेश दीक्षित "नैमिषतीर्थ-पुरोहित" 194
7. मनोवैज्ञानिक परामनोविद्या में क्यों रुचि लें—डा० भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी-लिट्०, दर्शनाचार्य, पद्मभूषण 199
8. सुकताल की एक छोटी सी घटना—स्वामी नारायणानन्द तीर्थ 203

Contents

ENGLISH SECTION

Page No.

1. Matri Vani 161
2. Conversations with Sri Sri Anandamayi Ma—Professor B. Ganguly 164
3. Pages from my Diary—Gurupriya Devi 168
4. With Mataji on the Bank of the Gomati River—Krishnanath 177
5. The Background of our Letters—U. C. Dutt 190
6. New Diary Leaves—Atmananda 197
7. Matri Lila 206

Printed & Published by K. Bose for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi,
at the Kamala Press, Godhowlia, Varanasi.

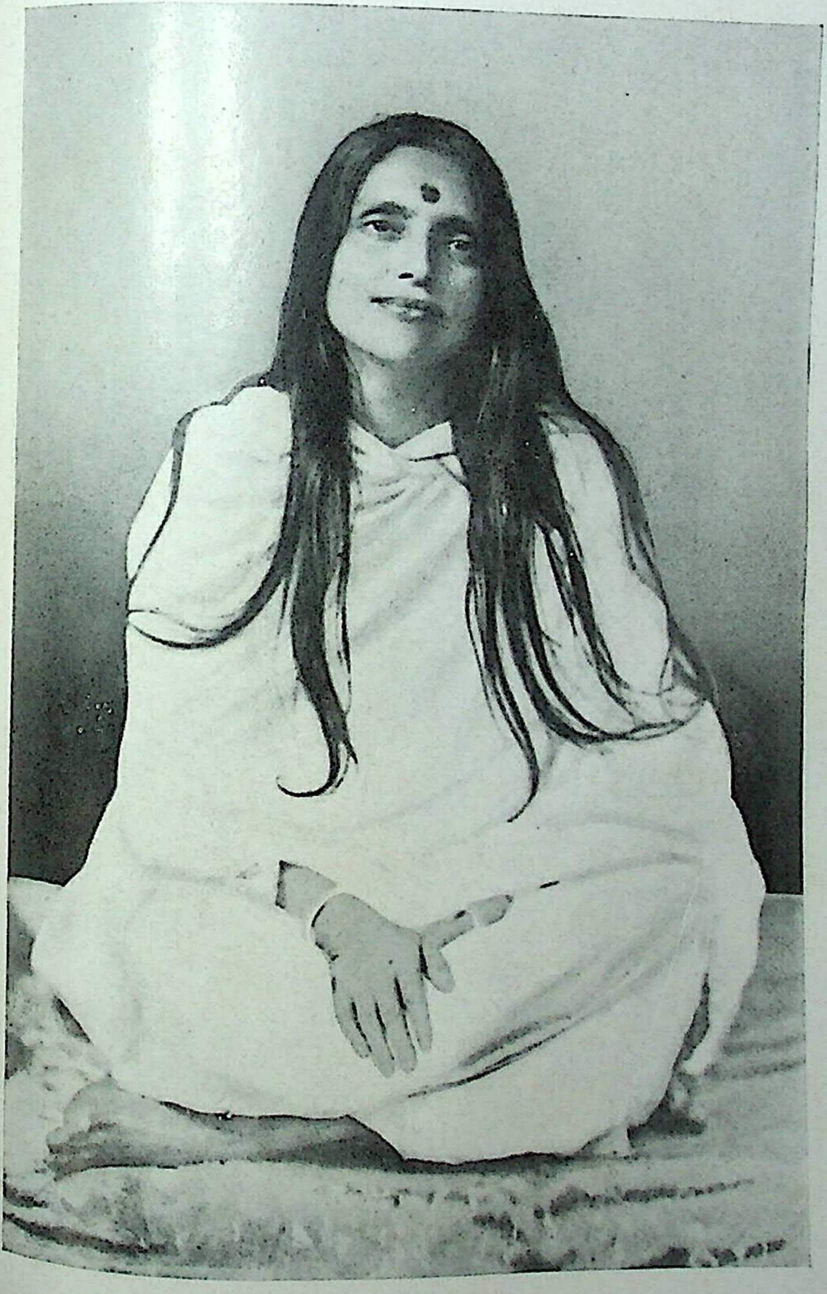

By courtesy: Sri G. Das Gupta, Calcutta.

ĀNANDA VĀRTĀ

अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपने में आप

VOL. IX] FEBRUARY, 1961. [NO. 4

—मातृ-वाणी—

"घर से बाहर होकर एक रास्ते से चलना पड़ता है तभी सारा रास्ता ज्ञात होता है।"

× × ×

"भगवान् सर्वदुःखहारी हैं। सर्वदा ही उन्हें पुकारने का चेष्टा करो। उन्हींका ध्यान करो। उनके निकट ही प्रार्थना करो। उनको हृदय से प्रणाम करो। वे मङ्गलमय, शान्तिमय, आनन्दमय; और क्या ? प्राण के प्राण और आत्मा हैं न।"

× × ×

"सत्त्व, रज, तम इन्हीं कई क्रियाओं का जो मूल तरङ्ग वही है प्राण।"

× × ×

“एक जीव से ही बहुत जीव हैं—यह हुई जीवधारा। एक ईश्वर ही विभक्त होकर सब जीवों के रूप में हैं। इसीलिए कहते हैं—यत्र जीवः तत्र शिवः।”

“कल्पित राज्य में जिस अवलम्बन से तुम लोगों का शरीर टिका है उसी के फिर एक अञ्चल में मध्य की क्रिया है। तुम्हीं तो बहु हो—नाना रूप, नाना आकार और नाना प्रकारों में प्रकाशित हो। एक एक आकार के एक एक भाव के अभाव भञ्जनरूप और क्या ? विश्व ब्रह्माण्ड में तुम्हारा ही आदान-प्रदान है। तुम्हारा ही अभाव फिर तुम्हीं तो स्वभाव हो। तुम्हारी ही वह क्रिया है।”

एक व्यक्ति ने माँ से प्रश्न किया—“आपने क्या भगवान् देखा है ?”

माँ साथ ही साथ बोल उठीं—“वाह, सदा ही देखना होता है। फिर देखो कौन किसको देखेगा ? सब ही तो वे ही हैं। भगवान् के सिवा और कुछ भी नहीं है।

॥ ॐमाँ ॥

मातृ-सत्सङ्ग

श्रीरघुनाथदास गोस्वामी (ब्रह्मचारी कान्तिभाई)

प्रस्तावना

परमपूज्य हरिबाबा के प्रेमपूर्ण निमन्त्रण से माँ मार्च १९४८ होली के पुण्य अवसर पर बाँध में पधारी थीं। बाँध (जिला—बदायूँ यू० पी०) पर परमपूज्य हरिबाबा का सुन्दर आश्रम बना हुआ है। यह स्थान उस समय बिल्कुल गंगा के तट पर था। पर अब वहाँ से गंगाजी करीब दो मील पीछे हट गई हैं। उस आश्रम में हर समय पवित्र और दिव्य वातावरण बना रहता था। वहाँ के कीर्तन-भवन में हर समय महामन्त्र का अखण्ड कीर्तन होता रहता था। वहाँ एक बड़ा सत्सङ्ग-भवन भी बना हुआ है। उसमें सत्संग होता रहता था। बहुत से महात्मा लोग भी सत्संग के लिये पधारे थे। आसपास के गाँवों से हजारों की तादात में जनता सत्संग और कीर्तन में शामिल होने आती थी। मालूम होता था कि मानो पृथ्वी पर स्वर्ग ही उतर आया है। सबके दिन-रात इतने आनन्द में व्यतीत होते थे कि उसका वर्णन करना मुश्किल है। सत्संग के समय माँ से भी कभी कभी वार्तालाप हुआ करता था। वहाँ हुए मातृ-सत्संग का यथाश्रुत और यथागृहीत विवरण दिया जाता है। यथासंभव माँ के शब्दों को दुहराने की चेष्टा मैंने की है। किन्तु मैं यह दावा नहीं कर सकता कि 'माँ' के मुख से निःसृत प्रत्येक शब्द मैं यहाँ लिख सका हूँ। जिस प्रकार गंगाजी के पुनीत प्रवाह में से लोग निज निज शक्ति के अनुसार गंगाजल ले आते हैं इसी प्रकार मैं अपनी अल्प मति के अनुसार श्री माँ के कथारूपी गंगा-प्रवाह में से

जो संग्रह कर सका हूँ उसे यहाँ अंकित कर रहा हूँ। त्रुटियों के लिये मैं श्री श्री माँ के श्रीचरणकमलों में क्षमायाचना करता हूँ।

तारीख १६ मार्च, १६४८ ई०—

कथा-प्रसंग में माँ ने कहा—“अग्नि में यदि कोई व्यक्ति गिरे चाहे वह जानकर गिरे या अनजाने गिरे—अग्नि उसको जलायेगी। भगवान प्रेम के द्वारा या द्वेष के द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। भगवत्प्रेम से परम आनन्द की प्राप्ति होती है। द्वेष से कंस, शिशुपाल आदि को भी भगवत्प्राप्ति हो गई थी। द्वेष करते करते चित्तवृत्ति कृष्णमय हो जाती है। कारण द्वेष से हर समय जलन रहा करती है। चाहे किसी तरह से उनके पास जाने की कोशिश करो। किसी तरह से आग छू जाय—वासना कामना जल जाय।

प्र०—नारद ने कहा था कि गोपियों को भगवान के माहात्म्य का ज्ञान था।

माँ—ज्ञान न होने से प्रेम होता ही नहीं। किसी किसी स्थान में माहात्म्य-ज्ञान नहीं भी रहता। प्रेम में कोई नियम नहीं है यह भी तो बात है। किसी स्थान में ‘हाँ’ रहती है। किसी स्थान में ‘ना’ रहती है—नहीं तो अनंत कैसे कहा जायगा। जैसे आग में जानकर अथवा अनजाने पैर डालने से पैर जल जाता है। वैसा ही भगवान का नाम भी आग ही है।

प्र०—यदि पहले नाम में श्रद्धा हो तो फिर हिन्दू-धर्म की क्या जरूरत है? भगवान हमारा है और मैं उनका हूँ यह सम्बन्धज्ञान कैसे हो? क्या कोई तरकीब है?

स्वामी अखंडानन्दजी—भगवन्नाम करते करते हो जाता है।

प्र०—माँ, साफ साफ बताओ। गोल गोल बात मत करो।

डा० पन्नालाल—भगवान से सम्बन्ध कैसे जोड़ें? उपलब्धि कैसे हो?

माँ—अपने माता-पिता को कैसे मानते हो ? यह शरीर एक बार वाजितपुर में था। इस शरीर के जेठ के लड़के का नाम था आशु। आशु दूसरे एक लड़के के साथ स्कूल जाता था। उस लड़के को किसी औरत ने गोद ले लिया था। बच्चे को इसका पता भी नहीं था। खेल खेल में आशु ने उससे कह दिया—"अरे तुमको तो गोद ले लिया है।" घर जाकर वह लड़का खूब रोया और उसने अपनी माँ से पूछा—"क्या तुम मेरे माँ बाप नहीं हो।" बहुत समझा कर लड़के को शान्त किया गया। उस औरत ने इस शरीर से कहा कि आशु को मना कर देना कि ऐसी बातें उस लड़के से न करे ?

× × ×

आत्मसमर्पण कैसे करना चाहिये ? इसपर आलोचना हो रही है। माँ ने कहा—"समर्पित है ही"—समर्पण करने से तो "मैं" पना रह जाता है। समर्पण हो जाना वही तो मामला है।

स्वामी अखण्डानन्द—इसमें कैसे भी हो "समर्पित है ही" यह कोई कविता की बात नहीं है—यह सच बात है। यह कैसे, कहाँ से आ रहा है ? प्रेरक कौन है ?

डा० पन्नालाल—अन्तरात्मा प्रेरक है।

स्वामी अखण्डानन्द—वही भेज रहे हैं—तब तो उन्हीं की चीज है।

डा० पन्नालाल—हम भगवान का सम्बन्ध भूल गये हैं।

स्वामी अखण्डानन्द—भूलना भी वही है।

माँ—यह जो स्थिति होना है—चुन चुन कर जैसे आँख की पलक गिरती है, वैसे ही चलते फिरते सब कुछ करते समय समर्पण का भाव आ जाय तो फिर कोई बात नहीं है।

स्वामी अखण्डानन्द—एक दफे श्री हनुमानदास पोद्दार से बात हुई थी। उन्होंने कहा कि भगवान की स्मृति बनी रहे ऐसा करना चाहिए। मैंने कहा, "भगवान की विस्मृति किसको हुई है ? जब तक पर्दे के रूप में भगवान को नहीं पहचाना—आवरण भी तो भगवान का ही है।

× × ×

कथा-प्रसङ्ग में माँ—विचार से अभ्यास करते करते भगवत्स्मृति कर लेते हैं। विचार से करने में कभी भूल जाते हैं। जहाँ स्वयंप्रकाश है वहाँ भूलने भुलाने की बात नहीं है। अभ्यास करते करते स्वयंप्रकाश माने निरावरण प्रकाश हो जायगा। स्वयं ही स्थिति पा लेते हैं यह भी एक स्थिति है। वहाँ "क्या" ऐसा प्रश्न रहेगा नहीं। "क्या" प्रश्न चला जायगा तब स्वयंप्रकाश होगा। अर्पित अगर करें तो नहीं होता—अर्पित करें तो अहंकार से करना पड़ेगा। यत्न शुद्ध कैसे हो ? अर्पित जो हुआ है वह प्रकाश हो जाना चाहिए। ऐसी भावना कम से कम रखो।

प्र०—समझें या न समझें, हम अर्पित हैं—ऐसा सोचें क्या ?

डा० पन्नालाल—उनसे हमने कहा, "भक्ति दो", उन्होंने कहा, "दे दी"। हमने कहा हमको सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने कहा तुम अर्पित ही हो इस बात से सन्तोष नहीं हुआ। कहते हैं कि नाम श्रद्धा से करो। दूसरा यह पूछता है कि कैसे भगवान से सम्बन्ध हो ? इन सब बातों से मुझको हिन्दूधर्म में अरुचि होती जा रही है। मैंने कहा था जो लोग कहते हैं कि भगवान का नाम जपने में श्रद्धा की जरूरत है वे लोग हिन्दूधर्म के शत्रु हैं।

माँ—नाम करते करते श्रद्धा हो जायगी।

डा० पन्नालाल—हमको किसी ने (अपने गुरु को लक्ष्य करके) कहा था कि तुम भगवान का नाम करो, श्रद्धा की कोई जरूरत नहीं है।

माँ—यह शरीर कहता है कि क्या श्रद्धा नहीं हो रही है? क्या करना? भगवान की सेवा करो, साधुमहात्माओं का सत्सङ्ग करो। इससे श्रद्धा उत्पन्न होगी—जरूर होगी।

कथा-प्रसंग में माँ ने कहा—"अर्पित तो हो।"

डा० पन्नालाल—हमारा प्रश्न अर्पित के बारे में नहीं था। हमने तो नाम के फल के बारे में पूछा था।

माँ—(हँसते हँसते) तुमने कहा क्यों नहीं? पिताजी ऐसी ऐसी बातें करते हैं, सुन्दर लगती हैं। तुम हेलया श्रद्धया साधुसन्त का नाम लिया करो। जो हेलया श्रद्धया सत्सङ्ग करे कीर्तन करे, उसका काम हो जाता है। भगवान तो सबके माता-पिता हैं।

डा० प०—कैसे भगवान हमारे माता-पिता हैं? हमारे तो कुछ नहीं हैं।

माँ—बहुत सुन्दर बात है। इस शरीर तुम्हारी छोटी सी बच्ची या गुड़िया को डाट न आवे यह बड़ा अच्छा हैं। गुड़िया की बात से पिताजी हँसोगे?

डा० प०—गुडिया में (माँ में) शक्ति हो तो हँसा दे। हमारा बहुत importet प्रश्न है। किसी ने हमको सन्तोष नहीं दिया।

माँ—इसलिये दुःख है क्या?

डा० प०—भगवान हमारा है—हमारा माता-पिता है ऐसी उपलब्धि करा दो।

माँ—पिताजी की बात बड़ी अच्छी लगती है। तुम इस शरीर से ऐसी ऐसी बातें कहा करो। दूसरे से न कहना। दूसरे कहेंगे कि मेरे ऊपर हुकुम चलाता है।

डा०—पन्नालाल—हम तो आपको धोखा देने के लिये माँ कहते हैं।

माँ—महात्माओं के पास कहना कि हमको उपलब्धि करा दो। वे उत्तर देंगे। गुड़िया के पास जो इच्छा हो बोलो—क्या ? अगर महात्मा लोग सिर्फ कृपादृष्टि करें तो वही उत्तर है। करुणानयन से देखें वही उत्तर है।

डा॰ पन्नालाल—हम तो किसी के पास नहीं जायँगे।

माँ—बहुत अच्छा।

डा० पन्नालाल—कहते हैं कि "अनन्यता" होनी चाहिये।

माँ—बहुत अच्छी बात है। यह बात जहाँ कहने से तृप्ति हो वहाँ कह दो।

डा० पन्नालाल—हमने कहा था कि यहाँ आने से हानि हुई।

माँ—हमारे ख्याल से कुछ हानि नहीं हुई। एकलक्ष्यता, एकनिष्ठा भङ्ग नहीं हुई।

डा० पन्नालाल—वैष्णव सिद्धान्त हमारा कमजोर होता जा रहा है।

माँ—जो कमजोर हो सकता है वह कमजोर हो जाय, अच्छा है।

डा० पन्नालाल—कोई चीज संग से ऐसी हो जाती है कि नारदजी ने भक्तिसूत्र में कहा है, "कस्तरति स्तरति मायाम्।"

माँ—मेरा तो कहना है कि सत्सङ्ग से तुमको फायदा हुआ है। तुम्हारा सिद्धान्त क्या है ?

डा० पन्नालाल—मेरा सिद्धान्त यह है कि बिना श्रद्धा के भी भगवान का नाम करें तो भी फायदा होता है।

माँ—कोई सैकड़ों बातें कहे—कभी अपने सिद्धान्त से हटना नहीं चाहिये। अपनी निष्ठा कोई भङ्ग नहीं कर सकता। जो निष्ठा आ गई वह बदल नहीं सकती। जिन्होंने निष्ठा दी वे खुद पकड़कर रखेंगे। यह पक्का सिद्धान्त है यहाँ का ? तुमने कभी खेल किया ?

डा० पन्नालाल—हाँ कम खेल किया। यहाँ तो जीवन मरण के खेल की बात है—इसमें खेल कैसा ?

माँ—यह तो सत्य बात है।

डा० पन्नालाल—मुख से कहते हैं—"त्वमेव माता च पिता त्वमेव", लेकिन दिल में कहते हैं—"पन्नालाल तुम खूब Hypocrate हो।"

माँ—गोपियाँ कहती हैं—जैसा भी कहे, कृष्ण-कथा तो कह रहा है। जैसे काम करते करते लाभ होता है यह भावना लाते लाते भी भगवानको पाने की आशा है।

डा० पन्नालाल—वे कृष्ण काले रस रङ्ग में डूब कर गोरे हो गये।

माँ—भगवान के बारे में जिसको जलन होती है वह अच्छा है।

डा० पन्नालाल—इस बीमारी की दवा देनी पड़ेगी—ऐसा कहने से बीमारी नहीं जाती।

माँ—तुम्हारी गुड़िया ने बेफायदा कराया क्या ?

डा० पन्नालाल—यह तो जानते हैं कि माँ जो करती हैं वह अच्छे के लिए ही करती हैं।

माँ—तुम सत्सङ्ग का फायदा समझो चाहे न समझो सत्सङ्ग के वायुमण्डल में बैठने से फायदा होगा।

डा० पन्नालाल—तब तो आशा है।

माँ—भगवान के लिये रोना आवे तो अच्छा है। अरे! भगवान अभी तक नहीं मिले, हँसी कैसे आये ? यह तो हरएक मनुष्य के सीखने की बात है।

डा० पन्नालाल—एक दफे कहते हैं कि भगवान को पत्र-पुष्प देने से वे खुश हो जाते हैं। फिर लगा दिया 'भक्त्या' इसलिये जान लिया कि हिन्दूधर्म में कुछ नहीं है। भक्ति useless है। किसी ने कृष्ण को पाया है ? किसी को experience

है ? वे तो कहते हैं कि झूठा कह दो कि हमारा ध्यान खूब जम रहा है—यह hypocracy है।

मनहर—अपने मन की बात किसी से कहनी चाहिये या नहीं।

माँ—जैसी बीमारी वैसी दवा। बहुत जोर की बीमारी में बिना कहे रहा नहीं जाता। जो हो जाता है हो जायगा।

× × ×

ता० १७ मार्च, १९४८—

माँ पूज्य हरिबाबा के सत्सङ्ग में ठीक टाइम पर पहुँचने की चेष्टा करती हैं। सत्संग का समय सुबह ८ बजे शुरू होता है। माँ आज ठीक समय पर सत्सङ्ग-भवन में जाने के लिये तैयार खड़ी हैं। शशिधरदा को Time keeper बनाया गया है। माँ को समय बताने के लिये शशधरदा खड़े हैं। लेकिन महारतनजी ने शशधर को समय बताने से मना कर दिया, कारण माँ को दही खिलाना है। क्योंकि समय हो गया है ऐसा जानने पर माँ बिना कुछ खाये ही चल पड़तीं। माँ ने खाने के बाद समय पूछा तो सिर्फ १ मिनट बाकी रह गया। माँ के स्थान से सत्सङ्ग-भवन का रास्ता करीब १० मिनिट का है। माँ ने सही बात जान ली और महारतनजी को डाँटा। माँ ने कहा—"तुमने अच्छा काम नहीं किया। तुम साथ में रहती हो और इस शरीर का भाव समझती नहीं हो।" ऐसा सुन्दर माँ का डाँटना देखकर सब लोग हँस पड़े। माँ ने गम्भीर होकर कहा, "हमको हँसी अच्छी नहीं लगती है।" ऐसा सुनकर सब लोग गंभीर हो गये। वातावरण गम्भीर हो गया देखकर माँ हँस पड़ीं और कहा, "मुझको थोड़ा सा गम्भीर होकर महारतनजी को डाँटने दो"। माँ की यह लीला देखकर सब हँस पड़े। सत्सङ्ग-भवन से वापिस आने के समय माँ ने महारतनजी से कहा—"तुमको डाँटा है, इसलिये इस शरीर को तुम दण्ड दो।" महारतनजी ने कहा—"अवश्य ! मैं दण्ड दूँगी—दण्ड यहीं है कि आज रात को मैं तुम्हारे पास सो जाऊँगी।"

आज सत्सङ्ग के समय पूज्य हरिबाबा रामायण पाठ कर रहे थे। इस प्रसंग में आलोचना हो रही थी कि काशी में हरेक व्यक्ति को मृत्यु के समय साक्षात् काशी विश्वनाथजी कर्ण में 'राम' नाम का तारक मन्त्र देते हैं। इस प्रसंग में माँ ने कहा—"काशी आश्रम में ब्रह्मचारी कालाचाँद की माँ को गत सितम्बर में वर्षाऋतु में काशीप्राप्ति हो गई। मृत्यु के दो दिन पहले वह बेहोश हो गई थीं। जिस दिन मृत्यु हुई उस दिन उनको गङ्गा किनारे ले गये थे। इस शरीर ने जाकर देखा उनका बाँया कान नीचे दबा है। श्वास की गति भी प्रायः बन्द होने जा रही है। अन्तिम श्वास निकलने के पहले उनका सिर घूमा और बाँया कान ऊपर आ गया। ऐसी मृत्यु काशी आश्रम में भी दो व्यक्तियों की देखी। एक तो खुकनी (दीदी) के काका—स्वामी श्रीतुरीयानन्दजी की। तुरीयानन्दजी खूब बीमार थे। मृत्यु के एक दिन पहले उन्होंने इस शरीर से कहा—"माँ, अब विदा दे दो!" यह शरीर ऐसी खराब और अन्तिम अवस्था में उनको आश्रम में ले आया। उनका शरीर शांत होता जा रहा है ऐसा देख कर मैंने पूछा—"गुरुमन्त्र याद है? मन्त्र-जप हो रहा है?" उन्होंने कहा—"हाँ, मन्त्र-जप हो रहा है"। उनका भी ठीक मृत्यु के पहले बाँया कान दबा हुआ था, लेकिन ठीक अन्तिम क्षण के पहले मानो किसी ने सिर घुमा दिया और बाँया कान ऊपर आ गया।" धन्य है! धन्य है! ऐसे पवित्र महात्माओं को जिनकी अन्तिम घड़ी में साक्षात् विश्वजननी आनन्द और शान्ति प्रदायिनी सामने खड़ी हैं।

× × ×

ता० १८ मार्च, १९४८ ई०—

प्र०—प्रपत्ति की अवस्था घटती नहीं है, इसका रहस्य क्या है?

माँ—हरिबाबा तो हैं—उनसे प्रश्न करो। प्रश्न में उत्तर रह जाता है ऐसा अखण्डानन्दजी कहते हैं। कैसे होता है। वही उपाय है उनका ध्यान कैसे होता है—बस यही उपाय है। भगवान् के अर्थ जो कुछ हो रहा है—कुछ भी फिजूल नहीं जाता है। बनत बनत बन जायगा। सत्सङ्ग करो।

प्र०—सत्सङ्ग सुनते सुनते तो कान बहरे हो गये हैं।

माँ—दवा खाने से तृप्ति नहीं होती है, किन्तु लाभ होता है। दवा कड़ुई लगती है, किन्तु लाभ होता है। उत्तर पिताजी के पास ही है। स्वयंप्रकाश सबमें रहता है।

स्वामी अखण्डानन्द—हरिबाबा को तृप्ति कराना तो माँ आप लोगों का काम है।

माँ—भूख अमर हो जाय तो मिल जाता है।

पूज्य हरिबाबा—भोजन तो नहीं दिया लेकिन जलन बढ़ा दी।

माँ - बिलकुल जब सब जल जायगा तब मिलेगा।

पूज्य हरिबाबा—कृपा ही एकमात्र उत्तर है।

माँ - तब तो स्वयंप्रकाश ही है।

आज सत्सङ्ग में वृन्दावन से एक पण्डितजी आये हैं। उनका नाम है पण्डित यमुनावल्लभ। उन्होंने माँ के बारे में एक स्वप्नानुभव कहना शुरू किया : पण्डितजी ने कहा, जिस दिन माँ वृन्दावन में आई हैं उसकी अगली रात का यह अनुभव है। उस रात को दो बजे मैं उठा। पूजा पाठ करके फिर सो गया। स्वप्न में देखा—एक सिंहवाहिनी देवी सामने खड़ी है। किसी ने कहा, "माँ आनन्दमयी आई हैं।" मैं तुरन्त देखने गया। वहाँ जाकर देखा तो माँ का रूप काला हो गया। चार बजे आँख खुल गई और मैंने वह बात अपनी स्त्री को बताई। इतने में खबर मिली कि माताजी आनन्दमयी वृन्दावन में पधारी हैं। स्वप्न में माँ ने कहा था—"मैं वृन्दावन में आई हूँ—तुम क्यों नहीं आते ?"

माँ—वृन्दावन तो काले की जगह है, इसलिये काली हो गई। श्रीकृष्ण ने ऐसा रङ्ग दे दिया—स्नेह करके, क्या करूँ ?

ता० १९ मार्च, १९४८—

माँ के कमरे में आज शाम को ६ बजे पूज्य स्वामी अखण्डानन्दजी पधारे हैं। माँने स्वामीजी को देखकर फौरन खड़ी होकर "नमो नारायण" कह कर स्वामीजी का सुन्दर प्रेमपूर्ण स्वागत किया। माँ के मुख से 'नमो नारायण' सुनकर स्वामीजी ने कहा,—माँ आप ही नारायण हैं।

माँ—हाँ, आप ही नारायण हैं।

स्वामी अखण्डानन्दजी—एक महात्मा के पास कोई दूसरा महात्मा गया। उन्होंने पूछा—"क्यों आये ? उन्होंने कहा,—"आपके दर्शन करने को।" महात्मा ने कहा—"आपका दर्शन करो।"

कथा-प्रसङ्ग में माँ ने कहा—"यह शरीर हरवक्त कहता है कि जो राधा है वही कृष्ण है और जो कृष्ण है वही राधा है—अभेद ही चल रहा है, वेदान्त से दूर कहाँ ? किसी जगह में जहाँ अनेक एक दीखते हैं, वहाँ 'थे' की बात नहीं रही।

स्वामी अखण्डानन्दजी—उपनिषद् तत्त्व में जो है—सब है, सिर्फ भाषा का भेद है।

माँ—हरवक्त ब्रह्म ही है।

× × ×

ता० २२ मार्च, १९४८—

सत्संग से वापिस आने के बाद माँ ने कहा,—कान्ति, विभु और हिरु के साथ कुछ काम है। एकान्त में आ जाओ। हम लोग फौरन माँ के पास चले गये। माँ ने कहा—"आज रात को हरिबाबा और उड़िया बाबा के सामने तुम तीन जनों को लीला अभिनय करना है। कान्ति और विभु बद्रीकेदार के यात्री का वेष बना लें। तुम दोनों बद्रीकेदार की यात्रा के लिये निकलना और हिरु यात्रा से वापिस आ रहा है, ऐसा दिखाना। केदारनाथ में जाकर उड़िया बाबा के ऊपर ही केदारनाथ की पूजा

करना और चारों तरफ दृष्टि डालकर बोलना अरे ! यहाँ तो सर्वत्र साक्षात् शिवजी ही विराजमान हैं और स्त्रियों की तरफ दृष्टि देकर कहना अरे ! ये सब तो साक्षात् भगवती मातायें हैं। बद्रीनारायण जाकर हरिबाबा की पूजा बद्रीनारायण के रूप में करना। कमल को भी साथ में लेना चाहो तो ले लेना। खूब भावपूर्वक लीला होनी चाहिये।" हम सबने कमलदा की कुटिया में जाकर Rehersal शुरू कर दिया। सबको मैंने हिन्दी में Dialogue सिखला दिया। रात को सत्सङ्ग-भवन में माँ, श्रीहरि बाबा तथा पूज्य उड़िया बाबा के समक्ष बहुत सुन्दर रूप से यह लीला-अभिनय हुआ। जहाँ साक्षात् विश्वजननी माँ खुद Direction कर रही हों वहाँ की सफलता में कोई शंका ही क्या ? यह लीला देखकर सब लोग खूब खुश हुए।

× × ×

ता० २४ मार्च, १९४८—

आज सत्सङ्ग-भवन में खूब भीड़ है। आध्यात्मिक विषय पर बहुत सुन्दर सुन्दर व्याख्यान हो रहे हैं। एक वयोवृद्ध महात्मा व्यासजी महाराज होली के पद गा रहे हैं। भजन में एक पद ऐसा था कि हे भगवान ! "मैं तिहारी" ऐसा तीन बार कहो यह सुनकर डा० पन्नालाल ने माँ से कहा,—"माँ, तुम भी तीन बार कहो—"मैं तिहारी"। माँ ने कहा,—तीन बार क्या ? तुम्हारी हूँ ही।

कथा-प्रसङ्ग में माँ ने कहा—शरणागति का जब एक समय आता है तब शरणागति आपसे आप हो जाती है। क्या कहें सिर चरण में लोट जाता है।

× × ×

ता० २८ मार्च, १९४८ ई०—

बाँध में उत्सव सम्पन्न होने के बाद माँ लखनऊ गईं। वहाँ माँ से मिलने के लिये उत्तरप्रदेश सरकार के पार्लमिन्ट सेक्रेटरी श्री वही अहमद आये हैं।

माँ ने उनसे कथा-प्रसङ्ग में कहा—"जैसे दफ्तर में लोग पान भी खाते हैं और काम भी करते हैं वैसे ही तुम नाम भी लेते रहो और काम भी करते रहो। जैसे

घड़ी में नियमित दम देते हो वैसे ही नाम भी नियमित लिया करो। उनका ध्यान करो। मन को उनके चरणों में रखने की कोशिश करो। सत्संग साधन-भजन में ज्यादा मदद करता है। हरिकथा ही कथा है और बाकी सब व्यथा है और वृथा है। भगवान कहो चाहे अल्ला कहो, सब एक ही हैं। जहाँ राम है वहाँ आराम है—जहाँ नहीं राम वहाँ व्याराम है। यदि कथा कहनी है तो सिर्फ हरिकथा कहो। यदि कुछ सुनना है तो हरिकथा सुनो। भगवान के अनन्त रूप हैं। भगवान के बिना न रहो। जो देखो तो हर एक वस्तु में भगवान का दर्शन करो। जहाँ शिव हैं वहाँ पत्थर नहीं है और जहाँ पत्थर है वहाँ शिव नहीं है। जहाँ अल्ला है वहाँ दुःख नहीं है। यदि भगवान में मन न लगे तो भी कोशिश करो। अहंकार से अहंकार पर विजय करो। मन भटके तो भी पकड़ कर उनके चरणों में लगा दो। जैसे मन को घूमने की आदत है वैसे मन को शान्त होने की भी आदत है। इस शरीर का तो कोई घर नहीं है। यह शरीर किसी के घर में नहीं जाता, किसी का नहीं खाता है—एक ही हमारा मुकाम है सदा। तुम कौन हो? वही हो! वही हो! वही हो! उसके सिवा कुछ है ही नहीं। हरएक रूप में दर्शन देने के लिये ये सब लोग आते हैं। देखो! भगवान की कितनी कृपा है। हरिकथा क्या है? अपनी ही बात है। यहाँ तो लिखना पढ़ना कुछ नहीं सिखाया। बच्चा जैसी तोतली भाषा बोल देती हूँ।

× × ×

कथा-प्रसङ्ग में माँ ने कहा—जो हो रहा है—जो होता है, गति है याने कर्म, क्रिया जहाँ है। बीज जहाँ है वृक्ष होगा ही। बीज बोने के बाद गति का प्रकाशरूप वृक्ष हो गया। यह तो बिलकुल पक्का रह गया। जो रह गया—पक्का ऐसा ही होना है। यदि विशेष शक्ति धारा बदलें तो उनकी इच्छा से बदलना हुआ। क्या हुआ—क्या हो रहा है यह सब सारा इन्तजाम पक्का है। जैसे भोजन बनाकर खाने को बैठाते हैं। वासना कामना जहाँ है वहाँ निर्दिष्ट ही रहा—महाशक्तिशाली कोई हो तो पलटा सकता है। जैसे दो पेड़ मिलाकर (कलम बनाकर) फल, फूल बना देते हैं—यह सब माली नहीं कर सकते। सभी सम्भव है, जो निर्दिष्ट है वही हो रहा है। जहाँ से सारी सृष्टि चल

रही है सृष्टिकर्त्ता सृष्टि बदले क्यों ? जो करने वाला है बदलने वाला भी वही है। जिस बखत जो हो रहा है वह होनहार था वह बात पक्की माननी पड़ेगी। कोई कहता है—ऐसा वैसा होना चाहिये, कोई चेतावनी देता है—बात बदलना वह भी रह गया। जो हो रहा, जो होता है, सब ठीक है। दुनिया की दृष्टि से विघ्न आना स्वाभाविक है। यही बात होनी है—करें क्या ? जहाँ अनजान है वहाँ द्वन्द है। जगत माने गति—जो गति है वह जगत है। जीव का स्वभाव है द्वन्द उत्पन्न करना। निर्द्वन्द कब होता है ? जब स्वयंप्रकाश होता है तब। वासना, कामना, इच्छा, अनिच्छा जहाँ हैं लड़ाई तो वहाँ होनी ही है। श्रीकृष्ण के सामने रहते हुए भी लड़ाई हुई और इससे क्या हुआ ? गीता की सृष्टि हुई। जैसे लड़ाई हो रही, बीच में जाओ—नहीं जाने से गीता उत्पन्न नहीं होगी। जैसे जैसे अपनी बुद्धि बदलती जाती है वैसे वैसे अध्याय होता रहता है।

पिताजी, जगत में लड़ाई कब बन्द होगी, यह प्रश्न आना स्वाभाविक है। जहाँ गति है वहाँ कभी चिरशांति हो सकती है। मन जहाँ है वहाँ लड़ाई होती ही है। परम शान्ति इसी में है कि बस हरिकथा ही कथा और सब व्यथा और वृथा है। हरि बिना जो कुछ दृष्टि से देखोगे सब कुछ व्यथा एवम् वृथा है, फजूल है। द्वन्द मिटाने के लिये कोशिश करनी चाहिये। पिताजी, एक बात है, सबेरे उठकर भगवान से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि मैं दिन भर जो कर्म करूँगा वह भगवान के श्रीचरणों में अर्पण करूँगा। जो कर्म करना वह अच्छा करना। जो कुछ करना सिर्फ भगवान के लिये करना। साथ में क्या जायगा ?”

× × ×

ता० ३० मार्च, १९४८—

माँ काशी आश्रम में पधारी हैं। माँ के आने से पहले ही यहाँ पर उत्तरकाशी के वयोवृद्ध और प्रसिद्ध ज्ञानी विरक्त महात्मा श्रीदेवीगिरि महाराज काशी आश्रम में पधारे हुए हैं। (१९५० अक्टूबर में आपका शरीर छूट गया है)। आज

काशी में आते ही माँ प्रथम देवीगिरि महाराज के रूम में पधारीं। माँ को देखकर देवीगिरि महाराज खूब खूब खुश हो गये। उन्होंने माँ से सुन्दर आलिंगन किया।

माँ—बाबा, मैं तो छोटी बच्ची हूँ।

देवीगिरि—बहुत दिनों से इच्छा थी कि आपके दर्शन करूँ।

माँ—बाबा की इतनी अहैतुकी कृपा है कि दर्शन देने के लिये पधारे हैं। महात्माओं का दर्शन-योग अमृत है। पहले आपसे मिलकर फिर भोजन पावें।

देवीगिरि—सच्चिदानन्द भोजन है खास आपका तो।

माँ—(प्रणाम कर रही हैं) बाबा, नमो नारायण ! नमो नारायण !! नमो नारायण !!!

× × ×

शाम का समय है। माँ छत पर टहल रही हैं। नीचे पवित्र गंगामैया प्रवाहित हो रही हैं। बड़ा सुन्दर दृश्य है। देवीगिरि महाराज भी माँ से मिलने के लिये ऊपर पधारे हैं। माँ ने कहा—पिताजी, कुम्भमेला में नहीं गये। आपके लिये कुटिया रखी थी।

देवीगिरि—क्या देखना है ? सब स्वप्न है, माया का विलास है।

माँ—हाँ पिताजी, बिलकुल ठीक है।

देवीगिरि—शरीर तो निकम्मा है—छह विकारवाला है।

माँ—हाँ निकम्मा है।

देवीगिरि—आत्मा ही राम है।

माँ—हाँ, आत्माराम !

देवीगिरि—रमन्ते योगिनो यस्मिन् इति रामः। इसको राम कहते हैं। प्रकाश का नाम काशी है। स्वप्रकाश कमती बढ़ती नहीं होता है। वहाँ एकरस है।

माँ—वहाँ सब तरीके से एकरस है।

देवीगिरि—निर्विशेष, स्वप्रकाश समाधि में बैठे या बाहर बैठे क्या हानि लाभ है।

माँ—हानि लाभ की कोई बात ही नहीं है।

देवीगिरि—निर्विशेष है न? माताजी का दर्शन हो गया, बड़ा मङ्गल हो गया।

माँ—पिताजी, छोटी सी बच्ची पर स्नेह करके अहैतुकी कृपा करो। (कुम्भ सम्बन्ध की बात चलते ही) माँ ने कहा—पिताजी स्वयं ही अमृत कुम्भ है—देखना क्या है?

देवीगिरि—पाँच कुम्भ देखे अब क्या देखना है। अब तो पड़े पड़े पाठ करते हैं। विष्णुसहस्रनाम का पाठ करते हैं।

माँ—यह शरीर तो उड़ने वाला पक्षी है—कभी उड़ जाता है। तुम्हारी चिड़िया है। अगर आश्रम कहा जाय तो दुनिया भर हमारा आश्रम है।

देवीगिरि—कहीं न्यूनाधिक नहीं है। काशी जगन्नाथ इस शरीर के लिये देश है।

माँ—वहाँ देश काल की कोई बात नहीं है।

देवीगिरि—सिर्फ एकरस।

कल पूज्य देवीगिरि महाराज को रामकृष्ण सेवाश्रम से भोजन का निमन्त्रण आया है।

माँ—कल भोजन के लिये जाना है?

देवीगिरि—खाना क्या है? उन लोगों की खुशी है।

माँ—खुशी ही खाना हैं, आनन्द ही खाना है।

देवीगिरि—भक्त लोग परमेश्वर को दास बना लेते हैं। भगवान मेरा रथ दो सेनाओं के बीच में रखो।

माँ—मतलब क्या है—वोही तो है।

डायरी के कुछ पन्ने

गुरुप्रिया देवी

ता० २७ मई १९५७—

अहमदाबाद में जन्मोत्सव सम्पन्न हो जाने के बाद माँ बम्बई होकर पूना आई हैं, तीन दिन हुए। आज प्रातः ११ बजे तक हम कईएक जन माँ के कमरे में बैठे हैं। इसी समय श्रीयुक्त दिलीपकुमार राय* अपने कईएक भक्त शिष्यों को साथ लेकर माँ के दर्शनों के लिए आये। उनके पहनावे में गेरुवे वस्त्र थे, सिर पर पीली टोपी, शरीर पर सिल्कन रामनामी, कपाल पर नूतन किस्म का तिलक था और थी सौम्य प्रसन्न मूर्ति। हम लोगों के साथ कई वर्ष पहले उनकी भेंट हुई थी। किन्तु चेहरे पर कोई विशेष परिवर्तन हमें दिखाई नहीं पड़ा।

साथ में श्रीमती इन्दिरा भी आई हैं। दिलीपकुमार ने ही माँ के साथ उनका परिचय करा दिया—माँ, ये आपके देहरादून के भक्त कृपारामजी की कन्या हैं। इनका वास्तविक नाम जनककुमारी है। मैंने नाम रखा है इन्दिरा। इनके दो पुत्र हैं—बड़ा बम्बई में इञ्जिनीयरिङ्ग पढ़ता है और छोटा माँ से ही पढ़ना लिखना सीखता है। इनके पति भी इञ्जिनीयर हैं। कभी कभी यहाँ आते हैं।

श्रीमती इन्दिरा का नाम इससे पूर्व भी हम सुन चुके थे। उनके भी पहनावे में पीले रंग की साड़ी है। मुँह पर सदा हास की छटा बिखरी रहती है। माँ को प्रणाम कर वे समीप में बैठ गईं।

---

*सुप्रसिद्ध संगीतकार श्रीदिलीपकुमार राय, पहले ये श्रीअरविन्द के आश्रम में रहते थे। वर्तमान समय में पूना में नूतन आश्रम बनाकर वहीं रहते हैं।

दिलीप दादा ने कहा—"माँ, हम लोगों के वहाँ आपको एक दिन चलना होगा।"

माँ—"बाबा, तुम तो जानते ही हो कि बहुत समय से यह शरीर किसी भी गृहस्थ के घर जाता नहीं।" (इस प्रसङ्ग में यह कह रखती हूँ कि वे सम्प्रति सर चुन्नीलाल मेहता के मकान में रहते हैं।)

दिलीप दादा—"वहाँ तो विग्रह हैं। वहाँ जाने में दोष क्या है?"

माँ ने हँसकर कहा—"बाबा, दोष तो कुछ नहीं है। किन्तु बहुत दिन हुए इस शरीर का ऐसा ही चला आ रहा है। सभी जानते हैं।"

माँ गृहस्थ के घर नहीं जाती हैं यह सुनकर श्रीमती इन्दिरा के मन में मालूम होता है कुछ ठेस लगी। वे दिलीप दादा से अंग्रेजी में कह उठीं—"दादा, वह तो गृहस्थ का मकान नहीं है। आप तो वहाँ रहते हैं।"

माँ ने उनकी बात का तात्पर्य जान कर दिलीप दादा से कहा—"बाबा, इस समय वहाँ गृहस्थ के न रहने पर भी पहले तो वहाँ कोई था। फिर तुम्हारे वहाँ से चले जाने पर भी अन्य कोई रहेगा।"

थोड़ा ठहर कर फिर कहती हैं—"पर आज कल कभी कभी ऐसा होता है कि पहले संभवतः किसी गृहस्थ का मकान था, बाद को वहाँ किसी मन्दिर या आश्रम की प्रतिष्ठा हुई एवं वहाँ यदि और कोई गृहस्थ के रूप में निवास न करता हो तो इस शरीर को वहाँ बहुधा ले जाते हैं।"

दिलीप दादा ने जरा आपत्ति के स्वर में कहा—"मैंने तो आपको कलकत्ते में गृहस्थ के घर में देखा ऐसा स्मरण हो रहा है।" माँ ने जरा हँसकर कहा—"नहीं बाबा! कलकत्ते में ऐसे मकान हैं जहाँ उन लोगों ने स्नेह से इस शरीर के लिए अलग कमरे बना रखे हैं। उन कमरों में कभी कोई गृहस्थ के रूप से रहता नहीं और

उस कमरे में यदि जाना हो तो इस शरीर का घर के भीतर से जाना नहीं होता। इस शरीर को इस तरह के किसी घर में ही तुमने देखा होगा, बाबा।"

इस तरह की और भी दो चार बातें होने पर यह प्रसङ्ग दब पड़ा। माँ ने दिलीप दादा से कहा, तुम्हारा ऐसा सुन्दर गला है। हमें एक गाना सुनाओगे नहीं ?"

दिलीप दादा ने जरा आनाकानी करके कहा कि मैं आजकल भगवद्‌विग्रह के सामने के सिवा विशेष कर और कहीं गाना गाता नहीं हूँ। किन्तु माँ ने स्वयं उनसे गाने की बात कही है। इसलिए श्रीमती इन्दिरा के साथ सलाह कर उन्होंने स्थिर किया कि उन लोगों का प्रतिदिन का सायंकालीन भजन आज माँ के सामने ही होगा और थोड़ी देर बैठकर उन्होंने माँ से विदा ली।

सन्ध्या के जरा पहले ही दिलीप दादा के डेरे पर यहाँ से गाड़ी भेज दी गई। उन्होंने सब लोगों को साथ ले आकर ठीक साढ़े सात बजे के समय भजन शुरू किया। पहले गुरु-प्रणाम तथा निर्वाणाष्टक स्तोत्र और भवान्यष्टक स्तोत्र अति सुललित कण्ठ से गाये। तत्पश्चात् दिलीप दादा का स्वरचित अति सुन्दर कृष्णलीला संगीत हमने सुना।

पौने नौ बजे माँ के निकट मौन पालन किया जाता है। मौन के ठीक पहले भजन समाप्त करके माँ के चरणों के निकट आकर बैठे और बोले इस समय माँ के चरणों के निकट ही जरा बैठता हूँ।

मौन के पश्चात् दिलीप दादा ने श्रीमती इन्दिरा की साथी संगी महिलाओं को दिखाकर कहा—ये सब इन्दिरा की शिष्या हैं। इन्दिरा के साथ ही ये भजन करती हैं। थोड़ी देर बाद वे सब उठे। उन्हें फिर मोटर से पहुँचा दिया गया।

३१ मई १९५७—

सन्ध्या के बाद हम लोग माँ के कमरे में बैठे हैं। योगी भाई*नर्मदा से कई

---

*सोलन के राजा साहब श्री दुर्गासिंहजी। माँ ने उनका नाम रखा है योगीभाई।

शिवलिङ्ग लाये थे वही प्रसङ्ग चल रहा है। उन शिवलिंगों में एक की हरिद्वार में योगीभाई द्वारा स्थापित शिवमन्दिर में स्थापना की गई थी। शेष तीन की गत वर्ष वृन्दावन आश्रम में स्थापना की गई है। उसी प्रसङ्ग में रामेश्वर के उस सूक्ष्म देहधारी महात्मा के विषय में भी चर्चा चली।

ये सब बातें हो रही हैं इसी समय एक तार आया—योगीभाई की विमाता ने सोलन में देहत्याग किया। माँ ने सुन कर कहा—"देखो, जिस सूक्ष्मधारी महात्मा के साथ दक्षिणयात्रा के समय भेंट हुई थी वह चिदम्बरम् मन्दिर के पुजारी का लड़का था। योगीभाई के ७५-७६ पीढ़ी पूर्व किसी ने उस पुजारी के वंश में जन्म लिया था।"

माँ थोड़ा कह कर चुप हो गईं। मुझे ज्ञात हुआ कि उस सूक्ष्म देहधारी महापुरुष के साथ योगीभाई के भी परिवार का कुछ सम्बन्ध है। माँ तो सदा सब बात साफ साफ़ कहती नहीं हैं। किसी समय पर शायद बात स्पष्ट हो सकती है। और एक दिन की बात का मुझे स्मरण हुआ। माँ सोई हैं, मैं समीप में बैठकर माँ को पङ्खा झल रही हूँ। माँ तनिक नेत्र खोलकर मुझसे कह रही हैं—"देख दीदी, देखती हूँ खूब बड़ी एक जगह है। वहाँ बहुत से कमरे हैं। उन सब कमरों में रोगी रहते हैं। बीच में खूब बड़ा एक हाल कमरा बनाया जाने वाला है; इसीलिए परमानन्द को बुलाकर भेजा गया। परमानन्द एक खाता हाथ में लेकर आ पहुँचा। इतना कह कर ही चुप मार गईं। सब कुछ रहस्य ही रह गया। पर मुझे ऐसा लगा कि भविष्य में शायद माँ के नाम से कहीं अस्पताल सी कुछ इमारत तैयार हो सकती है। माँ ने उसी को आज सूक्ष्म में देखा है।

रात में माँ चुपचाप बिछौने पर बैठी हैं। कानियाँ भाई× ने माँ से धीरे धीरे जिज्ञासा की—"माताजी, गृहस्थाश्रम में किस प्रकार संसार चलाना उचित है इस सम्बन्ध में कुछ कहें।"

× बम्बई के सर चुन्नीलाल मेहता के जामाता श्री डी० आई० कानिया। ये सपरिवार माँ के विशेष भक्त हैं।

माँ धीरे धीरे कहने लगीं—"देखो, एक ब्रह्मचर्य के अभाव में ही अन्य सब आश्रमों के नियमों का भी ठीक ठीक पालन नहीं किया जाता। बुनियाद पक्की न होने से जैसे मकान नहीं बनाया जाता। आश्रम माने जहाँ श्रम नहीं। फिर भगवान् को छोड़ देने पर सब ही तो श्रम है। तब विश्राम कहाँ? गृहस्थाश्रम में रह कर भी यदि तद्-ज्ञान से (भगवान् की सेवा समझ कर) सेवा की जाय तो ठीक ठीक आश्रम वास होता है। पति की परमपति समझ कर सेवा, पुत्र की बाल-गोपाल समझ कर सेवा, स्त्री की महामाया के अंशरूप से सेवा। तुम्हीं लोग तो कहते हो—"यत्र जीवः तत्र शिवः, यत्र नारी तत्र गौरी।" इस संसार का मालिक न होकर माली होना चाहिये। मालिक बनने पर ही सारी गड़बड़ियाँ होती हैं। माली बन सकने पर फिर कोई झगड़ा नहीं। वैसे ही यह संसार भगवान् का है, मैं सेवकमात्र हूँ, उनके निर्देश के अनुसार केवल मैं सेवा करता जाऊँगा, यही भाव सदा रखकर यदि गृहस्थाश्रम में भी रहा जाय तो फिर नये किसी कर्मबन्धन की सृष्टि नहीं होती। केवल प्रारब्ध का भोग करते जाना मात्र। इस बात को सदा ध्यान में रखकर यदि संसार चलाया जाय तो फिर भय किस बात का? वे ही सब कुछ ठीक कर लेंगे।"

२री जून १९५७—

प्रातःकाल पाठ समाप्त हो गया है। श्रीमान् तपन ने माँ से प्रश्न किया—"माँ, हम लोगों का कल्याण कैसे होगा इस विषय में कुछ कहें।"

माँ—अपने को जानने की चेष्टा करना ही मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य है। अपने को जानना ही भगवान् को जानना है और भगवान् को जानने के माने ही अपने को जानना है। भगवान् की प्राप्ति के बिना दुःख का अन्त नहीं। यदि भगवान् को पाना हो तो केवल उनका जप, उनका ध्यान तथा उनका नामकीर्तन करना चाहिये। इसके सिवा कल्याण का और दूसरा पथ नहीं है।

फिर कह रही हैं—सत्सङ्ग और सद्ग्रन्थ का पाठ भी इस पथ का सहायक है। यह शरीर प्रायः एक ही बात कहता है—विषय के माने विष हैं। विषयभोग धीरे

धीरे मृत्यु है—जिसे तुम लोग slow poison कहते हो। फिर उसी के साथ क्या return ticket खरीद कर लौट आने की व्यवस्था कर रखना है। इसीलिए यह शरीर सदा ही यह कहता है कि जितना अधिक समय उन्हें (भगवान् को) लेकर रह सको उसकी चेष्टा करो। समय तो चला जाता है।"

ये सब बातें हो रही हैं इसी समय दिलीप दादा, श्रीमती इन्दिरा आदि आकर माँ के निकट बैठे। आज उन लोगों के यहाँ खाने की बात कही गई है।

५वीं जून १९५७—

आज दोपहर में माँ के निर्देशानुसार आश्रम की लड़कियों द्वारा मालपूआ, खीर आदि बनवा कर मैंने दिलीप दादा के डेरे पर भेजवा दिया।

अपराह्न में दिलीप दादा और इन्दिरा दोनों जने टहलते टहलते आये। मुझसे हँसते हँसते बोले—"दीदी, आप तो हमारी जप की माला हो गई हैं। कितनी सब वस्तुएँ तैयार कर भेजी हैं। ये सब क्या सहज में भूतल में प्राप्त की जा सकेंगी?

आज सन्ध्या को माँ को लेकर हम लोगों के उनके वहाँ जाने की बात है। उसी बात का फिर स्मरण करा देने के लिए आये हैं।

शाम को ठीक साढ़े सात के पहले माँ को लेकर हम लोग दिलीप दादा के यहाँ गये। देखा, वहाँ मकान के बाहर बैठने की व्यवस्था की गई है। सीढ़ी के ऊपर माँ के लिए स्वतन्त्र आसन बिछाया है। स्थानीय गण्यमान्य व्यक्तियों में से बहुतों को उन्होंने माँ के दर्शनों के लिए निमन्त्रण दिया था। साधु वसवानीजी के भी आने की बात थी। किन्तु सुनने में आया कि शरीर अच्छा नहीं था, इसलिए वे आये नहीं। वसवानीजी ने पहले काशी में माँ के दर्शन किये हैं। वसवानीजी का भारत के नाना स्थानों में खूब नाम है।

वसवानीजी की प्रतीक्षा में मालूम होता है, साँझ का प्रोग्राम आरम्भ होने में कुछ विलम्ब हो गया। पीछे इन्दिरा देवी के आकर बैठने पर दिलीप दादा ने भजन शुरू किया। गुरु को प्रणाम कर पहले श्रीकृष्ण का एक संगीत, तदनन्तर शिवजी का

फिर एक श्रीकृष्ण संगीत गाकर श्रीमती इन्दिरा द्वारा रचित एक हिन्दी भजन गाया। दिलीप दादा ने साथ साथ उसका बँगला में भी अनुवाद कर गाया। जैसा भाव और जैसी भाषा थी वैसा ही सुन्दर ताल था। इसकी तुलना नहीं है। तदुपरान्त ५ मिनिट नाम-कीर्तन कर ठाकुरजी की आरती हुई।

आरती के बाद दिलीप दादा ने सबके सन्मुख माँ के विषय में अँग्रेजी में कुछ कहा। उसका सारांश यह है—माँ आज भारत में और भारत के बाहर भी बहुत स्थानों में सुपरिचित हैं। उनके चरणों में आश्रय लेकर बहुत नर-नारियों ने शान्ति-पथ खोज पाया है। गत १९२४ ई० में जब मैं पहले अपने गुरुदेव श्री अरविन्द के निकट गया था तभी उनके मुख से मैंने सुना था कि साधन भजन करके उच्चस्तर प्राप्त कर बहुत से लोगों ने व्यक्तिगत रूप से वह आनन्द प्राप्त किया है। किन्तु उस आनन्द को दूसरों को दे सकें या उस शान्ति को दूसरों को दे सकें ऐसे पुरुष जगत् में सचमुच दुर्लभ हैं। इस तरह के Superman या Superwoman में माँ अन्यतम हैं।

इस तरह लगभग १५-२० मिनट तक खूब सुन्दर ढंग से उन्होंने भाषण दिया। मौन समाप्त होने पर श्रीमती इन्दिरा ने माँ की आरती करना शुरू करने पर माँ ने दिलीप दादा की ओर संकेत कर कहा—गुरुदेव की आरती करो। किन्तु उन्होंने वह बात न सुनकर विशेष भक्तिभाव और विनय से माँ की आरती की।

आते समय मैंने श्रीमती इन्दिरा से कहा—"किन्तु तुम्हारा गाना सुनने को नहीं मिला।" दिलीप दादा साथ साथ कह उठे—"हाँ गाना सुनाओ। दीदी सन्देश खिलावेंगी।" यह कह कर हँसते हँसते उन्होंने माँ को उनकी मोटर में चढ़ा दिया।

मातृ-कथामृत

'नीलमणि'

(गताङ्क से आगे)

स्थान—राँची आश्रम, समय—२२-५-५८, रात्रि ६ बजे

प्र०—यह जगत् क्या छन्दोमय है ?

उ०—छन्द है भी, नहीं भी है। जिस दृष्टि से जो देखे।

प्र०—साधक का उद्देश्य क्या उस छन्द के साथ अपने जीवन-छन्द को मिलाना है ?

उ०—मिला जो है उसे प्रकट करना है।

प्र०—चण्डी और गीता का सामञ्जस्य कहाँ है ? गीता त्याग के साधन बतलाती है और चण्डी में "देहि देहि" प्रार्थना है।

उ०—चण्डी की "दो दो" प्रार्थना का परमवस्तु के साथ सम्बन्ध है। परमरूप परमधन प्राप्ति के लिए, उस मूल-प्राप्ति के लिए माँ के निकट "दो दो" है। जिसे पाने पर पाने या न पाने का प्रश्न नहीं रहता उसी को पाने की प्रार्थना है। फिर प्रथम स्तर में जगत् की ओर से अभाव-पूरण भी साधक के लिए आवश्यक है। धीरे धीरे परमधन के लिए प्रार्थना जागेगी।

प्र०—तब क्या माँ देती है और बाबा त्याग कराते हैं ?

उ०—माँ माने मातृसत्ता, सत्ता माने आत्मा, वह न स्त्री है और न पुरुष।

प्र०—माँ क्या जीव और ईश्वर के बीच मध्यस्थ है।

उ०—तुम जो कहते हो वह भी ठीक है। जिसके गुरु जो लाइन (पथ) देते हैं उसके लिए वही ठीक है।

प्र०—पुराण के अद्भुत कथानक क्या सब उद्देश्यपूर्ण हैं ?

उ०—सभी संभव है। पुराण के युग की घटना आजकल भी किसी जगह घटती ही है।

प्र०—असंभव संभव हो सकता है इसमें प्रमाण क्या है ?

उ०—संभव न होने पर यह बात या प्रश्न आया कहाँ से ? वहाँ सब कुछ हो सकता है। दुनियाँ की दृष्टि से संभव असंभव है ही। तुम कभी सोचते हो कि मैं अमुक काम कर डालूँगा किन्तु माया का ऐसा भी खेल है कि वह फिर संभव नहीं होता। ईश्वर के निकट तो यह बात नहीं है।

प्र०—'मिथ्या' नाम की क्या कोई बात नहीं है ?

उ०—मिथ्या भी है, सत्य भी है। परम सत्य एकमात्र वही हैं—प्राकृत रूप में कहो चाहे अप्राकृत रूप में कहो, सब रूपों में।

प्र०—सब कैसे संभव हो सकता है ?

उ०—ज्ञान का चश्मा पहन डालो, देख पाओगे।

प्र०—जीव संसार में क्यों आता है ?

उ०—जीव स्वयं ही अपने भोग पूरे करने के लिए संसार में आता है।

प्र०—क्या भोग के ऊपर विजय पाना संभव नहीं है ?

उ०—सब कुछ हो सकता है। भोग-जय क्यों नहीं होगी।

प्र०—कोई सीधा रास्ता (Short cut) है क्या ?

उ०—भगवान् की कृपा से वह भी कभी कभी प्राप्त होता है।

प्र०—परमात्मा को जीवरूप ग्रहण की आवश्यकता क्या जब जीव को लौट कर परमात्मा में जाना ही होगा ?

उ०—यह उनकी मौज (लीला की इच्छा) है। मौजी शङ्कर हैं, लीलामय भगवान् हैं, उनकी खुशी।

प्र०—उनकी मौज (मजा) हम लोगों के लिए मुसीबत (कष्ट) ढाती है।

उ०—जहाँ मैं, मेरा, तुम, तुम्हारा, वह, उसका इत्यादि भेदभाव है वहीं दुर्गति है।

प्र०—कैसे यह मैं और मेरा अहङ्कार हटाया जाय ?

उ०—रास्ता तो सबके लिए दिया ही है। एक रास्ता पकड़ो।

प्र०—जो पुनर्जन्म नहीं मानते उनका क्या पुनर्जन्म होता है ?

उ०—मानना न मानना लेकर साधना होती है। किन्तु नियम फलेगा, मानो चाहे न मानो।

प्र०—विश्वास किसे कहते हैं ?

उ०—विगत हो गया है (चला गया है) श्वास या संशय जहाँ से। विश्वास दो प्रकार का होता है—अन्धविश्वास और पक्का विश्वास। पक्का विश्वास है अन्तर्यामी पुरुष के इङ्गित से विश्वास यानी निरपेक्ष विश्वास। चैत्यपुरुष चेतना देते हैं। और अन्धविश्वास है मनमाना विश्वास, कच्चा विश्वास यानी आपेक्षिक विश्वास। वह टूट भी सकता है। पर अन्धविश्वास से बहुधा धीरे धीरे पक्का विश्वास उत्पन्न होता है। जैसे एक साधु का एक चोर शिष्य था। चोर झूठ बोलता और उससे उसको लाभ होता, इसलिए वह गुरु के कथनानुसार सच बोलना न चाहता। एक दिन गुरु ने उससे अन्धविश्वास से गुरुवाक्य मान कर सत्य बोलने को कहा। उसने वैसा ही किया और एक राजा के मकान में चोरी करके पकड़ा गया। सत्य बात कही, छूट गया एवं तदनन्तर चोरी भी छोड़ी, झूठ बोलना भी छोड़ा। सत्य में उसका पक्का विश्वास हुआ।

कैलास—मानसरोवर-प्रदक्षिणा*

श्रीदत्तात्रेयानन्द ब्रह्मचारी

"गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं पृथिवी स्योनमस्तु।"

—अथर्ववेद

[माँ पृथिवी! तेरे हिमालय पहाड़ और अरण्य हमलोगों के लिए आनन्दप्रद हों।]

* * *

नागाधिराज हिमालय का नाम ही इतना सुमधुर है कि सुनने मात्र से किसी भी भावुक भक्त का हृदय आनन्द से खिल उठता है। कान उसकी महिमा सुनने के लिए लालायित रहते हैं तो आँखें उस दिव्यभूमि के दर्शनार्थ उतावली हो उठती हैं। इस परम पुनीत भूमि का नाम सुनते ही हृदय में इस तरह का आन्दोलन, बाहर इस तरह के परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। कारण पवित्र स्थान के नाम में ऐसी अद्भुत महिमा होती ही हैं। इस प्रकार के नाम के उच्चारण से उद्भूत ध्वनि-लहरियों से वायु-मण्डल विशुद्ध हो जाता है और वह उस स्थान पर स्थित व्यक्ति में एक अद्भुत परिवर्तन ला देता है। देखा जाय तो हिमालय हमारा असली 'वतन' है। हमारा उद्गम स्थान और गन्तव्य स्थान या आखिरी मञ्जिल भी वही है। हमारा अति प्राचीन सर्वमान्य धर्मग्रन्थ ऋग्वेद कहता है:—परमस्रष्टा परमेश्वर में ज्यों ही 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' अर्थात् मैं एक हूँ, अब अनेक हो जाऊँ यह सृष्टिभावना जाग उठी, त्यों ही समस्त विश्व में फैली हुई जलराशि के बीच धीरे-धीरे हिमालय का शिखर ऊपर उठता दिखाई पड़ा। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त

---

*इस वर्ष जून-जुलाई में लेखक स्वयं कैलाश-मानसरोवर की यात्रा के लिये गये थे।

में भी इसका समर्थन करते हुए कहा गया है—'यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीत्।' (१२–१–८) सारांश, हिमालय की पृथ्वी पहले समुद्र के जल के नीचे रही। सर्वप्रथम वही जलराशि पर दीखने लगी थी*। जलराशि ने इस भूमि को स्थान (जगह) प्रदान किया। इसीलिए उस भूमि का नाम 'सिन्धुस्थान' पड़ा और यही सिन्धुस्थान अपभ्रन्शवश 'हिन्दुस्थान' बन गया†।

यह वही पावन भूमि है, जिसके एकान्त प्रदेशों में ऋषि-मुनि बसते थे। ('उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्, धिया विप्रो अजायत'। —यजुर्वेद २६।१५) हिमालय वह आनन्दमयी पुण्यभूमि है, जहाँ विविध रंगों और सुगन्धों से भरे फूल और सुमधुर पक्क फलों से लदे अरण्य दीख पड़ते हैं। वृक्ष-लताओं से आवेष्टित, मनोमोहक हरे-भरे, सौगन्ध्ययुक्त पर्वत और उनके बीच से नाचते-गाते और आनन्दमय स्निग्ध-कलकल निनाद के साथ बहते स्वच्छ मधुर जल के जलप्रपात, मधुर और सुन्दर सरोवर; बड़े-बड़े शिलाखण्डों से टकराती और घू-घूकर सफेद फेनों को चारों ओर उछालती निरन्तर चपल गति से सुन्दर घाटियों के बीच से बहती सर्पाकार नदियाँ; उन्मुक्तता के साथ इधर-उधर विचरते, प्रेम से गाते, खेलते और आनन्द मनाते, रंग-बिरंगे सुन्दर भोले-भाले पंछी और मस्त पशु जहाँ पाये जाते हैं, वही आनन्ददायक पुनीत भूमि 'हिमालय' है।

---

*अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् डेविस ने अपनी 'हारमोनिया' नामक पुस्तक में इस बात का सप्रमाण समर्थन किया है। जिन्होंने कैलास पर्वत का प्रत्यक्ष दर्शन किया है, वह भी निःसन्देह इसे स्वीकार करते हैं। कैलास पर्वत का उत्तरी भाग (Congalomerate) पत्थरों का है और शिखर पश्चिमी और दक्षिणी भाग Granit का है, जो पृथ्वी के उषःकाल 'इयोसीन' से भी प्राचीन माना जाता है।

†History of the world नामक पुस्तक में सर वाल्टर रेले ने यह स्वीकार किया है कि सृष्टि का आरम्भ 'हिन्दुस्थान' से ही हुआ है।

वर्षों तक इस दिव्यभूमि में एकान्त साधना करते हुए महान आत्माओं ने अपने तपःपूत हृदय में सत्य के महाप्रकाश का अनुभव किया और उनके विशुद्ध अन्तःकरण से जो स्वयंस्फूर्त महावाणी बाहर प्रकट हुई, वही अन्तिम सत्य कहलाया। यही सब धर्मों का मूल बीज है। समय-समय पर विभिन्न देशों के आचार्यों ने इसी सत्य को लोगों के समक्ष विभिन्न रूपों में वर्णित किया है—(एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति,—ऋग्वेद १–१६४–२२)। इसी एक मूल बीज से वृक्षों की तरह असंख्य धर्म विकसित हुए। यही पवित्र भूमि हिमालय सर्वधर्मों के मूलबीज का उत्पत्तिस्थान है। इसीलिए किसी भी धर्म के किसी भी व्यक्ति को हिमालय का आकर्षण होना स्वाभाविक ही है।

हिमालय विश्व की सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य-भूमि है, जिसके दर्शनमात्र से हर कोई मुग्ध हो उठता है। चित्रकार उस भूमि के अद्भुत सौन्दर्य को अपनी तूलिका से चित्रित करने के लिए ललचाते रहते हैं, छायाचित्र लेनेवाले वहाँ पहुँचने के लिए अधीर हो उठते हैं, लेखक और कवि उसके अद्भुत सौन्दर्य का पानकर लेख या काव्य के रूप में उसका शब्दचित्र खींचने के लिए विलक्षण उत्सुकता के साथ उसके प्रति आकृष्ट हुआ करते हैं और उसके हिमाच्छादित शिखरों पर विजयध्वज फहराकर गौरवान्वित होने के लिए देश-विदेश के लोग उतावले हो उठते हैं। भले ही कोई भूगर्भ की खनिज वस्तुओं के अन्वेषक हों या विभिन्न पशु-पक्षियों के अभ्यासी हों; प्राचीन वस्तुओं के खोजी हों या तीर्थयात्री हों; धर्मप्रचारक हों या राज्य-विस्तारवादी हों; अपने देश के हों या विदेश के हों या किसी भी धर्म के अनुयायी क्यों न हों, हर किसी को इस दिव्यभूमि हिमालय के प्रति आकर्षण हुए बिना रह नहीं सकता। आखिर इसका क्या कारण है? कारण यही है कि वह विश्व की सर्वश्रेष्ठ, सब प्रकार से परिपूर्ण स्वर्गीय भूमि है।

हिन्दू-धर्मग्रन्थों में अनेक पृष्ठ 'हिमालय' की प्रशंसा से रँगे पड़े हैं। श्रीमद्-भगवद्गीता में इस अत्यन्त पुनीत भूमि के विषय में कहा है "स्थावराणां हिमालयः"

CC0. In Public Domain. Shri Shri Anandamayee Ashram Collection, Varanasi

(१०।१५) अर्थात् स्थावर या अचल पदार्थों के बीच मैं हिमालय हूँ—हिमालय मेरी विभूति है। जब भगवान् स्वयं श्रीमुख से किसी भूमि के लिए इस प्रकार अपना मन्तव्य व्यक्त करते हैं, तो फिर उसकी महत्ता, उसके सौन्दर्य आदि के विषय में कहना ही क्या है। आखिर भगवान् ने क्योंकर हिमालय को अपनी विभूति बताया, इस विषय में थोड़ा विचार कर लें। शास्त्रों में 'भूति' और 'विभूति' दो शब्द हैं। 'भूति' माने सत्ता, प्रकाश, प्रभाव, सुख, ऐश्वर्य आदि। और 'विभूति' का अर्थ है विशेष सत्ता, विशेष प्रकाश, विशेष प्रभाव आदि। भगवान् सर्वत्र सर्वव्याप्त हैं। हर अणु-परमाणु में उनकी सत्ता विद्यमान है। इस तरह विश्व के समस्त पदार्थों में उनकी 'भूति' है। किन्तु साधारण जनता भगवान् की इस सर्वव्यापकता को आसानी से पहचानने या अनुभव करने में समर्थ नहीं होती। इसलिए जिन-जिन पदार्थों में भगवान् की अधिक सत्ता, अधिक प्रकाश या अधिक ऐश्वर्य अभिव्यक्त होता है, उन्हीं को भगवान् की विभूति द्वारा लोग उस दिव्य महाशक्ति को थोड़ा बहुत समझ सकते हैं। जैसे जलतत्त्व सभी पदार्थों में व्याप्त है, किन्तु नदी या सागर के रूप में उसकी विशेष अभिव्यक्ति हुआ करती हैं। इसीलिए नदी (गङ्गा), सागर आदि को गीता में भगवान् की विभूति कहा गया है :—'स्रोतसामस्मि जाह्नवी' (१०।३१) अर्थात् नदियों में मैं गङ्गा हूँ। 'सरसामस्मि सागरः' (१०।२४) सरोवरों में मैं सागर हूँ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिमालय में विशेष वैभव, विशेष शोभा, विशेष प्रभाव होने के कारण निःसन्देह वह भगवान् की विभूति है। इस दिव्य भूमि का गुणगान करते हुए कविकुलगुरु कालिदास की भारती कुमारसंभव में इन शब्दों में मुखरित हो उठती है :—

"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥"

अर्थात् उत्तर दिशा में देवतास्वरूप पर्वतों का राजा हिमालय विद्यमान है, जो पूर्वी

और पश्चिमी समुद्रों में स्नान करता हुआ उनके बीच में भूमि पर फैलकर मानो पृथ्वी का मानदण्ड (माप की बड़ी पट्टी) की तरह स्थित है। आगे वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं कि अनन्त रत्नों के उत्पत्तिस्थान हिमालय पर सुन्दरता और शोभा की विविध सामग्री है, कहीं-कहीं शिखरों पर रंग-विरंगी धातुओं का प्रवाह है, कहीं नीचे बादलों की छाया···कहीं चँवरी गायें अपनी पूँछरूपी चँवरों को डुलाती गिरिराज के ऐश्वर्य को बढ़ा रही हैं,···कहीं-कहीं पर्वतों के शिखरों के निकट खिले हुए कमलों के सरोवर हैं,···आदि।

कहा जाता है कि कालिदास का हिमालय-वर्णन पढ़ते ही एक पाश्चात्य विद्वान् अत्यन्त प्रभावित हो उठा और उसने अंग्रेजी में उसका पद्यानुवाद करना शुरू कर दिया :—

"For in the north Himalaya lifting high,
His towery summits till they cleave the sky,
Spans the wide land from east to western sea,
Lord of the hills instinct with deity."

हिमालय विश्व में सबसे ऊँचा पहाड़ है, जो कन्दहार और काश्मीर से लेकर पूर्व में ब्रह्मदेश तक फैला हुआ है। उसकी लम्बाई लगभग १६०० मील और चौड़ाई २०० से ३०० मील तक है। वह ऐसा दीखता है, मानो भारत की उत्तरी सीमा पर एक प्राकृतिक दीवाल ही खड़ी हो। यही कारण है कि कालिदास ने उसे मानदण्ड की उपमा दी है। ग्रन्थों में हिमालय के अनेक नाम बतलाये गये हैं। जैसे :— हिमाद्रि, हिमवान्, हिमाचल, हिमगिरि, गिरिराज, नगाधिराज आदि। हिमालय के अधिकांश गिरिशृङ्ग २०००० फुट से अधिक ऊँचे हैं। जैसे एवरेस्ट (२९२०२ फुट), जिसे 'गौरीशङ्कर' भी कहा जाता है, विश्व का सबसे ऊँचा पहाड़ है। इस पर्वत पर अनेक वर्षों के प्रयास के बाद ई० सन् १९५३ की मई की २९ तारीख को भारतीय···आरोही शेरपा तेनसिंह नोर्के और न्यूजीलैण्ड के सि०

हिलारी ने विजय पायी। इस पर्वत का तिब्बती नाम 'खंग-चोमो-लुङ्गमा' है। विश्व का नम्बर २ का ऊँचा शिखर 'गोडवीन ऑस्टीन' है, जिसे लोग "K.2" भी कहते हैं। उसकी ऊँचाई २८,२५० फुट है। उसके बाद 'कंचन-जंघा' है, जो २८,१४६ फुट ऊँचा है। (तिब्बती लोग इसे 'खंग-चेन-चेंगा' यानी पाँच बड़े हिमशृङ्ग कहते हैं। उसका दूसरा तिब्बती नाम 'खंग-चेन-झोंगा यानी पाँच बड़े हिम खजाने है।) उसके बाद मकलू २७,७९० फुट, धवलगिरि २६,७९५ फुट, नंगा पर्वत २६,६६० फुट, नन्दादेवी २५,६४५ फुट, मान्धाता २५,३५५ फुट और कैलास २२,०२८ फुट। ये दोनों पहाड़ मानसरोवर की दक्षिण और उत्तर दिशा में हैं। मानसरोवर के किनारे से दोनों का दृश्य बड़ा ही सुहावना लगता है। इसके अतिरिक्त बहुत से छोटे-मोटे पर्वत जैसे कि गोसाई थान, "कमिट" या "गणेश", जोंगसोंग, चोमोल्हारी, द्रोणगिरि, त्रिशूल, पंचचूल्ही, नन्दाकोट आदि २०,००० फुट से अधिक ऊँचे हैं।

हिन्दू-शास्त्रों ने हिमालय को पाँच खण्डों में विभक्त किया है। वे इस प्रकार हैं :—१—कश्मीर, २—जालंधर, ३—उत्तराखण्ड, ४—कुमाऊँ और ५—नैपाल। इन प्रत्येक खण्डों में विभिन्न तीर्थ-स्थान हैं। जैसे :—१—कश्मीर में अमरेश्वर (अमरनाथ), क्षीरभवानी, मार्तण्ड आदि ; २—जालंधर में ज्वालामुखी देवी, कांगड़ा देवी, चिन्तपूरणी देवी आदि ; ३—उत्तराखण्ड में यमुनोत्री, गंगोत्री, गोमुख, केदार, बद्रीनाथ आदि ; ४—कुमाऊँ प्रदेश में जागेश्वर, बागेश्वर, आदि तथा कुमाऊँ प्रदेश की सीमा पार कर पश्चिमी तिब्बत में श्रीकैलास, मानसरोवर, गौरीकुण्ड, तीर्थापुरी आदि और ५—नैपाल में पशुपतिनाथ, भातपुर, मुक्तिनाथ, दामोदरकुण्ड आदि। इनके सिवा असंख्य छोटे-मोटे तीर्थ भारत में आये हुए हैं। वस्तुतः सारा भारत ही एक महान् तीर्थ है (भा = ज्योति या दिव्य प्रकाश में + रत = डूबा हुआ, अर्थात् दिव्य प्रकाश में नित्य निमग्न देश ही भारत देश है)।

तीर्थ-सेवन की प्रथा सभी देशों में दीख पड़ती है, किन्तु हमारे भारत में उसका विशेष महत्त्व है। हिन्दू धर्मग्रन्थों में तीर्थों के विषय में क्या कहा है, यह हम देखें।

'तीर्थ' शब्द 'तृ' धातु से 'थ' प्रत्यय लगाकर बनता है, जिसका सीधा अर्थ यह है कि 'जिसके द्वारा पार पाया जा सकता है' अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य इस अपार संसार-सागर से तर जाता = पार हो जाता है। (तरति अनेन इति तीर्थम्)। फिर भले ही कोई पवित्र स्थान हो या महान् आत्मा हो या कोई शुक्ल क्रिया हो। कोई-कोई तीर्थ शब्द की व्याख्या इस तरह करते हैं :—'ती' माने तीन और 'र्थ' माने प्रयोजन। अर्थात् जिसमें चतुर्थ पुरुषार्थ 'अर्थ' का सदुपयोग करने से धर्म, काम और मोक्ष ये तीन परार्थ प्राप्त होते हैं, वह 'तीर्थ' है।

खासकर तीर्थों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :--१-स्थावर तीर्थ, २-जंगम तीर्थ और ३-मानस तीर्थ। स्थावर तीर्थों के निम्नलिखित अवान्तर विभाग किये जा सकते हैं। (अ) भगवदीय तीर्थ, (ब) सुगम तीर्थ, और (क) दुर्गम तीर्थ।

स्थावर तीर्थ का अर्थ है, अचल तीर्थ। जैसे :– काशी, द्वारका, अयोध्या, वृन्दावन, सोमनाथ, रामेश्वर, बदरी, केदारनाथ, यमुनोत्री, गङ्गोत्री, अमरनाथ, कैलास-मानसरोवर आदि। इन सब में द्वारका, अयोध्या, वृन्दावन, कैलास-मानसरोवर 'भगवदीय तीर्थ' कहे जा सकते हैं। भगवदीय तीर्थ का अर्थ है, जिस पुण्यभूमि में भगवान् अवतार रूप में आविर्भूत हुए हों, जहाँ उन्होंने चिन्मय लीला की हो, जिसे भगवान् का धाम कहा जाता है, वह सब। जहाँ गाड़ी, बैलगाड़ी या अन्य वाहनों द्वारा पहुँचा जा सकता है, उसे 'सुगम तीर्थ कहते हैं। जहाँ पहाड़ों पर अधिकांश मार्ग वाहन द्वारा तय किया जा सके, उन्हें 'अर्धसुगमतीर्थ' कह सकते हैं।

दुर्गमतीर्थ का अर्थ है, जहाँ पैदल ही चलते हुए यात्रियों को रास्ते में बहुत ही चढ़ाई-उतराई का सामना करना पड़ता है, ऐसे तीर्थ। ऐसे तीर्थों में यमुनोत्री, गंगोत्री, गोमुख, अथरनाथ, तुङ्गनाथ, दामोदर कुण्ड, मुक्तिनाथ, तीर्थापुरी, कैलास-मानसरोवर आदि की गणना की जा सकती है।

जङ्गम तीर्थ का अर्थ है, सचल तीर्थ। शास्त्रों में सन्त-महात्माओं को जङ्गम-तीर्थ कहा जाता है, कारण वे देश-विदेश में पहुँचकर लोगों को योग, भक्ति, ज्ञान का उपदेश दे उनमें आनन्द, उत्साह, विशुद्ध प्रेम और शान्ति का सञ्चार करते हैं। ऐसे जङ्गम तीर्थों के भी दो विभाग किये जा सकते हैं :—सन्त-महात्मा स्वयं हमारे पास पहुँचकर हमारे दर्शन, मधुर भाषण, उपदेश आदि से हमारे दुःख, निराशा, क्लान्ति आदि को धोकर हमें विशुद्ध करते हैं, वे। २—जब ऐसी पवित्र आत्माएँ हमारे गाँव या नगर के पास से गुजरने का समाचार पाकर हम लोग वहाँ पहुँचते और उनके दर्शन, उपदेश आदि का अमूल्य लाभ उठाकर शुद्ध हो जाते हैं। शास्त्रों में भी कहा है :— तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि' अर्थात् ये सन्त-महात्मा रूप तीर्थ तो स्थावर तीर्थों को भी पवित्र कर देते हैं।

"साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
तीर्थं फलति कालेन सद्यः साधुसमागमः ॥"

अर्थात् साधुओं का दर्शन पवित्रतम हुआ करता है, कारण वे तीर्थरूप ही हैं। तीर्थ तो अपने समय पर ही फल देते हैं, किन्तु साधु-समागम का फल तो तत्काल ही प्राप्त हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस जंगमतीर्थ की बड़ी ही प्रशंसा की है। वे लिखते हैं :—

मुद मङ्गलमय संत समाजू। जिमि जग जंगम तीरथ राजू ॥

× × ×

सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा ॥

अर्थात् यह सन्त समाज एक जंगमतीर्थ है और इसका आदरपूर्वक सेवन करने से सम्पूर्ण क्लेश शान्त हो जाते हैं और ये तीर्थ सर्वत्र सबको समान रूप में सुलभ हैं।

'स्कन्दपुराण' में तो श्रेष्ठ पुरुषों के समागम-संग को सहस्र किरणों से प्रकाशित सूर्य के समान अद्भुत प्रभावशाली कहा है। कारण वह अन्तःकरण में व्याप्त अज्ञानरूप अन्धकार का सर्वथा नाश कर देने वाला होता है :—

"तीर्थादप्यधिकः स्थाने सतां साधुसमागमः।"

(स्कन्द पु० माहे० कुमा० १२।६-७)

—क्रमशः

श्रीगङ्गाजी की महिमा

श्री रामनरेश दीक्षित, "नैमिषतीर्थ-पुरोहित"

नैमिषारण्य क्षेत्र,

गच्छन् तिष्ठन् जपन् ध्यायन्
भुञ्जन् जागृत् स्वपन् वदन्।
यः स्मरेत् सततं गङ्गां
स हि मुच्येत बन्धनात्॥
(स्कन्दपुराण का० पू०)

जो चलते, खड़े होते, जप और ध्यान करते, खाते-पीते, जागते-सोते तथा बात करते समय भी सदा गङ्गाजी का स्मरण करता रहता है, वह संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है। विभिन्न पुण्यनदियों के माहात्म्य पुराणों में पाये जाते हैं, परन्तु गङ्गा की महिमा कितनी अधिक है, इसी से इसका अनुमान लगाया जा सकता है। भव के जीवों को भवसागर से पार करने की अद्भुत शक्ति गंगा में भरी पड़ी है। इनके दर्शन, स्पर्श, पान, नामोच्चारण तथा स्मरणमात्र से ही प्राणी सब पापों से तत्काल मुक्त हो जाते हैं। सिंह-दर्शन से जिस प्रकार मृग भाग जाते हैं, उसी प्रकार गंगा-तटवासी प्राणी से पाप भी डरकर भाग जाते हैं। सचमुच गङ्गास्नान की महिमा विलक्षण ही प्रतीत होती है।

भगवान विष्णु शिव के ताण्डव नृत्य एवं सामगान से आनन्दमग्नावस्था में जलमय हो गये। उनके दाहिने पैर के अँगूठे से जलधारा वह निकली। जब ब्रह्माजी ने यह देखा तो उन्होंने उस जल को अपने कमण्डलु में भर लिया। विष्णु-चरण से उत्पन्न हुई यही धारा गंगा के नाम से प्रसिद्ध है।

चिरकाल के पश्चात् जब कपिल मुनि के शाप से राजा सगर के साठ हजार पुत्र भस्म हो गये, तब अनुनय-विनय करने पर मुनिवर ने उनके उद्धार का उपाय वताते हुये कहा कि यदि गङ्गाजी मृत्युलोक में आवें तो उनके पावन जल से उन सबका सहज ही उद्धार हो सकता है। मृत्युलोक में गङ्गाजी को लाने के हेतु राजा सगर और उनके अनेक वंशजों ने घोर तप किया, किन्तु सफलता नहीं मिली।

अन्ततोगत्वा राजा भगीरथ ने अपने घोर तप द्वारा प्रसन्न करके ब्रह्माजी के कमण्डलु में निवास कर रहीं गङ्गाजी को पितरों की सद्गति के लिये भू-लोक में भेजने का वरदान माँगा। ब्रह्माजी ने 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति प्रदान कर दी। गङ्गाजी ने भगीरथ को पृथ्वी पर आने का वचन प्रदान करते हुये कहा कि 'मेरा अत्यन्त तीव्र वेग होने के कारण मैं पृथ्वी को पार कर पाताल लोक में चली जाऊँगी। भगवान शिव ही मेरा वेग रोकने की सामर्थ्य रखते हैं। अतः वेग रोकने के लिये तुम उन्हें पहले प्रसन्न करो। वे अपने मस्तक के बल रोक मेरा वेग सकते हैं।

गङ्गाजी की आज्ञा से महाराज भगीरथ भगवान् शिव को प्रसन्न करने के अभिप्राय से कैलास पर्वत पर जाकर घोर तप करने लगे उनके तप से शिवजी प्रसन्न हुये और वरदान द्वारा गङ्गाजी के वेग को रोक लेने का उन्होंने वचन दिया। शिवजी से वरदान पाकर जब भगीरथ ने गङ्गाजी से मृत्युलोक पदार्पण करने के लिये प्रार्थना की तो गङ्गाजी ने अपने वेग से भगवान् शिव को भी पाताल ले चलने का विचार किया। शिवजी ने गङ्गाजी के अभिप्राय को समझ लिया और जब गङ्गाजी अत्यन्त

प्रबल वेग से उनके शीश पर गिरीं तो शिवजी ने योगशक्ति से वेग को रोककर उन्हें जटा-जूट में विलीन कर दिया। चिरकाल तक शिवजी वेग की शान्ति के निमित्त गङ्गाजी को जटा-जूट में ही रोके रहे, पृथ्वी पर एक बूँद नहीं गिर सकी।

जटा-जूट में ही गङ्गा विलयन के दृश्य से व्याकुल होकर राजा भगीरथ ने पुनः शिव-स्तुति की। शिवजी प्रसन्न हो गये और उन्होंने गङ्गा की एक बूँद छोड़ दी, जो 'विन्दुसरोवर' के नाम से विख्यात है। भारत की भूमि में गंगाजी ने भगीरथ के बताये मार्ग से प्रवेश किया।

मार्ग में राजा भगीरथ के पीछे-पीछे गङ्गाजी चल रही थीं। रास्ते में पड़ने वाले विशाल वृक्षों और पर्वतों को अपने प्रबल वेग से गङ्गाजी बहाकर ले जा रही थीं। उसी मार्ग में जह्नु मुनि का आश्रम पड़ा। वे यज्ञ कर रहे थे। उनके यज्ञ की सम्पूर्ण सामग्री गङ्गाजी की वेगवती धारा में बह चली। इससे जह्नु मुनि अत्यन्त क्रुद्ध हुये और अपने तपोबल से उन्होंने गङ्गाजी को अपनी गोद में समा लिया। जब भगीरथ ने मुनिवर से काफी अनुनय-विनय की तो उन्होंने अपने जानुदेश द्वारा गंगाजी को पुनः प्रकट किया। इसी के कारण जाह्नवी और जह्नुनन्दिनी भी गङ्गा के नाम हैं।

तत्पश्चात् गङ्गाजी अनेक तीर्थों में होती हुई भारत को पवित्र करती हुई अन्त में गङ्गासागर तीर्थ में जा मिलीं। यहीं पर राजा सगर के साठ हजार पुत्र भस्मीभूत हुये थे। महाराज भगीरथ द्वारा पृथ्वीलोक में आने के कारण ही गङ्गा भागीरथी कही जाती हैं।

अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहनो हि यथा दहेत्।
अनिच्छयापि संस्नाता गङ्गा पापं तथा दहेत्॥

(स्कन्दपुराण का० पू०)

अर्थात् जैसे विना इच्छा के भी स्पर्श करने पर आग जला ही देती है, उसी प्रकार अनिच्छा से भी अपने जल में स्नान करने पर गङ्गा मनुष्य के पापों को भस्म कर देती है। जैसे वज्र का मारा हुआ पर्वत सैकड़ों टुकड़ों में विखर जाता है, उसी प्रकार पापों का समूह गंगा के स्मरणमात्र से शतधा विचूर्ण हो जाता है। गंगास्नान के लिये तिथि, नक्षत्र और पूर्व आदि दिशा का विचार नहीं करना चाहिये, क्योंकि गङ्गा में स्नान करने मात्र से समस्त सञ्चित पाप का नाश हो जाता है।

अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादिकृतं च यत्।
अभक्ष्यभक्षजं दोषं दोषमस्पर्शजं तथा॥
ज्ञाताज्ञातकृतं नित्यमिन्द्रियैर्जनितं च यत्।
तत्सर्वं नाशमायाति गङ्गास्नानेन तत्क्षणात्॥

(ब्रह्मपुराण)

अर्थात् दुराचार, असत्य भाषण, अभक्ष्य भक्षण तथा अस्पृश्यस्पर्श से होने वाले तथा ज्ञाताज्ञात अवस्था में किये गये समस्त पातक भी गंगास्नानमात्र से नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण देवता और पितर गंगाजी में सदा वर्तमान रहते हैं। जैसे मन्त्रों में ओंकार, धर्मों में अहिंसा और कमनीय वस्तुओं में लक्ष्मी श्रेष्ठ हैं एवं जिस प्रकार विद्याओं में आत्मविद्या और स्त्रियों में गौरी देवी उत्तम हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थों में गंगातीर्थ विशेष माना गया है। जो गंगाजी के तट पर जाकर एक वार भी पिण्डदान करता है वह तिलमिश्रित जल के द्वारा अपने पितरों का भवसागर से उद्धार कर देता है।

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गातोयेषु तिष्ठति।
तावद् वर्षसहस्राणि स्वर्गे लोके महीयते॥

(स्कन्दपुराण)

अर्थात् जितने क्षणों तक मनुष्य की हड्डियाँ गङ्गाजल में रहती हैं, उतने सहस्र वर्षों तक वह स्वर्गलोक में निवास करता है। चार सहस्र कोस की दूरी पर रहने वाले पापी मनुष्य भी गङ्गा-स्मरण से परम पद को प्राप्त होते हैं।

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥

गङ्ग सकल मुद मङ्गल मूला।
सब सुख करनि हरनि भव शूला ॥

(रामचरितमानस)

मनोवैज्ञानिक परामनोविद्या में क्यों रुचि लें ?

डा० भीखनलाल आत्रेय, एम०ए०, डी-लिट्०, दर्शनाचार्य, पद्मभूषण

(गताङ्क से आगे)

विचार-संक्रमण एक तथ्य है और अब प्रश्न यह उठता है कि हम भौतिकविज्ञान, जीवविज्ञान तथा मनोविज्ञान के ज्ञात नियमों से इसकी व्याख्या कैसे कर सकते हैं ? विचार-संक्रमण किस तरह होता है, यह अब तक अज्ञात और अनिर्णीत है। इसकी बेतार के संदेशों से तुलना करने पर पहिला सुझाव यह मिलता है कि शायद प्रेषक का मस्तिष्क एक तरह की शक्ति उत्पन्न करता होगा जो किसी भौतिक माध्यम में से होकर तरङ्गों के रूप में उपलब्धिकर्ता के मस्तिष्क में पहुँचती होगी। इस परिकल्पना के विरुद्ध कई आपत्तियाँ हो सकती हैं जिनमें से कुछ ये हैं—विकीर्ण शक्ति (radiant energy) के जितने भी प्रकार अब तक विज्ञान को ज्ञात हैं वे सब 'विलोम वर्ग' के नियम (law of inverse square) का अनुसरण करते हुये पाये गये हैं अर्थात् आगे बढ़ती हुई तरंगों के रूप में जब वे अपने उद्गम के चारों ओर फैलते हैं तब उद्गम से दूरी के वर्ग के अनुपात में उनका बल क्षीण होता जाता है। इस प्रकार काफी दूरी पर तरंगों का प्रभाव बनाये रखने के लिये उद्गम को अत्यधिक बल की आवश्यकता होगी। किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है कि प्रेषक को दूरस्थ विचार-संक्रमण पर किये गये प्रयोगों में अत्यधिक प्रयत्न करना पड़ता है। वस्तुतः सफल विचार-प्रेषण में दूरी का कोई अन्तर नहीं पड़ता। विचार-संक्रमण अत्यधिक दूरी पर भी उतना ही निर्बन्ध और प्रभावपूर्ण होता है

जितना कम दूरी पर। ऐसे बहुत से दृष्टान्त हैं जिनमें मरणासन्न व्यक्तियों ने जिनके अन्दर बहुत कम शक्ति बच रहती है, सफलतापूर्वक अत्यधिक दूर अपने विचारों और अनुभूतियों को प्रेषित किया है। फिर, जब कोई विकीर्ण शक्ति आकाश से गुजरती है तो माध्यम में वह कोई प्रभाव उत्पन्न करती है। लेकिन अत्यधिक सूक्ष्म उपकरणों से ढूँढ़ने पर भी मस्तिष्क-शक्ति का माध्यम पर ऐसे किसी प्रभाव का चिह्न नहीं प्रतीत हुआ। शरीरविज्ञान या अवयवविज्ञान को अभी तक मानव-मस्तिष्क के अन्दर किसी भी प्रेषण या ग्रहण करने वाले अंग का पता नहीं चला। पुनः, यदि विचार, अनुभूतियाँ और इच्छायें तरङ्गों के रूप में आकाशस्थ किसी भौतिक माध्यम में से प्रेषित होतीं तो उनका तरंग-रूप में परिवर्तन किसी निश्चित संकेत-पद्धति (code) के अनुसार होता। लेकिन, प्रायोगिक या स्वाभाविक विचार-संक्रमण में प्रेषक या उपलब्धिकर्त्ता के द्वारा ऐसी किसी संकेत-पद्धति का इस्तेमाल होता हुआ नहीं देखा गया। विचार-संक्रमण की भौतिक परिकल्पना के आधार पर यह समझना बहुत मुश्किल है कि दुनियाँ में रहने वाले असंख्य मस्तिष्कों में से एक विशेष मस्तिष्क ही क्यों किसी अन्य मस्तिष्क के द्वारा प्रेषित संदेश को प्राप्त करता है। इस तरह की कठिनाइयों के कारण इस क्षेत्र में काम करने वालों को विचार-संक्रमण के विषय में यह भौतिक या शारीरिक सिद्धान्त जिसे सर विलियम क्रुक्स ने सर्वप्रथम सन् १८९८ में ब्रिटिश असोशियेशन फार एडवान्समेंट आफ सायंस के सभापति-पद से दिये गये भाषण में प्रस्तुत किया था, छोड़ देना पड़ा। अब विचार-संक्रमण को एक विशुद्ध मानसिक या आध्यात्मिक घटना माना जाने लगा है, जो अब तक मनुष्य को अज्ञात भौतिक और शारीरिक नियमों से ऊँचे नियमों के द्वारा शासित होती है। कुछ एक तरह के मानसिक सादृश्य (affinity) में विश्वास करने लगे हैं, कुछ एक तरह के आध्यात्मिक गुरुत्वाकर्षण में और कुछ एक तरह के सब मनों में व्याप्त विराट् मन में। किन्तु ये सब विचार वर्तमान मनोविज्ञान के लिये विजातीय और अरोचक हैं, जो इन विचित्र तथ्यों के अनुसार अपने सिद्धान्तों को बदलने की अपेक्षा इनकी सत्ता से भी इन्कार करता है और वह भी बिना कोई प्रयोग किये।

मनोविज्ञान के लिये विचार-संक्रमण से भी अधिक समस्याजनक प्रेत-बाधा (possession) है जिसे परामनोविद्या में समाधि-व्यक्तित्व (trance-personality) भी कहते हैं। इनकी चाहे जो व्याख्या हो, फिर भी वास्तविक और अलौकिक दृष्टान्त तो इनके मिलते ही हैं। मनोवैज्ञानिकों का कर्तव्य है कि इनकी जाँच और व्याख्या करें और यदि सामान्य और असाधारण मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से इनकी व्याख्या नहीं हो सकती, तो वे अब ऊर्ध्वसाधारण मनोविज्ञान कहलाने वाले विज्ञान के नवीन और पर्याप्त सिद्धान्त सूत्रबद्ध करें। प्रो० विलियम जेम्स ने एक आश्चर्यजनक माध्यम मिसेज पाइपर (Mrs. Piper) को ढूँढ़ निकाला था जो समाधि (trance) में पहुँच जाया करती थी और समाधि-अवस्था में जिसके जरिये कुछ अन्य बिल्कुल भिन्न व्यक्ति अनुसन्धान-कर्त्ताओं से वार्तालाप कर सकते थे। वह उच्चकोटि की समाधि में पहुँचने वाली माध्यम थी और बहुत कुछ उसी की आध्यात्मिक शक्तियों के कारण अनुसन्धानकर्त्ताओं का एक बड़ा समूह आत्मवाद के प्रामाण्य में विश्वास करने लगा। मिसेज पाइपर के बारे में प्रो० विलियम जेम्स ने लिखा, "वह समाधि में ऐसी बातें जान लेती है जो वह किसी भी सम्भव उपाय से जाग्रत अवस्था में नहीं सुन सकती थी।" डा० हौज़सन (Hodgson) जो कि एक बड़े सूक्ष्मदर्शी और सन्देहशील विचारक थे, मिसेज पाइपर के मामले का अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "इसके अलावा मैं किसी बात के ऊपर सन्देह नहीं कर सकता हूँ कि मुख्य संदेश-प्रेषक वही व्यक्ति थे, जिनके होने का वे दावा करते हैं, कि मृत्यु के बाद भी उनका अस्तित्व है और कि मिसेज़ पाइपर के समाधिस्थ शरीर के द्वारा उन्होंने हम जीवित लोगों से सीधे वार्तालाप किया है।" समाधि में पहुँचने वाले अन्य अच्छे माध्यम भी हुये हैं जिनमें मिसेज़ ओसबोर्न लियोनार्ड (Osborne Leonard), मिसेज़ विलेट (Willet), मिस वीराल (Verall) तथा मिसेज़ हौलैण्ड (Holland) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने समाधि में पहुँचने वाले व्यक्तित्वों (trance-personalities) के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान को काफी बढ़ाया है।

समाधि के तीन मुख्य प्रकार हैं :—(१) वह समाधि जिसमें माध्यम की साधारण चेतना लुप्त हो जाती है और एक गौण शक्ति उसका स्थान लेकर माध्यम के ज्ञान और गति-सम्बन्धी व्यापारों पर अधिकार कर लेती है। वाणी और लेख द्वारा अधिकार करने वाली चेतना से आनेवाले संदेश प्रायः किसी मृत व्यक्ति के समझे जाते हैं। जब समाधि के सब अवसरों पर गौण व्यक्तित्व एक ही रहता है, तो उसे माध्यम का नियामक 'control' (भारत में 'देवता') कहते हैं। बहुधा नियामक अन्य मृत व्यक्तियों से सम्पर्क करने के लिये मध्यस्थ बनने का दावा करता है, जो पृष्ठभूमि में रहते हैं और संदेश-प्रेषक कहलाते हैं। (२) कभी-कभी संदेश-प्रेषक नियामक को हटा देता है और सीधे माध्यम के शरीर से काम लेता है। (३) एक तरह की दुर्लभ समाधि ऐसी होती है जिसमें माध्यम पूरी गोष्ठी (seance) में अपनी चेतना को कायम रखते हुये लिखकर या बोलकर संदेश देता है जो मृत व्यक्तियों से आये हुये समझे जाते हैं। मनोविद्याविदों ने इन सभी प्रकार की समाधियों का सतर्क होकर अध्ययन किया है, लेकिन इनके रहस्यों के बारे में उनका मतैक्य नहीं है। हम विविध मतों के पक्ष और विपक्ष की युक्तियों के विस्तार में नहीं जायेंगे, बल्कि केवल समाधि-व्यक्तित्वों (trance-personalities) के तथ्यों की व्याख्या करने के कुछ प्रमुख तरीकों तथा उनके दोषों का उल्लेख करेंगे।

—(क्रमशः)

शुकताल की एक छोटी-सी घटना

स्वामी नारायणानन्द तीर्थ

अनुमानतः आज से प्रायः पाँच हजार छह सौ वर्ष पहले की बात है। भगवान् श्रीविष्णु के चरणकमलों से निकली पतितपावनी माता भागीरथी गंगा महारानी के आनन्दमय तट पर अवस्थित शुकताल के टीले के ऊपर जिस वटवृक्ष की सुशीतल छाया में बैठकर पाण्डुकुलोद्भव महाराज परीक्षित ने परमत्यागमूर्ति ब्रह्मनिष्ठ व्यासनन्दन श्रीशुकदेव महाराज के मुखारविन्द से सात दिन के अन्दर सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत नामक महापुराण, जिसको लोग परमहंससंहिता भी कहा करते हैं, सुनकर देह परित्याग करने के पूर्व ही परम पवित्र ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था उसी अति पुरातन तथा अतिशय-पुनीत स्थान पर इस साल (१९६१) परम स्नेहमयी श्री श्री माता आनन्दमयीजी की उपस्थिति में द्वादश संमय-सप्ताह-महाव्रत का अनुष्ठान किया गया। इस अवसर पर श्री श्री माताजी के तीव्र आकर्षण से सुदूर बम्बई से महामण्डलेश्वर श्रीमत् स्वामी महेश्वरानन्दजी महाराज तथा श्रीमद्भागवत के मर्मज्ञ और प्रवीण वक्ता तथा अखिल भारतवर्षीय साधुसमाज के सभापति श्रीमत् स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज पधारे थे। श्रीधाम वृन्दावन से आये थे त्यागमूर्ति श्रीमत् कृष्णानन्द अवधूतजी तथा रामानुज सम्प्रदाय के आचार्य और सुपण्डित श्रीचक्रपाणिजी महाराज। वाराणसी से आये थे मातृ-गत-प्राण पण्डित-शिरोमणि महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डी-लिट्० महोदय। कलकत्ते से ब्राम्ययोगाश्रम के प्रतिष्ठाता पण्डित योगेशचन्द्र ब्रह्मचारीजी, एम० ए० आये थे तथा भारत के भिन्न भिन्न प्रदेशों से आये थे माताजी के सैकड़ों भक्त और सन्तानगण।

९ से १५ नवम्बर १९६१ के शुभ ब्राह्ममुहूर्त में जब जागने के लिये घंटी बजाई जाती थी, उसी के साथ साथ सब आये हुये सज्जन अपनी अपनी शय्या छोड़कर उषाकीर्तन में सम्मिलित होने के लिये सभामण्डप में उपस्थित हो जाते थे। उसके पश्चात् शौच, स्नान तथा सन्ध्यावन्दनादि से निवृत्त होकर सुबह आठ बजे से नौ बजे तक परम आदरणीय श्री श्री माँ की अतिशय आकर्षक भावघन मूर्त्ति के सम्मुख धूना, चन्दन और गुग्गुलादि से परिशोधित तथा सुगन्धित वातावरण में बैठकर अपने अपने इष्टदेव के जप और ध्यान में तल्लीन हो जाते थे। इस तरह एक घण्टा ध्यान करने के अनन्तर आश्रम में प्रतिदिन समवेतस्वर से श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीदुर्गासप्तशती (चण्डी) और उपनिषद् का पाठ होता था। पाठ समाप्त होने पर महात्माओं तथा आये हुए सज्जनों के धार्मिक विषयों पर प्रवचन हुआ करते थे।

प्रातःकाल के सदृश फिर तीसरे पहर तीन बजे से चार बजे तक पवित्र परिवेश में तथा श्री श्री माताजी की करुणादृष्टि के सम्मुख बैठकर सब व्रती भाई-बहिन अपने अपने इष्ट के चिन्तन और ध्यान-जप में डूब जाते थे। उसके पश्चात् पुराण-पाठ और महात्माओं के आध्यात्मिक विषयों पर भाषण सायंकाल छह बजे तक होते थे। इसके बाद सब लोग अपने अपने नित्य सायंकृत्यादि समाप्त कर आश्रम के सायंकालीन नित्य भजनादि में सम्मिलित होने के लिये सभामण्डप में उपस्थित होते थे। यह कार्यसूची समाप्त होते ही फिर रात्रि को सात बजे महामण्डलेश्वर श्रीमत् स्वामी महेश्वरानन्दजी महाराज अद्वैत वेदान्त के गम्भीर विषयों पर सुन्दर सुन्दर भावपूर्ण भाषण देते थे। श्रोता लोग भी बड़े चाव के साथ सुनते थे। इसके बाद आरम्भ होता था वृन्दावन के भाव-रसिक और श्रीकृष्ण-लीला वर्णन में सुचतुर, प्रवीण वक्ता श्रीमत् स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज का भाषण। आप अपनी स्वभावसुन्दर तथा सरल और मनोमुग्धकर भाषा में संयम-साधन तथा श्रीश्यामसुन्दर की लीला की व्याख्या करते थे। स्वामीजी किसी दिन श्रीकृष्ण की बाल-

लीला, किसी दिन माखन चोरी, किसी दिन चीरहरण, किसी दिन रासलीलादि विषयों पर नये नये भावों का प्रकाश डालकर श्रोताओं को मुग्ध कर देते थे। जिस समय आप व्रज की लीला का वर्णन करते थे उस समय सभामण्डप श्रोतागणों से भर जाता था और वे लोग इतना मन लगाकर सुनते थे कि अपनी सत्ता तथा समय का परिमाण भी भूल जाते थे। उन लोगों के सम्मुख ही वृन्दावन में लीला हो रही है ऐसा मालूम होता था। ऐसी ही उनकी बोलने की शैली है। इस प्रोग्राम की समाप्ति के साथ ही साथ आश्रम के पौने नौ बजे का मौन का घण्टा बजता था तथा सब बिजली की बत्तियाँ बुता दी जाती थीं और उपस्थित जनता अपनी अपनी आँखें मूँदकर श्रीभगवान् के स्मरण में बैठ जाती थी।

मौन के पश्चात् आधा घंटा मातृ-सत्संग में व्यतीत किया जाता था। यह थोड़ा सा समय केवल मात्र श्री श्री माताजी के साथ दिल खोलकर बातचीत करने के लिये निर्दिष्ट था। माँ के जितने भी सन्तान वहाँ उपस्थित हुए थे सभी बिना किसी संकोच से अपने साधन, भजन तथा आध्यात्मिक जीवन की समस्या के बारे में प्रश्न करते थे। माताजी भी अपनी स्वाभाविक सुन्दर और मधुर भाषा में उन प्रश्नों के उत्तर देती थीं। इस अतिशय स्वल्प समय के लिये सभी दिन भर उत्सुक रहते थे। इस तरह संयम-महाव्रत का सप्ताह काल लगातार दैनिक कार्यसूची का अनुष्ठान करते हुए समाप्त हुआ।

१५ नवम्बर को इस कठोर संयम-सप्ताह के सात दिन व्यतीत हुए। फिर उसी रोज से श्रीमद्भागवत के सप्ताह पारायण की आनुष्ठानिक पूजादि क्रिया और माहात्म्य का मूल पाठ तथा व्याख्यान प्रारम्भ हुए थे। इस बार इस पुण्य तीर्थ में भागवत का सप्ताह-पारायण इलाहाबाद के सुप्रसिद्ध हाईकोर्ट के वकील (जो वर्तमान काल में दिल्ली सुप्रीमकोर्ट में वकालत कर रहे हैं) श्रीगोपालस्वरूप पाठक की त्याग और वैराग्य में परमनिष्ठावती कन्या कुमारी शान्ता पाठकजी ने कराया था। आप इलाहाबाद

विश्वविद्यालय की एक सुशिक्षित उच्चकोटि की महिला हैं। संसार की अनित्यता जानकर, आप बहुत ही अल्प अवस्था में जागतिक सब सुखभोगों को त्यागकर, साधन-भजन में आत्मनियोग कर श्री श्री माँ के चरणों में आश्रय ले जीवन को सार्थक कर रही हैं। संसार के सुखभोग तथा आराम में लालित-पालित होते हुए भी इस कम उम्र में त्याग के मार्ग में आना सचमुच बहुत ही आश्चर्य की बात है। यह श्री श्री माताजी की ही अपूर्व आकर्षण-शक्ति का प्रभाव है, इसमें कुछ भी संदेह का अवकाश या गुञ्जाइश नहीं है।

प्रातःकाल मूल भागवत का पाठ पण्डित श्रीअग्निष्वात्त शास्त्री (वाटुदा) करते थे और हिन्दी भाषा में दोनों समय भागवत की व्याख्या करते थे दण्डी स्वामी श्रीविष्णुआश्रमजी महाराज। यद्यपि पहले यह बात तय हुई थी कि भागवत-व्याख्या श्रीमद्भागवत के मर्मज्ञ तथा सुवक्ता श्रीमत् स्वामी अखण्डानन्दजी ही करेंगे, परन्तु आपका स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण अन्त में यह कार्य स्वामी श्रीविष्णुआश्रमजी को ही करना पड़ा। आप भी सुवक्ता तथा भागवत के पण्डित हैं। आपकी व्याख्या भी श्रोताओं को बहुत ही रोचक लगती थी। सुबह साढ़े आठ बजे से साढ़े ग्यारह बजे तक और शाम को फिर ढाई बजे से साढ़े पाँच बजे तक यह व्याख्या चलती थी।

पहले मैंने यह विचार किया था कि मूल श्रीमद्भागवत का पाठ ही शुरू से आखिर तक सुनूँगा। परन्तु जब मुझे ज्ञात हुआ कि यह प्रातःकाल सात बजे से प्रारम्भ होगा तब मैंने यह विचार छोड़ दिया, क्योंकि इतने सवेरे अपने प्रातःकृत्यादि से निवृत्त होकर पाठ में बैठना मेरे लिये सम्भव न था—यद्यपि मैं बहुत ही सवेरे उठता हूँ। तब मैंने निश्चय किया कि दोनों समय अर्थात् सुबह और शाम को संन्यासी के ही मुखारविन्द से भागवत-व्याख्या सुनूँगा। श्रीभगवानजी की असीम कृपा तथा श्री श्री माताजी की अपार करुणा से प्रथम चार दिन दोनों समय मैं ठीक

समय पर पाठ में जा बैठता था। पाँचवें दिन सायंकाल जब मथुरा में राजा कंस की मल्लभूमि (अखाड़ा) में चाणूर के साथ श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज तथा मुष्टिक के साथ श्रीबलरामजी के मल्लयुद्ध (कुश्ती) की व्याख्या हो रही थी उसी समय एक सज्जन आकर श्रोताओं के बीच में बैठ गये। उनके साथ और भी एक आदमी था। स्वामी श्रीविष्णुआश्रमजी महाराज ने व्याख्या करते करते ही उस सज्जन को व्यासगद्दी के पास विशेष आसन पर बैठने के लिये संकेत किया। आप भी स्वामीजी के इशारे पर वहाँ से उठकर मञ्च के ऊपर यथास्थान बैठ गये। उसी समय हम लोग सब समझ गये कि आप स्वामीजी के परिचित तथा कोई विशेष व्यक्ति हैं। स्वामीजी ने थोड़े समय के लिये अपना व्याख्यान बन्द कर कीर्तन करने का आदेश दिया। इस तरह कीर्तन करवा कर व्यास लोग बीच बीच में थोड़े समय के लिये विश्राम ले लेते हैं। उसी अवसर में श्रीविष्णुआश्रमजी मुझे बुलवाकर और उस सज्जन को दिखाकर बोले आप मेरे विशेष परिचित तथा संस्कृत के भी बड़े पण्डित हैं तथा आप खुर्जा में अध्यापक भी हैं। आप खुर्जा से यहाँ माताजी के दर्शन के लिये आये हुए हैं। यदि आप इन्हें इस समय माँ का दर्शन करा दें तो बहुत ही अच्छी बात हो। पण्डितजी अभी माँ से मिलकर फिर खुर्जा चले जायेंगे। आपके साथ के आदमी आपके ही शिष्य हैं।

स्वामीजी की इस बात पर मैं बहुत ही मुश्किल में पड़ गया। मैंने सोचा था कि मैं भागवत की व्याख्या आदि से अन्त तक सुनूँगा। अगर मैं अभी इस सज्जन को लेकर माँ के पास जाऊँ तो मेरा पाठ सुनना खण्डित हो जायेगा। अगर न जाऊँ तो स्वामीजी की आज्ञा का पालन न करने से शिष्टाचारविरुद्ध कर्म हो जायेगा। सामने ऐसा कोई मनुष्य भी नजर में नहीं आया कि जिसके साथ पण्डितजी को मातृ-दर्शन के लिये भेजता। इच्छा न रहने पर भी शिष्टाचार के अनुरोध से, अतिशय दुःख के साथ, मैं श्रीकृष्णलीला का व्याख्यान छोड़कर पण्डितजी को लेकर मातृ-दर्शन को चल पड़ा। उनके साथ उनके शिष्य भी थे। उन दोनों को साथ

लेकर जब मैं मण्डप से माँ के रहने के स्थान की ओर चला तब सीढ़ी चढ़ते समय ही रास्ते में माँ की एक सेविका के साथ भेंट हुई। उससे पूछने पर मालूम हुआ कि माताजी अपने कमरे में लेटी हुई हैं। दो मञ्जिल पर चढ़कर जब हम तीनों माँ के निवास स्थान के समीप पहुँचे तब फिर दूसरी और एक सेविका से मिले जो कि प्रायः सब समय माँ की सेवा में रहती है। उससे भी पूछने पर उसने माँ के विश्राम में विघ्न न पड़े, इसलिये बहुत ही धीमे धीमे स्वर से कहा कि माँ सोई हुई हैं—अभी उठने का कोई भी लक्षण दीखता नहीं है। मालूम हो रहा है कि माँ घोर निद्रा में हैं।

मैं तो निराश होकर केवल यही सोच रहा था कि माँ कब सोने से उठेंगी? माँ के न उठने से पण्डितजी का मातृ-दर्शन किस तरह से सम्भव होगा? उनको माँ से न मिलाकर मैं भी पाठ में नहीं जा सकता। इस तरह की परिस्थिति में मैं माँ के चरणकमलों में केवल यही प्रार्थना कर रहा था कि माँ कब उठेंगी और ध्यान देकर यही सुन रहा था कि मण्डप में कीर्तन समाप्त हुआ या नहीं? स्वामीजी का व्याख्यान शुरू हुआ या नहीं? श्रीभगवान से अति दीनभाव से मैंने यही निवेदन किया कि हे भगवान! आज इस तरह से मुझे आपकी मधुर लीला से वञ्चित होना पड़ा और मेरा पाठ सुनना इस प्रकार से खंडित हो गया है, इसलिए मैं मन ही मन बहुत ही दुःखित हूँ।

इस तरह मानसिक उद्वेग की परिस्थिति के बीच जब मैं समय व्यतीत कर रहा था उसी समय करुणामयी माँ श्री श्री आनन्दमयीजी, जो घोर निद्रा में थीं, अकस्मात् अपने विस्तर से उठते ही एकदम हम तीनों के सम्मुख छत पर आकर खड़ी हो गईं। आपकी दोनों आँखें लाल और निद्रालुभाव से ओतप्रोत थीं। देखने से यही मालूम हो रहा था कि माँ की निद्रा पूरी नहीं हुई। हम लोग साधारण जीव निद्रा में तमोगुण के कारण अपनी चैतन्यशक्ति खो बैठते हैं।

परन्तु श्री श्री माताजी के बारे में यह लागू नहीं हो सकता। क्योंकि आप जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय तथा तुरीयातीत सब अवस्थाओं के परे हैं। आप घोर सुषुप्ति में रहते हुए भी हम लोगों की प्रार्थना सुनती हैं इसका एक उदाहरण आज इस तरह से मिल गया। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज अर्जुन से कह रहे हैं :—

> तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
> प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ (१४।८)

हे अर्जुन ! सब देहाभिमानियों के मोहने वाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न हुआ जानो, वह इस जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बाँधता है।

श्री श्री माताजी के चरणों में प्रणाम कर मैंने निवेदन किया—माँ, यह सज्जन स्वामी श्रीविष्णुआश्रमजी के विशेष परिचित हैं तथा आपके दर्शन के लिये आये हैं। आप खुर्जा के संस्कृत विद्यालय के एक अध्यापक हैं तथा बहुत बड़े पण्डित हैं। पण्डितजी ने भी माँ को भूमिष्ठ होकर प्रणाम करते हुए निवेदन किया कि माँ, आपके बारे में मैंने सोलन के ज्योतिषी श्रीहरिदत्त तिवारीजी से बहुत कुछ सुना है तथा वहाँ से प्रकाशित पञ्चाङ्ग में भी आपका चित्र देखा है। परन्तु इतने दिनों तक साक्षात् रूप से आपका दर्शन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ था। आज आपका दर्शन कर मैं धन्य हो गया। माँ ने एकाएक अपनी कुटिया के भीतर स्वयं ही जाकर पण्डितजी को एक गीता तथा आपके साथ के आदमी को एक गीता और विष्णुसहस्रनाम लाकर दिया। पण्डितजी ने माँ को प्रणाम करते हुए कहा—माँ, आप शक्तिरूपिणी स्वयं महामाया हैं। माँ, आप मुझे शक्ति दीजिये ताकि मैं गीता द्वारा प्रदर्शित मार्ग में चल सकूँ।

मैंने भी माताजी से निवेदन किया कि माँ, मैं केवल यही सोच रहा था कि आप कब उठेंगी। आपके न उठने से मैं पाठ में नहीं जा सकता था,

क्योंकि स्वामी श्रीविष्णुआश्रमजी ने इस सज्जन को आप के दर्शन के लिये भेजा है। इनको आपके बिना दर्शन कराये मैं कैसे पाठ में जाता? क्योंकि ऐसा करना शिष्टाचार-विरुद्ध होता। मैंने यही विचार किया था कि सम्पूर्ण भागवत की व्याख्या सुनूं, परन्तु बीच में यह कारण उपस्थित होने से मेरा वह संकल्प खंडित हो गया। भगवान् की कृपा बिना उनकी कथा नहीं सुनी जाती है। इस बात पर श्री श्री माताजी ने कहा यह शरीर बिस्तर पर पड़ा हुआ था। अकस्मात् उठने का ख्याल हुआ, इसलिये एकदम बाहर आ गई।

इस कारण मन ही मन मैंने माँ को आन्तरिक धन्यवाद देकर बिना कुछ कहे सुने ही शीघ्र से शीघ्र सभामण्डप में जाकर देखा कि तब भी कीर्तन चल रहा है। स्वामीजी अपने व्यासासन पर चुपचाप बैठे हुए थे, क्योंकि वैद्युतिक प्रवाह (Electricity) बन्द हो जाने से माइक (Microphone) काम नहीं कर रहा था। मेरे जाकर पाठ में बैठते ही वैद्युतिक प्रवाह (Electricity) चालू हो गया, माइक (Microphone) चलने लगा और साथ ही साथ स्वामीजी ने भी अपनी व्याख्या जहां पर छोड़ी थी वहीं से फिर प्रारम्भ कर दी।

यहाँ थोड़ा विचार करने की बात है। उधर श्री-श्री माताजी भी असमय में अपनी निद्रा पूरी होने के पहले ही उठ पड़ीं और इधर वैद्युतिक प्रवाह बन्द होने से माइक (Microphone) रुक गया और साथ ही साथ स्वामीजी ने भी अपना व्याख्यान बन्द कर दिया। यदि दोनों घटनाएँ एक साथ संघटित न होतीं तो सम्पूर्ण भागवत की व्याख्या सुनने की मेरी अभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकती थी। श्रीमद्भागवत श्री श्री भगवान्‌जी की ही वाङ्मयी मूर्ति है। भगवान् और भागवत वास्तव में अभिन्न हैं अर्थात् एक ही हैं। मेरे श्री श्री माँ तथा श्री श्री भगवान् से अलग-अलग प्रार्थना करने पर भी दोनों प्रार्थनाओं का फल एक ही स्थान से आया। श्री श्री माँ, श्री श्री भगवान् तथा श्री श्री भागवत वस्तुतः एक ही वस्तु हैं। नाम भिन्न-भिन्न होने पर भी

वास्तव में वस्तु एक ही है। इसी कारण राजस्थान मारवाड़ के परम भागवत श्री नाभाजी महाराज ने अपने एक पद में गाया है—

भक्ति, भक्त, भगवन्त, गुरु चतुर्नाम वपु एक।
जिनके चरण वन्दन से नाशें विघ्न अनेक॥

ये चारों नाम पृथक्-पृथक् होने पर भी वस्तुतः चीज़ या वस्तु एक ही है। दक्षिणामूर्ति के स्तोत्र में भी इसी तरह की बात दूसरे ढंग से कही गई है। यथा :—

ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः॥

The ONE who is the Eternal, the Atman,

His Himself is the traveller on the path of Immortality,

He is all in all, He alone is.

MATRI VANI

He who yearns for God will find Him, and for the man who has found Him death dies. One should look forward to the vision of God which is the death of death and endeavour to let one's mind at all times be engrossed in activities or practices that may prepare one for such a vision. You do not know in what shape or manner God Himself is with you. Ever try to spend all the twenty-four hours in the contemplation or remembrance of the Supreme Being, in the repetition of God's Name or the study of books of wisdom. By some realization, by a divine mood or appearance, even by tears shed in longing for Him, the One at times makes His Presence felt. Endeavour to keep your mind anchored in the thought of Him, and in readiness to experience His touch in all forms and modes of being. The day that is gone returns not. Try to make the best use of every precious moment, being ever intent on the Realization of your own Self.

* * *

God is the support of the helpless. Time cannot pass in one way only. Abide in patience. Just as when having tumbled down, one rises up again by supporting oneself on the very ground to which one has fallen, even so—never remain without Him. Pray to your *Iṣṭa* for His revelation. When asking for worldly goods, happiness and comforts, one will be disappointed time and again; this only creates distrust in one's *Iṣṭa* and in God. But to pray to God for His own sake and to the *Iṣṭa* for His revelation, leads to peace and faith.

* * *

Aiming at liberation and peace, spend as much time as possible in the contemplation of God. Man's body is the result of his actions in former births and therefore it is but natural that he should have to endure all kinds of suffering and disease. Let your mind ever dwell on the One by the remembrance of whom all pain and sorrow are healed.

* * *

He who would find Immortality must at every moment try to look upon all things as manifestations of the Supreme Being. The search after Truth is indeed man's duty, so that he may attain to THAT which is immortal.

* * *

Not to have the guidance of a competent Guru is indeed detrimental—this is certainly very true.

Conversations with Sri Sri Anandamayi Ma

PROFESSOR B. GANGULY

(Translated by Atmananda)

(8)

Ranchi Ashram,
21st May, 1958.

Question : What does "*Guru seva*" (the service of the Guru) mean ?

Mataji : To obey the *Guru's* instructions without reasoning.

Question : To me the Name and the One whose name it is seem different ; how can they become one ?

Mataji : In the indestructible* Brahman there is no division. God Himself is present as the Name. Just as the seed and the tree are one, so are the mantra and the *Iṣṭa*. The tree is contained in the seed. If the seed *mantra* is implanted in the heart, the *Iṣṭa* will be revealed. When a seed has been sown, it must not be taken out of the earth and looked at, or shown to anyone. Similarly the seed *mantra* should not be disclosed to others, since it thereby loses its power. If kept concealed and tended in the heart, the reality underlying the Name or *mantra* will become revealed. Then He who is indestructible will be realized as the Name. By suitable practices the Name or seed *Mantra* has to be fostered ; keeping it hidden within one's heart, the mantra has to be repeated regularly every day according to the prescribed rules. Thereby the One will finally be realized in all forms.

---

* A play upon words : '*Akṣara*' means indestructible as well as letters of the alphabet. Therefore the Indestructible and the Name are one.

Question : May the *mantra* not be disclosed even to a realized Being ?

Mataji : Why should it ? Since by telling him the *mantra* one would become his Guru. However, when it is necessary to correct the mantra or clear up doubts, then an opportunity for this arises on occasions.

Question : If the meaning of the *mantra* is not understood, will the *japa* bear fruit ?

Mataji : The fruit of the *japa* will be reaped, but not the result of understanding its meaning. If the meaning is understood, the result will be still better.

Question : What does "*mantra caitanya*" (*a mantra* that has become alive) signify ?

Mataji : When the One blazes forth as the reality that underlies the *mantra*, then the *mantra* has become alive.

Question : Is bestowal of the *Guru's* power identical with the *Guru's* Grace ?

Mataji : The words are different—but essentially they signify one and the same thing. Power is bestowed by the Guru's Grace.

Question : What is the significance of a *mantra* ?

Mataji : This is explained in detail in the *S'āstras*. By the regular and sustained repetition of the mantra, its significance may of itself become revealed.

Question : If all of us are *Brahman* in any case, why should we have to accept a Guru ?

Mataji : Why do you ask ? Because you are in doubt. "*I am Brahman*"—if this has become knowledge beyond the possibility of doubt, who can be called whose *Guru* ?

Question : Does the *Ātmā* become divided or not ? In what sense does the *Ātmā* become united to the *Paramātmā* ?

Mataji : When the *jīvātmā* is united with the *Paramātmā* they become one. When a pitcher of water is emptied into the ocean, the water remains water ; only it is then not called pitcher—water but sea-water. It is similar when the *jīvātmā* is united to the *Paramātmā*.

Question : Why should the fruit of one's actions in this birth be reaped in another birth by another body ?

Mataji : All bodies in the world are indeed your bodies. Only you are unable to realize this. You perform actions with your present body and reap some of the fruit in this body and some portion of it remains over. Birth after birth the results of your actions are experienced in different bodies.

Man's life must be oriented towards finding Himself. To find one's Self means to find God.

The day that is gone will never return. Do not waste precious time.

"Ma"

Pages from my Diary

GURUPRIYA DEVI

(Translated from Bengali)

27th May 1957.

After the birthday celebration at Ahmedabad, Mataji has come to Poona via Bombay about three days ago. This morning a few of us were sitting in Mataji's room up to eleven. At that time Sri Dilip Kumar Roy*, together with some devotees and disciples arrived for Mataji's *dars'ana*. Attired in the ochre robe, with a yellow cap on his head, a silk shawl printed with sacred names slung round his shoulders, his forehead adorned with a mark of a new style, his whole appearance was bright and pleasing. We were meeting him again after a considerable number of years, but no special change was noticeable in his features.

Srimati Indira was also accompanying him. Dilip Kumar introduced her to Mataji in the following manner: "Ma, she is the daughter of your devotee Kriparāmji of Dehradun. Her actual name is Janak Kumari. I have called her 'Indira'. She has two sons. The elder one is studying engineering in Bombay and the younger one stays with his mother and studies at home. Her husband is also an engineer. From time to time he comes here."

---

*The famous singer Sri Dilip Kumar Roy. Formerly he used to live in the Sri Aurobindo Ashram. At present he resides in his own newly built Ashram at Poona.

We had already heard of Indira. She also was dressed in a yellow sari. Her face was ever smiling. After bowing to Mataji, she sat down near Her.

Sri Dilip Kumar said : "Mataji, you must please come to our place one day."

Mataji : *Bābā*, don't you know, that this body has not entered the home of any householder for the last so many years. (Dilip Kumar and his party are at the moment putting up in Sir Chunilal Mehta's house.)

Dilip Kumar : There is a consecrated image in the house. What wrong can there be in entering it ?

Mataji : Nothing wrong, surely, Baba. But such has been the way of this body for many years. Everyone knows it.

On hearing that Mataji never enters a householder's home, Srimati Indira's feelings seemed somewhat hurt. She said to Dilip Kumar in English : "*Dada*, how is it the home of a householder, since you are staying there !" Mataji caught the meaning of her words and said : "*Baba*, although at present no householder is living there, yet there was before you came and there will be again after you leave."

After a short pause, Mataji continued : "All the same, nowadays it does occur at times that a householder's home is converted into a temple or an ashram, and on such occasions, provided that no householder will occupy the house in future, this body has quite a few times been taken to a place of this type."

Dilip Kumar expostulated : "I remember having seen you in a householder's home in Calcutta."

Mataji said laughingly : "No, *Baba*. At Calcutta there are some families who, in their loving kindness have built a separate room or cottage for this body. Those rooms or cottages are never occupied by any householder, and this body does not have to pass through a householder's home in order to get to those rooms or cottages. You must have seen this body in a place of this type."

The conversation went on in this strain for a little while, then Mataji addressed Dilip Kumar thus : "*Baba*, you have such a beautiful voice. Won't you sing to us ?"

Dilip Kumar at first objected, remarking that nowadays he would sing only before the consecrated image of a deity, and that he would not make any exceptions even in special cases. However, Mataji Herself had requested him to sing. Therefore, after consulting Srimati Indira, it was decided that they would today sing their evening *bhajan** in Mataji's presence. They stayed for a little longer and then took leave.

---

* *Bhajan*—religious songs.

Before dusk a car arrived from Dilip Kumar's residence. At 7·30 sharp he started the *bhajan* together with his party. He first chanted the *Guru Pranāma*, then the *Nirvānastakam Stotram* and the hymn to *Bhavāni* with an extremely sweet voice. Then he sang his own compositions of songs about Srī Krishna's *Līlā*.

At 8-45 p.m. silence is observed for 15 minutes wherever Mataji happens to be. The *bhajan* ended exactly in time for the silence. Dilip Kumar sat down near Mataji's feet, saying: "This short time I shall spend at Ma's feet."

After the silence, he said, pointing to the women who had come with them: "They are all Indira's disciples. They do their *bhajan* together with her."

A little later they all left by car.

31st May, 1957.

After dusk we all sat in Mataji's room. The conversation was about some *Siva Linga* that Yogibhai (the Raja of Solan) had brought from the banks of the Narmada river. One of those *linga* had been consecrated in Yogibhai's *Siva* temple at Hardwar. The remaining three had last year been installed in our Vrindaban Ashram. In this connection we also talked about the *Mahātma* whom Mataji had seen in his subtle body at Rameshwaram, during Her tour to South India. While this conversation was going on, a wire arrived announcing the death of Yogibhai's stepmother at Solan. Mataji remarked : "Look, the *Māhtāma* who had been seen in his subtle body on our pilgrimage to the South, was the son of the priest of Chidambaram. Fifteen or sixteen generations ago, one of Yogibhai's ancestors had been born in the family of that priest."

After saying this much, Mataji remained silent. The thought entered my mind that the *Māhātma* who had been seen in his subtle body was related to Yogibhai's family. Mataji does not always make things clear. When the time is ripe some more may be disclosed.

I remember something else : Mataji was lying on Her bed. I sat by Her side, fanning Her. Mataji opened Her eyes and said : "Look, Didi, I am seeing a very large open space with a number of houses scattered over it. These houses are all occupied by sick people. In the centre a spacious hall is to be erected, and for this purpose Swami Paramānanda has been sent for. He is standing there with a copybook in his hand." This was all that Mataji said. The significance of Her words has so far remained unexplained. But I wondered whether in future a hospital or something of the sort would not be built in Mataji's name, of which Mataji had seen a vision today.

At night Mataji was sitting on Her couch in silence. Kaniabhai* asked Mataji hesitatingly : "Mataji, please tell us what kind of a life a householder should lead !"

---

* Sri D. I. Kania is the son-in-law of Sir Chunilal Mehta of Bombay. Kaniabhai and his whole family are greatly devoted to Mataji.

Mataji replied with a very soft voice : "You see, the *Brahmacharya* Ashram is not observed anymore, and for this reason all the other Ashrams cannot either be lived as they should be. Unless the foundation is solid a house cannot be built. Ashram means "*a–shram*" absence of strain. Again, everything except God causes strain. Where else can one be at ease but in Him ? Even a householder, provided he does all his work as a service to the Supreme Being, lives in a regular Ashram. The husband should be regarded and served as the Lord of the Universe, the son as *Balgopal* (the child Krishna), the wife as a manifestation of *Mahāmaya*. You say, do you not : 'Wherever a man is, there is *Siva*, and wherever a woman, there is *Gauri*.' Rather than being the master of this world, be its servant. For one who is the master there will be endless complications and quarrels, but if you can become its servant, there will be none. Thus, feel that this world belongs to God and you are but his server, acting according to His commands. If you live in this spirit, then even while in the *grihastha ashram* no new bondage will be created by your actions. You will only reap the fruit of your *prārabdha karma*.* What fear can there be for a family man who ever keeps this in mind ? The Almighty will take care of everything."

June, 2nd, 1957.

This morning, after the reading of the Scriptures, Sriman Tapan asked Mataji :

---

* That portion of one's past actions, which is bound to fructify in the present life and cannot be averted.

"Please tell us something that will be conducive to our spiritual welfare ! "

Mataji : To endeavour to know himself is man's bounden duty. To know oneself means to know God, and to know God means to know oneself. Not until one has found God can there be an end to sorrow. In order to realize God one should be exclusively engaged either in the repetition of His Name, in singing His praises, or in the contemplation of Him. Apart from this there is no path to salvation.

A little later Mataji continued : *Satsang** and the study of Scriptures and books of wisdom are also helpful on the Path. This body maintains that sense objects (*viṣai*) are poison (*viṣ hai*). By indulging in sense enjoyment one gradually advances towards death—it is comparable so what is called 'slow poison.' And moreover one has to purchase a 'return ticket' and come back to this world. Therefore this body tells you again and again that you should give as much time as you possibly can to the thought of Him. Time does not stand still."

Soon after this discussion Sri Dilip Kumar Roy, Srimati Indira and their party arrived. They had been invited to have their lunch here to-day.

5th June, 1957.

At Mataji's request I sent some sweets, which our

---

* *Satsang* The company of sages, saints and seekers after Truth; also a religious meeting, or in its widest sense the practice of the presence of God.

Ashram girls had prepared, to Dilip Kumar house this afternoon. In the early evening, Dilip Kumar and Srimati Indira came and said to me laughingly: "Didi, you have made yourself unforgettable. How many delicious things you got prepared and sent to us. Can one forget this easily ?" This evening we have been invited to their place together with Mataji. They had come to remind us once again of this.

At 7-30 p.m. we all arrived there punctually. Sitting arrangements had been made in the open air. On the top of a staircase a solitary *āsana* had been placed for Mataji. They had invited many distinguished personalities of Poona to have Mataji's *darśana.* Sādhu Vasvānijī was also to be present, but due to illness was unable to come. Sri Vasvānijī had Mataji's *darśana* some time ago at Varanasi. He is well known in many parts of India.

In expectation of Sri Vasvaniji's visit, the evening programme started with some delay. As soon as Srimati Indira came and sat down, Dilip Kumar started the *bhajan.* First of all reciting the *Guru pranāma*, a song to Sri Krishna, then one to Siva and again one to Sri Krishna followed, after which he sang one of Indira's compositions in Hindi that had been translated by him into Bengali. The words, the melody and the rhythm of the song were in complete harmony with its idea. It was quite uncomparable. Then *Nāma kīrtana* was performed for five minutes, followed by *āratī.*

After *āratī*, Dilip Kumar spoke in English about Mataji.

The gist of it was: Mataji is now very renowned, both in India and in many places abroad. Many men and women have been helped by Her to tread the path that leads to Peace. So many years ago when he met his *Gurudeva* Sri Aurobindo for the first time, he had heard him say that many had attained great heights by doing *sādhana* and had for themselves realized Supreme Bliss. But to find a Being who could communicate this Bliss to others and bring them real Peace was difficult indeed. Among this type of supermen or superwomen Mataji is quite unique.

In this strain he talked very beautifully for about 15 or 20 minutes. When after the silence at 9 p. m., Srimati Indira began to perform Mataji's *ārati*, Mataji objected with the words: "Do *ārati* to your *Guru*." But Indira did not listen and completed Mataji's *ārati* with much devotion.

On taking leave, I said to Srimati Indira: "We have not yet heard you sing !" Dilip Kumar exclaimed: "Yes, all right. Indira will sing to you and Didi will give us sweets !" With great mirth and laughter Mataji was seen into the car.

With Mataji on the Bank of the Gomati River

(II)

KRISHNANATH

It now seems appropriate to mention some of the anecdotes from Mataji's life, which She Herself related from time to time when reminded; some of these have a miraculous quality, but Mataji told them as if they were ordinary happenings.

Once a young woman of about 20 or 22 asked for Ma's help in her devotional practices. As there was a large crowd at the time, Mataji told her to see Her in private afterwards, but did not get a chance to talk to her. After a few days the girl came and said Mataji had appeared to her in a dream and whispered a Mantra into her ear. She repeated it and it was in pure Sanskrit though the girl was illiterate. When she dreamt, Mataji had been thinking of her. Mataji then asked her not to eat meat in the months of वैशाख, श्रावण, कार्तिक, and माघ. The girl said she had already given up eating meat, though everyone else in her home ate it.

In another place Mataji said to a very dark girl of 12 or 13 who came to see Her, 'You want the necklace, don't you?' and asked Udas to bring that. When it was brought and given to the girl, everyone was surprised to see that it was a string of valuable pearls, which had been presented to Mataji a few days previously by the Rani of Sirmur! When Mataji was wearing the pearls on Her wrist, She had seen this little girl in the crowd, whispering to her mother that she wanted them. Mataji wanted to give them to the girl at that time, but she had disappeared. Mataji knew that she would come after a few days and had told Udas to keep the string with her and to bring it whenever Mataji would ask for it; that is how the pearl necklace was brought and given to the girl. Later on the girl had come again to show how nice the white pearls looked against her dark skin. Mataji said that when She was living in Ashtagram, there used to be *chamaras* (low caste people who clean dead animals' skins) dwelling nearby and a little girl of theirs used to come and stand at a distance looking at Her. This was about 40 years ago. The little girl who got the necklace was the same low caste girl in a previous birth.

This habit of Mataji' to give away whatever valuable presents She receives, is well-known. I have already related in a previous article how the costly Banaras sari and ornaments received at the end of the Bhagavata Saptah were bestowed on the sweeper woman. As for smaller gifts like sweets, fruits, flowers or garlands, they are given away immediately. Referring to this, Mataji once humourously remarked that She noticed how the face of the donor becomes smaller and smaller as She started distributing his offering. "To placate him I ultimately leave one and say, I have kept this; but it is only for the time being." Dr. Pannalal told us two stories in this connection. Once some students had brought an expensive garland for Her and as usual She immediately gave it away. The students said, 'We wish you had worn it at least for ten minutes to please us.' Mataji replied, 'If I am to wear it for ten minutes to please you, will you do whatever I tell you to please me?' There was dead silence–nobody dared to say, yes, for fear that She might ask them something they would not be able to fulfil. On another occasion, when Mataji was going away by train, Dr. P. had brought for Her some very costly choice oranges and told Gurupriya Didi to hide them under the berth till the train started, so that Mataji might not give them away. Mataji was not told anything about this, but just as the train began to move She put Her hand under the berth, took out the oranges and started throwing them to the people on the platform. Those who often go for Mataji's *darsan* are familiar with Her way of throwing fruit and other things into the crowd for people to catch, and they know how good She is at it.

We learnt one day from Gurupriya Didi that Mataji's munificence had earned for Her in Naimisharanya the reputation of being the Goddess of Wealth incarnate. A lady who arrived at the camp that day had heard the coolies at the station saying that a Mataji had come who was an *Avatar* of Laxmi—She gives away gold thrones and *ashrafies* (gold coins) ! Mataji laughed when She heard this and told us that for the Bhagavata Saptah She had enquired what was prescribed in the Scripture to be given as *Dān*. On hearing that it was 12 tolas of gold, She had asked one fourth of it, i. e. 3 tolas to be used to give a gold polish to a silver throne on which the sacred book was to be placed for reading. This was given away to the *purohit* at the end, and people thought it was a gold throne. I forget what Ma said about another three tolas, but the remainder was given away in the form of a gold *ashrafi* to each of the 108 readers. No wonder Mataji seemed Laxmi incarnate to poor people who had never seen so much gold being distributed.

In the course of his discourse on the Narada Bhaktisutra, Dr. P. was once talking about how महापुरुष (great saints) come to the help of their devotees and in this connection he told two stories about Mataji. She had once gone in a boat to the other bank of the Ganga and a devotee on this side wanted to join Her. He jumped into the river and started to swim across, but when he had reached half way, began to drown. There was no one to rescue him but he cried out to Ma and suddenly, apparently from nowhere, a boat appeared and saved him. On another occasion, Ma's great devotee, Bhaiji, while drowning in Banaras, was pulled out by an old woman who waded into the river. At that time Ma was actually in Dehradun and those near Her saw, to their surprise, that Her clothes were dripping wet.

Another story was told by Mataji Herself about how one of her devotees had once made up his mind to die at Her feet and for this purpose taken a very large dose of opium and eaten sweets thereafter to make the poison more deadly; when he was quite sure he could not be saved, he came and lay clinging to Mataji's feet. Even though nobody was aware at the time that he had taken poison, Mataji somehow kept him awake through the rest of the night. In the morning there were all sorts of difficulties in transporting him to the hospital and getting medical aid, but these were all somehow surmounted and he was saved against all odds.

One morning while Dr. P. was talking about the relinquishing of the fruit of action, Mataji laughed loudly at some idea that had struck Her. She would not say what it was that made Her laugh; but quoted the saying, "प्रशंसा प्रतिष्ठा, सूकरी विष्ठा" which condemns hankering after praise and position. Dr. P. said there was nothing he did, which was not for earning praise; Ma remarked it required courage to admit this, but somebody pointed out that what Dr. P. had said might itself be for the sake of evoking praise!

One evening Didi Gurupriya gave us a leaflet in Hindi issued in the name of Ma's devotees entitled, "The Perpetual Remembrance of God." It is a scheme for continuous round-the-clock meditation by a relay of persons, each choosing a fixed period of 15 minutes any time, night or day, for engaging in meditation wherever he or she may be. Ma explained that about 20/25 years ago when the Harijan uplift movement was started a great *yajña* was performed. At that time Ma thought that while performance of a *yajña*, as laid down in the scriptures, was all right, something more should be done for the general public. She realized that it was impossible for any-one to give all 24 hours to the contemplation of God, not even 3 hours, and for a गृहस्थ (house-holder) even one hour might be difficult. So She decided upon 15 minutes, and began asking everyone, whatever his caste, creed or religion, to give 15 minutes every day to God, observe ***Maun*** (silence), and take God's name, wherever and whatever condition he was in. She would demand this from Her followers and from strangers ask it as charity. Some people selected a particular time and observed ***Maun*** (silence). Later the practice started of everyone observing silence between 8-45 p.m. and 9 p.m. and this is now the rule in all Ma's Ashrams and wherever Ma is. Recently Dr. Gopinath Kaviraj had suggested the present idea of having people join in a regular scheme of a chain of continuous unbroken meditation. In such an arrangement the weak would also get help from what the others were doing. We were asked to join the scheme and when I expressed the fear that one might sometimes forget the time, Mataji narrated the following true story: There was a man who himself was the disciple of a great Saint but whose daughters were followers of Mataji. He did not like their talking about Ma and said, "Why do you say Miau like a cat?" He had a favourite cat which used to sleep in his bed. One night this cat scratched him badly in the face. After that he came to see Mataji and agreed to observe the 15 minutes' silent meditation at a particular time. Once when Mataji was sitting with several people round Her asking questions, this man who was present, suddenly felt disinclined to ask or say anything or even to listen to what was going on. He looked at his watch and found that it was his time for *Mauna*.' And so, Ma said, if you make up your mind, you will be reminded somehow. (Inspite of this assurance I must admit that I have not yet had the courage to join the scheme by taking up a fixed time, as I find that my time keeps on changing. Mateji's devotees may be interested and get a copy of the leaflet from Shri Panu Brahmachari, Sri Ma Anandamayi Ashram, Bhadaini, Varanasi).

The time was approaching when I would have to leave for Bombay and it was also getting colder and more uncomfortable in the tent every night. So I decided one morning to ask for Mataji's permission to go, but before I could say anything, Mataji Herself said to Sri Pragnarain's wife that She would leave for Sitapur on the 23rd November, and after spending the night there, go to Lucknow on the 24th. The Pragnarains wanted to arrange for a 24 hour continuous reading of the Ramayana at their home in Sitapur and had requested Mataji to come. So Mataji asked them to start it on the 22nd, so that Ma could be present at its conclusion on the 23rd. Now all this suited me exactly, as I could accompany Mataji up to Lucknow and leave the next day, so as to be in Bombay in time for my business. I almost felt that Mataji had fixed not only the time of leaving, but the whole programme in Naimisharanya and on the bank of the Gomati for my special benefit and to suit my personal convenience. Such is Ma's *Lila*.

After this announcement preparations for departure began in the Camp and some of the Ashramites started leaving in advance for other destinations. Mataji was going to spend some days in Lucknow with Sri and Srimati Rameshwar Sahai and seemed to be eager to ensure that only a few persons were left in Her entourage so as not to be a burden to Her host. It was a pity I could not stay on in Lucknow and accompany Mataji to Banaras and Rajgir, where also, everybody later told me, Ma continued to be in the same jolly mood and was easy of access. At Rajgir there was the additional treat of listening to Dr. Gopinath Kaviraj on the enlightenment of the Buddha and His teachings. If I had continued with Ma, I might have derived more lasting benefit; the beneficial effects of Naimisharanya soon wore away, and it seems now as if I had then something within reach which I allowed to slip away.

The day before we were to leave the Gomati bank, Mataji, who generally speaks about spiritual matters only in answer to questions, said of Her own accord that she wanted to tell us some thing. 'You have lived in this holy place and you must take back with you something good from it. Decide not to tell an untruth under any circumstances. If the situation is such that you cannot speak the truth, keep quiet, but do not depart from your vow. God is truth and to reach God you must be truthful.' She then related a story of a man whose Guru gave him a *Mala* and told him to wear it and never to tell a lie. He observed this for one year. Then there was a quarrel between him and his wife and she went away to her father's place in a huff. When she did not return for a long time, he sent word to her that if she wished to see her husband alive, she should return by such and such a date. The wife asked the messenger what was the matter with her husband's health and was told that there was nothing wrong with him. So the wife thought she would go in her own time. When she did not come back on the day specified by him, the man died. By observing truthfulness for one year he had acquired the power that whatever he said had to come true.

Before I take up the last day's account, I might mention an episode that has led to my signing this article as

'Krishnanath'. One day as I was enteringM ataji's cottage, I heard Her asking Dr. Pannalal and Mrs. Sahai, 'Why do you call him 'Ambe'? Hasn't he got a name?' I intervened and said, 'Yes, Ma. My name is Krishnanath.' Mataji then declared that I should be called Krishnanath, and so I have decided to use this name here also.

In a previous article I have described what a grand function the Bhagavata Saptah at Naimisharanya was, when the Bhagavata was read by 108 Pandits. When narrating the history of the events leading up to the holding of this Saptah, Ma also told us that She had desired that, since the Puranas were originally composed at Naimisharanya, some arrangements should be made for the reading of the Puranas during the Bhagavata Saptah. Brahmavarta Purana was selected for the purpose as it was thought that it contained a reference to Naimisharanya. Nobody had however remembered to bring the Purana and curiously enough not a single copy was found even at Naimisharanya where the Puranas had been compiled. Ma then asked Swami Avadhutji to make arrangements for the reading of the Purana and it was sent for from one of the Ashramas. Mr. Modi arrived providentially at that time and his car was available for this purpose. The man who went to get it looked only at the first part of the title and brought Brahmanda Puran instead but, it turned out to be the right Purana in which Naimisharaya was referred to. Actually only a little while after Mataji had asked Avadhutji, a Pandit had turned up with a copy of the Purana, and if he had come earlier it would have been unnecessary to get it from the Ashram. Avadhutji gave the Brahmanda Purana to Bharat

Bhai and, starting from the full-moon day when the Bhagavata Saptah was concluded, he read a little portion of it every day while Mataji was staying on the bank of the Gomati.

This arrangement would have come to an end with Mataji's departure, but the Raja Saheb of Solan and others had suggested that there should be some permanent memento of the great functions held at Naimisharanya and from this had originated the idea of setting up one Purana temple there. A beautiful site on the Hanuman Tila was selected, and after looking through the village records maintained by the Patwari and consulting the Tahsildar it was decided that it would be best to acquire the plot through land acquisition proceedings, so as to leave no room for future litigation by other claimants. It was suggested that a building should be constructed there for daily public reading of the Puranas, and that it should be called the 'Purana Mandir'. And thus Ma's visit and the functions at Naimisharanya were to be commemmorated by a resuscitation of the ancient tradition and thus reviving the knowledge of the Puranas which are gradually being forgotten. As however it would take a considerable time before the project could materialise, Mataji suggested that in order to avoid a break in the reading, which had been started, it should be continued in the meanwhile in the cottage on the river bank which Mataji had been occupying. Accordingly, a Shastri was engaged for the purpose and a formal inauguration of the reading by him was performed on the morning of the 23rd November, the day of Mataji's departure.

As usual in the Ashram, everything was æsthetically arranged for the occasion. A beautiful picture of Vishnu Bhagavan was hung up on the wall to provide an audience when we would have all left. (This was one of those delightful devotional touches which Ma gives to impart a feeling of reverence and sanctity to a ceremony). Dr. P. and I had been asked to be the first audience, but all the other inmates of the Ashram also attended. (We were in all 9 inside the cottage and 9 on the verandah and thus we conformed to the lucky number 9 and also the number 18 of the Puranas. Omitting the Shastri inside and Ma outside, we were 8, 8, and tradition refers to 88000 Rishis practising penance in Naimisharanya). The Shastri was dressed in the colourful yellow garments, incense was burnt and the Ashram girls sang two Bhajans. At 9 A.M. exactly Bharat Bhai did the Arati and then handed over the sacred book to the Shastri as a symbolical gesture of the continuity of the mission, which Ma had first entrusted to Avadhutji from whom it had come to Bharat Bhai. The Shastri had a charming way of reading the Sanskrit text and of explaining it in Hindi. The portion he read was a description of भूगोल और खगोल (universe). After finishing at 9-30 A. M., the Shastri told us that the Brahmanda Purana was the first Purana and so the reading had commenced in the proper order, though this was fortuitous. It was also lucky that the month was मार्गशीर्ष about which the Lord has said in the Bhagavad Gita, "मासानां मार्गशीर्षोऽहं ।" The day, Wednesday, and the Hindu date पंचमी (fifth) were also auspicious. So in every way it was a good start and it may be hoped that the Purana reading will go on continuously and the scheme of the Purana Mandir will soon be a reality.

At about noon a party arrived from Lucknow. It was headed by Brahmachari Mohanananda, a fair, handsome saint with an oval face and a long, dark beard. The other people in the party were also Mataji's devotees. Mataji seemed very happy and joked and laughed with all of them. Some of the Bengali ladies sang *bhajans* (devotional songs).

Everything had been packed by 2-30 p. m. I travelled in Mr. Singhals car with the Irrigation Executive Engineer, Sri Bishambhar Dayal and had a sumptuous tea at his house on reaching Sitapur. We then went to Sri Prag Narain's house where Ma had come directly to attend the conclusion of the Akhanda Ramayana. There was a terrific crowd and we could not go inside. Dr. P. who had travelled with Mataji came out and we took him to Sri Dayal's house for tea. When we returned with him to the house of Sri Sripal Singh where Mataji was staying, we heard that She had been making anxious enquiries about Dr. P. as he had gone away without informing Her and She was afraid he might have been hurt in the crowd. This is an example of Ma's loving care for everyone.

Sri Sripal Singh had had a special room built for Ma in his compound. In it was a statue of Mataji made by an amateur sculptor ; the angry look he had given to Her was inexplicable, as no one has never seen Ma getting angry ; there was only a slight resemblance to what Ma might have looked like some years ago but Mataji was quite amused to see the statue. There was also a very beautiful though awe-inspiring picture of Kali as *Mahishasur-Mardini*. Everybody admired it and I think it was sent with Mataji to the Varanasi Ashram.

In the evening the usual singing of Kirtans took place in the Pandal erected in the compound; there was a large crowd and the Bhajans were not very successful as they could not be heard by all. The customary *Mauna* between 8-45 and 9 p. m. was however very effective and the talk which Ma gave afterwards was particularly illuminating and will serve as a fitting end to this chronicle. It was Dr. Pannalal, acting for the last time as our Shaunak Muni, who asked the question, 'Where is the time in the modern struggle for existence to take God's name?' In reply Mataji spoke for nearly half an hour which is quite unusual. The following is the gist of what She said :—

'Man's struggle for existence does not give him the three things he is seeking after, namely : सुख, (happiness), शांति (peace) and आनन्द (bliss). These can be found only in Him. You must try to realize your Self, which is the same as realizing Him. You must give up दुर-बुद्धि, (the feeling that He is far away from you) and thus getting into दुर्गति (a state of separateness from Him). You can easily devote a little time morning and evening to the taking of His name, in spite of all your occupations. But apart from this you can take God's name at other time also, in whatever condition you may be : God's name is holy and purifies everything. God will manifest Himself to you in the form you worship. If you see God in everything, distinctions like मेरा और तेरा (This is mine, that is yours) will disappear'.

JAI MA.

The Background of our Letters

U. C. Dutt

(II)

In dealing with the background of our letters, we shall try to peep into the constituents of the Absolute (*Parama Shiva*), the final source of the entire creation in its pure forms, the elements of 'being' as different from those of 'becoming', with the help of seers of Agamas to whom many secrets of the transcendent Reality were revealed.

An idea about *Vāk, Nāda, Bindu and Kalā* is indispensable for the understanding of letters. *Vāk* is the same as *Shabda* or "Word". It comes from the root *Vāch* (Latin Vox) which means to speak. *Parā Vāk* is the causal stress which is the cosmic Ideation (*Sristi Kalpanā*) of *Ishvara. Pashyanti Vāk* actually going forth as *Ikshana* (seeing), manifesting as *Sukshma Madhyama Vāk*—the *Mātrikā* state of *Shabda*, prior to its gross manifestation as the *Varnas* in speech—*Vaikhari Vāk.*

In the transcendental quiescent or *Parama Shiva* there is neither *Shabda* nor *Artha* nor *Pratyaya*. There is neither name nor form. In the infinite calm there arises a metaphysical point of stress or *Bindu* which stirs forth as the multiple forces of the universe. This energizing is the cause of the world experience with its duality of subject and object. (Woodroffe)

The notion of the "word" is very ancient. God speaks the Word and the thing appears. God said : "Let there be light" and there was light. The Word has creative power. At the *Pashyanti* stage *Shabda* and *Artha* are identified. Thus we have the Supreme and the Logos, *Brahma* and *Shabda-Brahma.* The Logos is the self-presentation of God. "In the beginning was the Word and the Word was with God and the word was God". The same idea is expressed in the Veda-Prajapati. *Vāk* is thus the power of the Brahman and one with It. This *Shakti* which was in Him and with Him evolves into the form of the universe, still remaining what It is. It has appeared as *Jivas* and various forms of matter. The substance of the whole world is *Vāk* (*Jagat Vāngmaya*), for the world is *Shabda Prabaha.*

"Prajapati alone was the universe. He had *Vāk* too as His own, as a second to Him." (35th Br. Upanishad xx-14-2).

"By that *Vāk* and that *Ātmā* He created all things whatsoever, the Vedas, metres, sacrifices and all creatures." (Br. Upanishad).

Shiva has two aspects, namely *Nishkala* (without parts), *Nirguna* (without attributes) and *Sakala* (with parts), *Saguna* (with attributes). The first is the manifested, transcendent Supreme and the second the manifested and immanent

Creative Lord (*Ishvara*). The first is *Nishpanda* (without movement) for it is the eternal, changeless Brahman. It is *Ashabda*, without sound, being unmanifest. The other aspect is called *Shabda Brahman* which appears from Brahman, the equilibrated condition of *Shakti*. It produces all kinds of *Shabda*. It is in itself *Avyakta* (unmanifested) *Shabda* which is the cause of *Vyakta* (manifested) *Shabda*, *Artha* and *Pratyaya*. It rises up from the form of *Bindu* which is the undifferentiated *Shiva-Shakti*. With such activity *Bindu* becomes threefold as *Shabda*, *Artha* and *Pratyaya*.

Nāda is said to be the *Maithun* or union of *Shiva* and *Shakti*. The *Shakti-Tattva* is really the negative aspect of the *Shiva-Tattva*. It is the will of Shiva as yet unmanifested. When they commence to act, the first movement towards creation takes place. After the restful state of *Shiva-Shakti* there follows union for the purpose of manifestation. From this union arises creative ideation. This union and mutual relation is called *Nāda*. *Nāda* is really *Shiva-Shakti*, from which is evolved the whole Universe.

From *Sakala Parameshwara* appeared *Shakti*, from *Shakti*, *Nāda* and from *Nada*, *Bindu*. On the other hand *Nishkala Shiva* is *Nirguna* or the aspect of Brahman which is unconnected with the creative *Shakti*.

Bindu evolves from *Nāda* (*Nādād Bindu Samudbhavati*). Literally *Bindu* means a drop or a point. It is an aspect of *Shakti* or self-consciousness ; here, in *Ishvara Tattva* consciousness completely identifies itself with the object as unmanifested *Idam* and thus subjectifies it and becomes with it a point of consciousness—thus a diffusive point (neither with magnitude nor position). The state was neither *Sat* (existent) nor *Asat* (non-existent).

Nāda and *Bindu* are states of *Shakti* in which the germ of action (*Kriyā Shakti*) increasingly supports with a view to producing a state of compactness of energy ready to create. *Bindu* is said to be the massive state (*Ghanāvasthā*) of *Shakti*.

Kalās are parts or Power. *Shiva* has two aspects: *Nishkala* (without parts or attributes) and *Sakala* (with parts or attributes). The former is in a state called *Unmani*, the latter as *Shakti* is in a state called *Samani*.

Kalā is a particular display of Power or *Vibhuti*. *Kalā* is also one of the *Kānchukas* (enveloping Shakti) that go to the making of the *Purusha*-consciousness.

Shiva is *shunyātishunya* (absolutely void), there is not the slightest trace of objectivity whatsoever. *Shakti*, the objective aspect, then gradually unveils the universe for the consciousness of *Shiva* who is *Prakāsha*, the subjective aspect of things.

It may be noted here that *Shiva* is never without *Shakti*, the two are one and the same, and *Shakti* in Herself is a form of consciousness (*chaitanyarupini*). They are two aspects of *Parama Shiva* (Ultimate Reality), like a serpent at rest and in motion. When they are separated in thought, *Shiva* without *Shakti* becomes *shava* (dead) and *Shakti* without *Shiva* is *achetan* (unconscious). In fact both are conscious, one is passive consciousness and the other is actively self-conscious.

Besides Agamas or Tantras Sufi literature indicates three Journeys of the Divine : (1) Outward Journey from God to man, (2) Inward Journey from Man to God and (3) Journey within God towards the Unmanifested. In the first, God uses His own power of ignorance and becomes man, passing through the stages of matter, life and mind. In the second, man returns to God by acquiring true knowledge of Self or God. In the third, the divine stuff after Self-realization moves towards the unfathomable abyss of the Supreme and stops at a point, bewildered. Some of the highly spiritual Christian mystics too have distinguished God-head from God, suggesting thereby the possibility of a third Journey. Indian scriptures, particularly Tantras, have made sufficient progress on this line of the third Journey. The present article is a humble attempt at presenting the Tantrik notions of some of our letters as revealed to the travellers of the Third Journey.

The state of *Parama Shiva* has been accepted by the Agamas as the final state of perfection. Here is a synthesis of *Shiva* and *Shakti*, the static and dynamic aspects of Pure Consciousness. *Shiva* is light—consciousness. Everything else receives light from Him. When *Shiva* becomes self-conscious or knows Himself, He becomes *Shakti*. Then begins creation ; creation, preservation and destruction of the universe depend on the working of *Shakti*. At Her initial stage the entire universe is reflected in the total illumination and thus distinguishes Light from shade by a Law of Higher Relativity, as it were. This creation is a mere objectification of the great light, transformed as one Self. This objective side at first assumes the form of utter void (*Sunyam*)' and then manifests itself infinitely at different stages.

Now we shall try to analyse some constituents within *Parama Shiva*. The succession that the analysis points out is not one in time, it is of understanding only.

According to the scriptures, Brahman is *Satchidānanda* (Existence-knowledge-bliss). In fact all the three aspects are one, yet each of them is significant. They can express themselves both independently and collectively. At the deepest layer of perfection none of them can be imagined. Let us call it *Sat* (Pure Existence) from which emanates one *Kalā* or *Shakti* (energy) which Tantriks describe as *Ehit*. It is the first outward impulse of complete Truth. It is called *Anuttar* in Tantra. The vibration of *Chit* operates both outwardly and inwardly. As a result, a part of *Chit* goes out of itself and is followed by another successive impulse of the same kind. The first impulse sees its reflection in the second as in a mirror, and knows itself as Joy, *Ānanda*. *Anuttar* and *Ananda* have अ and आ as their symbols.

Sat-Chit-Ānanda as one undivided whole is revealed as Brahman. But taken separately, *Sat* remains the eternal substratum, *Chit* all alone is cool and indifferent and *Ānanda* in duplicate is blissful due to sporting with itself. "Alone He was not feeling happy, so He divided himself into two." (Br. Upanishad.) It means अ emanated from आ. They are the pre-requisities of creation. "All creatures are born of *Ānanda*" (Shruti). Those who know Brahman enjoy the state of *Ātmārāma*—sports with itself. From the source of *Ānanda* rush out particles of Joy incessantly like sprays from a fountain. There is neither 'in' nor 'out' as in space. The outer state is a mere supposition of a joyless condition. As soon as a particle of *Ānanda* is separated from the original spring, it becomes enclosed in a cover and does no longer feel its inherent joy. Naturally, there is a desire to get it back. The technical term for it is *Ichhā*, the symbol is इ. The object of *Ichhā* (desire) is *Ishtam* which is nothing but *Ānanda*. *Ichhā* is the power to search out *Ānanda*, and it ceases to exist after reaching the goal. The entire creation emanates from *Ichhā*. So there is a sense of mad search everywhere, from atoms and molecules to the solar and the stellar systems. It is an intense desire to recover a lost treasure—*Ānanda*.

(To be continued)

New Diary Leaves

ATMANANDA

(7)

Hardwar, April 1st, 1961.

We are staying at Baghat House, Kharkhari, where the Raja of Solan has built a *dharmaśala* with a *S'iva* temple in the centre. One portion of the building is reserved for Mataji and Her party. So many foreigners come to see Mataji nowadays that, when She gives *darśana* in Her room which is small, it sometimes happens that there are more Europeans than Indians.

To-day at midday, the Maharani of one of the Rajputana states and her daughter were in Mataji's room. A German lady, a youg girl from Switzerland, and myself were called and asked to join them. A little later an American gentleman and another one from Scandinavia arrived from Rishikesh. Six different nationalities had gathered in the small room.

The German lady asked : "Has the mind a limit, and where is the limit ?

Mataji : The limit of the mind is to find the Self.

The Questioner : Is the mind inside or outside ?

Mataji : When the mind remains outside, it wanders here and there ; this is why one should turn it inside so as to find one's Self.

The Swiss girl : How should one meditate ? Is it better to concentrate on some object, say a flower or the like, or should one try to make the mind blank ?

Mataji : There are two methods : one is to concentrate on a Deity, such as *S'iva*, *Kāli*, *Durgā*, *Krishna*, *Rāma* and so forth. This is meant for those who feel attracted to any particular aspect of God. The other procedure is to empty the mind and stand back as a witness. It depends on the temperament and inclination of the person who meditates. However, to keep the mind empty is extremely difficult for the great majority of aspirants. Therefore one may concentrate on the inner light, the light by which all outer objects are also perceived. Even a blind man sees an inner light. Another method is to sit absolutely still and watch the movement of one's breathing. This will steady the mind.

After having said this much, Mataji was called and left the room. The Maharani told us that she had been wanting to ask that very same question about meditation, but had felt too shy to do so. She had therefore hoped that perhaps Mataji would of Her own accord enlighten her on this point. To her great joy she found that the Swiss girl had voiced her question and so the Maharani had received her reply as well. She said, this had happened to her already a number of times when she was with Mataji.

Hardwar, March 1961.

Sometimes letters are read out to Mataji during *darśana* time. A devotee from Germany, who is not keeping good health, had asked among other things, whether it might not perhaps be better to stop speaking and thinking about her ill-health and to ignore it altogether. Mataji replied : "Do as much for your health as is your duty to keep your body fit. But your mind should be engrossed in God."

Kankhal, April 4th, 1961.

A newcomer, an elderly Brahmin by caste, related that he had been living in Hardwar for a number of years, devoting himself to spiritual practices and to *satsang*, for the purpose of attaining to liberation. But inspite of all his efforts he was disappointed to find that no real transformation had taken place. He wanted to know whether, if he was to die in his present condition, he would attain to liberation.

Mataji : If a person lives in a holy place in holy company, spending his days in *sādhana* and inspite of this does not progress as he had hoped, it is due to his intention not being quite pure. This is the reason why, together with the good effects of what he is doing, undesirable things will crop up as well. The influence of the sacred place and the *satsang* are bound to have a beneficient effect, but side by side with it the results of one's bad *karma* have to be experienced. *Karma* will work itself out to the minutest detail. At any rate one should continue steadfastly to exert oneself and persevere in one's determination and efforts. It is said that during the *Kaliyuga* man is so weak that his mental sins are forgiven. He has to bear the consequences only of what he actually does, not of what he thinks—for otherwise there would be no chance at all of attaining to liberation during this *Kaliyuga*.

Question : We are told that if a man dies in Kashi or in certain other sacred places he will be liberated. Is this true ?

Mataji : There is a story of a man who had committed some wicked deeds, but because below the spot on which he died there happened to be a *śalagrām**, the messengers of death had no power over him and he was taken away by the messengers of *Viṣṇu* instead.

Kankhal, April 9th, 1961.

A well-known industrialist asked, what was the sense of calling a doctor and undergoing medical treatment, since everything was in any case ordained beforehand by Providence.

Mataji : The fact of your consulting a doctor and submitting to medical treatment is also part of your fate. Unless you are fated to be cured, the doctor is helpless. But when you are meant to get well, the right medicine will be given and you will recover.

Question : Suppose one has intense faith in God and leaves everything to Him and does not consult a doctor. Can one be cured even so ?

---

* *S'ālagrām* A stone image representing *Viṣṇu*, the Preserver of the Universe.

Mataji : There are two ways : one way is to have intense faith that God will do all that is needed and pray to him to be cured. If one has reached a state of genuine faith it will have the power to bring about the cure. If on the other hand, one's faith is merely superficial, it will not act.

The other way is, not to pray to God for anything, but to leave everything to Him. Then, whether one gets well or not is exactly the same.

Kankhal, April 10th, 1961.

This morning, a lady who had a beautiful voice, was asked to sing. She sang one song in praise of *Rāma* and then kept silent. When Mataji asked her to sing another song, she replied : "Mataji, the flies are disturbing me too much."

Mataji : It is only the 'me', the 'I' that feels disturbed. Let the flies also have some fun !

Poona, June 18th, 1961.

Today Sri Haribabaji Maharaj related to us that Mataji had once explained to him the significance of doing *Namas-*

kāra. It meant to dedicate oneself to one's *Iṣṭa* or to God with all that constituted one's nature at the moment, be it good or bad, one's virtues, vices, capacities, talents, shortcomings, everything ; to offer one's whole being at His Feet. Then, purified by His touch, to receive oneself back, as it were, as His *prasāda*.

Haribabaji further said that the custom of washing one's feet before entering a temple or any other sacred place was symbolic for washing off one's sins. On hearing this it suddenly struck me that the fact that so many people lose their shoes or sandals when coming for Mataji's *darśana* may have a similar significance. I suppose we should be grateful for being deprived of our foot-wear on those occasions, instead of grumbling ?

Poona, July 3rd, 1961.

A *Sannyāsi* asked : It is said that God is all-knowing, all-loving and all-powerful. Why then does he allow so much sorrow and grief to continue in the world that is His creation ? If He were all-knowing and all-loving, but not all-powerful, one could understand ; or if He were all-loving and all-powerful, but not all-knowing ; or even if He were all-knowing and all-powerful, but not all-loving. How can He be endowed with all those three attributes and inspite of it let the misery of the world run its course ?

***Mataji* :** Everyone has to reap the fruit of his actions.

The suffering is for your own best. A mother occasionally gives a slap to her beloved child for his own good, in order to keep him on the right path. God cleanses you from the effects of your actions committed life after life by what you call suffering. When a fond mother gives her baby a bath, the child may scream desperately, yet the mother will not let the baby go until she has thoroughly washed and scrubbed him. Then she will carefully wipe the child, dry his tears and take him on her lap. Likewise, when you have been cleansed, God will comfort you and take you into His arms. Whatever happens in this world is His *Līlā*, His pleasure.

The *Sannyāsi* : Pleasure at all the misery ? Where then is His love ?

Mataji : Who is it that loves and who that suffers ? He alone stages a play with Himself ; who exists save Him ? The individual suffers because he perceives duality. *Duniya** means '*du-niya*' (based on duality) and it is duality which causes all sorrow and grief. Find the ONE everywhere and in everything and there will be an end to pain and suffering.

Poona, July 5th, 1961.

It has been raining almost incessantly for days. This morning Mataji was commenting on this and how sorry She was that people had to take so much trouble in order to be able to get to Her. Then She said : "It is pouring and pouring. If everyone's *bhakti* rained in a similar manner, how wonderful this would be ! It is said that the rainy season is congenial to the feeling of love and devotion for God. In this way even nature can be helpful to *sadhana*. Let your devotion for Him stream uninterruptedly like this rain."

---

* World.

Question : Why does God allow so much suffering in the world ? Ask everyone of the people assembled here, none of them is quite happy, and yet they all long to be.

Mataji : God is teaching you that there are two possibilities. If you desire the things of this world, you will be unhappy ; but by advancing towards Him you will find happiness. This is how he induces you to turn to Him. If you had no troubles or sorrows you would never even think of Him.

Question : Why does God not cause us to move towards Him ?

Mataji : He does, indeed. For it is only by His Grace that you are able to remember Him. But you are not single-minded, you crave for all kinds of things and therefore you remain unhappy. There is a story which aptly illustrates what your position really is.

A *dhobi** kept a few donkeys to carry the clothes he collected for washing. Since he was poor and his house small, he left the donkeys in the open during the night. Often they would wander far away and the *dhobi* had to waste hours in search of them. In his plight, he invented a device that worked admirably well. Every evening he touched the four legs of each donkey with a rope. The donkeys, having felt the touch of the rope on their legs, took it for granted that they had been tied to the spot and thus remained standing in the same place all night long. A similar thing happens in the world. *Māyā* touches you and you imagine yourself to be bound. You think, how can I be without my husband or my wife, my children, parents, my house and comforts and so on. Thus you remain standing where you are, instead of advancing towards Him.

---

* Washerman.

Poona, July 1961.

Every evening Sri Haribabaji Maharaj relates to us a story of a ***bhakta***. One evening Mataji said: "Today this body will tell you the story of a *bhakta*, which it has heard somewhere. While Sri Ramachandra lived in the jungle, he one day went to a lake to drink water. He left his bow and arrow on the shore standing upright, stuck into the earth. When he returned and took out the arrow, he saw that a frog had been pierced by it. "Why did you not complain, when I hurt you so badly ?" he asked. "*Rāma* is my refuge," was the frog's reply. "Therefore, if *Rāma* Himself pierces me with His arrow, to whom am I to complain ?"

Another day, someone, referring to the story, asked:

"Mataji, since Rāma is supposed to have been omniscient, He must have known all along that He had wounded the frog. Why then did he do it, and why did He ask ?

Mataji : It was His *Līlā*. Just as it was His *Līlā* to search for *Sītā* desperately when *Rāvana* had carried her away. Moreover, if he had not asked, how could the frog have given such a beautiful reply ?

"Throughout the twenty-four hours abide in the awareness of the Presence of God. Then only can there be hope of Realization. Who can foresee at what moment He may choose to reveal Himself ? This is why one must ever keep wide awake.

"Ma"

MATRI LILA

15TH OCTOBER, 1961—15TH JANUARY, 1962.

From October 15th to 20th Durga Puja was celebrated at Swadeshi House, Kanpur, at the invitation of Sri Mangturam Jaipuria and his son Sitaramji. Mataji arrived at Kanpur on the 8th of October, at the beginning of *Navaratri*. The Jaipuria family made excellent arrangements, taking endless trouble to make sure that every detail was carried out to perfection. Needless to say, the celebration was a great success, proceeding in a spirit of great harmony and deep joy, inspite of the difficulties caused by the inclemency of the weather. A beautiful pandal which had been erected to start with was blown down by a terrific rainstorm; however a new one with a tin roof was provided at lightning speed.

Devotees flocked from far and near, eager to be with Mataji on this happy occasion. A few foreigners also came for part of the time, among them were Sister Dayamata, the President of the Self-Realization Fellowship with some of her companions from the U. S. A.

On October 19th Mataji left for Varanasi where Lakshmi Puja was celebrated on the 23rd in Her presence. Immediately after She motored to Vindhyachal for a rest after the hectic days at Kanpur. Yet, at Vindhyachal also a great number of devotees came by turns to enjoy the solitude of that unique Ashram, where one can be with Mataji more intimately in small groups and without any fixed programme. A number of Americans and Europeans came to see Mataji during that time. Sisters Durga and Sailasuta and Mr. Benvau, all belonging to the S. R. F., and a South Indian couple who are running an Ashram in Durban, belonging to the same association, spent about a week with Mataji and seemed altogether charmed by Mataji as well as by the beautiful surroundings. The American gentleman who accompanied them was so fortunate as to accomplish some excellent tape recordings of Mataji's voice, songs as well as Her conversations in Bengali and Hindi. On occasions Mataji seemed in a communicative mood, relating some most interesting incidents from the history of the Ashram and also from its 'pre-history'. The original Vindhyavasini temple is supposed to have been where our Ashram is now situated.

In the early morning of November 4th; Mataji motored to Allahabad where She spent a few hours only, boarding the train to Dehradun that very evening. On the 5th morning She alighted at the Kishenpur Ashram, only to leave for Suktal on the 7th. Diwali was not specially celebrated this year, but a festive mood prevailed throughout Her short visit at Kishenpur, which the Dehradun devotees enjoyed immensely.

Mataji reached Suktal (near Muzaffarnagar) on the 7th night accompanied by a large party. Suktal is a very special place of pilgrimage on the banks of the Ganges. Sukdeva is supposed to have related the *Bhagavata* to King Parikshit at Suktal. The temple of Sukdeva is situated on a hillock which commands a fine view over the mountains which were already snow-capped so early this winter. A motor road leads up to the hillock and a flight of steps right up to the temple. One of the Mahatmas told us that Suktal should really be called '*Suktirtha*'.

Each *Samyam Vrata* seems to us to have been the best of all. It may well be imagined that this 12th *Samyam Saptaha* topped the list. A number of Mahatmas, Swami Vishnu Ashram, Swami Akhandanandaji of Vrindaban, Mahamandaleshvara Swami Maheshwarananda of Bombay, Swami Krishnananda Avadhutaji and others, daily gave us new inspiration by their talks, which dealt mostly with the history and greatness of Suktal and the significance of the Samyam Vrata. They one and all stressed the point that human birth was coveted by all other creatures of the universe (84 lakhs of different species), since man alone has the possibility to attain to Self-realization. Even so most men do not live up to this precious boon and thereby waste an invaluable privilege. In his last talk Swami Akhandanandaji urged everyone with eloquent words to make a firm resolve to think of God and repeat His Name daily with love and longing for the divine Presence. No happiness in this world can be lasting, the only real happiness is to be found in God.

Mahamahopadhyaya Dr. Gopinath Kaviraj gave some very interesting replies to questions about Buddhism. Mataji attended the *Satsang* mornings, afternoons and evenings. We also had the good fortune to listen to Her singing several times during that memorable week. On some days Mataji replied to questions during the last half hour of the programme, from 9—9-30 p.m. In response to a question, why it was so difficult to sit still and concentrate for a whole hour at meditation time, so that some people longed to hear the song that followed, Mataji said : "Your whole life is arranged so as to make you outward turned ; your work, your food and drink, the way you spend your leisure, everything. The important thing is to create conditions for yourselves that will help you to turn inwards. Already many years ago this body therefore suggested that people should practice *Samyam* on certain days of every month. On those days at least they should make a special effort to speak the truth, to regard everyone as a manifestation of the ONE, to eat only as much as necessary and nothing for the sake of taste or enjoyment, to be kind to their servants and refrain from scolding them. They could attend to their duties as usual but do them as a service to God. They should look upon all children—be it their own or others—as *Gopal* or *Kumari*, regard their husband as *Narayana* and their wife as *Srī Lakshmi*. Every moment of their leisure should be spent in practices such as *japa*, meditation, *kīrtana* or the reading of holy books etc. Then Yogibhai had the idea that all might gather in one place for a week and practise *Samyam* collectively. This is how this function started about 10 years ago."

At the closing function of the *Samyam Vrata* Mataji exclaimed : "Are you not sorry this wonderful week has come to an end ? To perpetuate the remembrance of it, keep *Samyam* at home once weekly, or at least once every month." "How should we observe it ?" "Keep the food restrictions, speak the truth, be kind to everyone, do japa, meditate and read books of wisdom." Some one put in : "Ma, why don't you say : 'I shall be with you ?' *Mataji* : "When this is not always so, it has to be specially mentioned. But where is He not ? This tiny child is with you at all times, even when you think there is nothing—even there." Mataji asked everyone to try and do some extra *sādhanā* in memory of our pilgrimage to Suktal. The people present agreed to practice Samyam in their own homes or ashramas every full-moon day.

On the last day of the Samyam Vrata, the *Bhāgavata Saptāh* began and continued until November 22nd. It had been prepared carefully and with much love and devotion for the last so many months and therefore was singularly beautiful to the last detail. The Sanskrit recitation took place every morning in Sukdeva Temple while the Hindi explanations were expounded very lucidly by Swami Vishnu Ashram for about 6 hours daily, every morning and afternoon. The last two days of this function coincided with a *mela* on the occasion of the full-moon. Thousands of villagers arrived by bus and in bullock carts with their whole families, camping in the open spaces round about and bathing in the Ganges in the cold of the early morning. Many of the villagers, men, women and children crowded into the compound in hundreds eagerly waiting for Mataji's *darshan*. They were rewarded at intervals by Mataji appearing in the French window of Her room upstairs and blessing them with Her radiant smile and also with a rain of *bātāsā* and other sweets. The reverence and devotion of these simple, unsophisticated people was extraordinarily moving.

Mataji stayed on at Suktal with a few of Her party until November 30th, when She proceeded to Bulandshahr at the invitation of Swami Vishnu Ashram. On December 4th, She alighted at Vrindaban, where She has remained upto date. It had originally been planned that She should go on to Hardwar at the end of December, but largely due to the coldwave, this programme was changed or rather postponed.

The Vrindaban Ashram is one of our largest and most beautiful ones, with its spacious grounds, its two temples, the large hall, the guest house and a number of houses and cottages, each nestling between shady trees and an abundance of flowers. All the buildings contain underground rooms which are specially suited for rigorous *sādhanā* during all seasons.

Another *Bhāgavata Saptāh* was held at Vrindaban from December 13th to 20th, arranged by the widow and children of the Late Pundit Parasuram Dhammi, a great and most generous *bhakta* from Dehradun. The reading of the *Bhāgavata* was followed by the recitation of 300 "Durga Sap-Satis for about 10 days. The crowds of visitors that had come for the functions gradually dispersed and Mataji is now able to enjoy a comparatively quiet time. There is no fixed programme. Some building work is in progress in the Ashram grounds, which Mataji inspects at intervals. We find Her walking about in the sunny garden. She gives *darsana* in the open during the day and in Her room at night.

It behoves a human being to aspire solely at the realization of Truth. To be regularly engaged in the practices and techniques into which one has been initiated by the Guru is the path to Enlightenment. One's prayers and petitions should be addressed to God and to God alone.

"Ma"

BRANCH-CENTRES

OF

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA

At the request of many devotees of Mataji a list of the Branches of Shree Shree Anandamayee Sangha is being published for their convenience. The names of about half a dozen other institutions named after Mataji are not included in this list as they are not managed and controlled by this organisation.

1. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
   Bhadaini, Varanasi, U. P. (Phone 2791)

2. Shree Shree Ma Anandamayee Kanyapeeth,
   Bhadaini, Varanasi, U. P.

3. Anandamayee Karuna, Bhadaini, Varanasi U. P.

4. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram, Vrindaban, U. P.

5. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
   Ashtabhuja Hill, Vindhyachal, U. P.

6. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
   Kishenpur, P. O. Rajpur, Dehradun, U. P.

7. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Kalyanvan, 176, Rajpur Road, Dehradun, U. P.

8. Shree Shree Ma Anandamayee Sadhan Asnram
47/A Jakhan, Dehradun

9. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Raipur, Dehradun, U. P.

10. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Uttar Kashi, U. P.

11. Shree Shree Ma Anandamayee Vidyapeeth,
Patal Devi, Almora, U. P.

12. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Chandralok, Kalkaji, New Delhi—19, (Phone 72478)

13. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Agarpara, P. O. Kamarhati,
24-Parganas, W. Bengal,
Phone—Panihati 328

14. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Tarapith, P. O. Popra Sahapur,
Birbhum, West Bengal

15. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Rajgir, Patna, Behar

16. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Main Road, Ranchi, Behar

17. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram.
Swargadwar, Puri, Orissa

18. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Bhimpura, P. O. Chandod, Baroda, Gujrat

19. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Ganesh Khind Road, I. C. S. Colony, Poona-7

20. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Ramna, Dacca, East Pakistan

21. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Siddheshwari, P. O. Ramna, Dacca, East Pakistan

ANANDA VARTA

YEARLY INDEX

Vol. IX **May 1961—February 1962** **No. 1, 2, 3, 4**

Page No.

1. मातृ-वाणी 1, 57, 97, 157
2. मातृ कथामृत—नीलमणि 3, 60, 99, 182
3. डायरी के कुछ पन्ने—गुरुप्रिया देवी 6, 74, 102, 175
4. इच्छाशक्ति—महामहोपाध्याय श्रीयुक्त गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डी-लिट्० 12
5. मनोवैज्ञानिक परामनोविद्या में क्यों रुचि लें—डा० भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी०-लिट्०, दर्शनाचार्य, पद्मभूषण 15, 79, 199
6. गुरुपञ्चकम्—श्री वेदानन्द झा 22
7. श्री श्री माँ आनन्दमयी-प्रसङ्ग—श्री अमूल्यकुमार दत्तगुप्त, एम्० ए०, बी० एल० 24, 63, 108
8. श्रीकृष्ण कीर्तन की महिमा—श्री रामनरेश दीक्षित 30
9. मातृ-सत्सङ्ग—श्री रघुनाथदास गोस्वामी (ब्रह्मचारी कान्तिभाई) 34, 159
10. पुरातन स्मृति—स्वामी नारायणानन्द तीर्थ 42, 134
11. चलती हुई गीता-श्री श्री माँ—स्वामी नारायणानन्द तीर्थ 84
12. पूना आश्रम में श्री श्री माँ के दर्शन के लिए राष्ट्रपति—स्वामी चिन्मयानन्द गिरि 125

INDEX (CONTINUED)

Page No.

13. [illegible] की अद्भुत महत्ता—श्री रामनरेश दीक्षित, 'नैमिषतीर्थ-पुरोहित' 146
14. श्री श्री माँ का जयपुर शुभागमन— 151
15. कैलास मानसरोवर-प्रदक्षिण —श्रीदत्तात्रेयानन्द ब्रह्मचारी 185
16. श्रीगङ्गाजी की महिमा—श्री रामनरेश दीक्षित 'नैमिषतीर्थ-पुरोहित' 194
17. शुकताल की एक छोटी सी घटना—स्वामी नारायणानन्द तीर्थ 203

ANANDA VARTA

YEARLY INDEX

Vol. IX May 1961—February 1962 No. 1, 2, 3, 4

Page No.

1. Matri Vani 1, 51, 101, 161
2. Conversations with Sri Sri Anandamayi Ma—Professor B. Ganguly 4, 117, 164
3. A South Indian Mystic—T. Krishnaji, B.A., B.L. 8
4. The Fundamental Principles of the Dhyana School in China—Dr. Chou Hsiang Kuang—Ph.D. (Delhi) 15
5. Prajnā—The Light of Intuition— .... Prof. Madan Gopal, M.A. (Alld.), B. Litt. (Oxon), C. P. E. S. Retd.) 21, 63, 107
6. Pages from my Diary—Gurupriya Devi 28, 79, 141, 168
7. New Diary Leaves—Atmananda 35, 85, 197
8. Matri Lila 42, 92, 156, 206
9. Essential unity of all Religions— .... Dr M. Hafiz Syed, M.A., Ph.D., D. Litt. 54
10. Raja Yoga or the Path of Mind Control— .... Swami Sivananda, Rishikesh 59
11. Two Incidents—Vijaiananda (Dr. Weintrob) 69

INDEX (CONTINUED)

Page No.

12. Inspired Sayings—Swami Ramdas 104

13. The Background of our Letters—U. C. Dutt 121, 190

14. With Mataji on the Bank of the Gomati River—
Krishnanath 127, 177

15. The Prophet of Islam and the Ideal of
Common humanity—
Dr. M. Hafiz Syed. M.A., Ph.D., D. Litt. 148

श्री श्री माँ आनन्दमयी

लेखिका—श्रीमती गुरुप्रिया देवी

श्री श्री माँ आनन्दमयी भावमयी मातृमूर्त्ति हैं। स्वभाव की प्रेरणा और सन्तानों की कल्याण-कामना से उनका प्रत्येक कार्य स्वतः होता है। वह द्रष्टा—साक्षी मात्र हैं। साधारण दृष्टि से भी उनका यह निर्मल लीला-विलास प्रत्यक्ष होता है। उनकी वाणी में कैसा अपूर्व माधुर्य है—मातृस्मृति कैसी अमूल्य सम्पद है—उसे भावग्राही भक्त हृदयंगम कर सकते हैं। उस विमल भाव-विलास की मधुमय स्मृतियाँ ही गुरुप्रिया देवी की ग्रन्थमाला है।

१९२५ ई० से सुदीर्घ ३६ वर्षों तक श्री श्री माँ के घनिष्ठ भाव से संग तथा उपदेश लाभ का सौभाग्य केवल इस महाग्रन्थ की लेखिका से भिन्न बहुत ही विरल है। श्री श्री माँ के सम्बन्ध में कुछ लिखने की योग्यता उन्हीं में है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। लेखिका की व्यक्तिगत डायरी ही भक्तवृन्दों के एकान्त आग्रह से पुस्तकाकार में अब तक ६ भागों में हिन्दी में प्रकाशित हुई है। श्री श्री माँ के दिव्य जीवन की अनेक कहानियों, विविध सूक्ष्मदर्शन के विवरणों, अलौकिक घटनाओं तथा श्रीमुख से निर्गत बहुत ही अमूल्य उपदेशों की समष्टि को लेकर इन भागों की रचना हुई है। भक्तजनों के लिए ये पुस्तकें अनमोल सम्पत्ति है।

❋ मूल्य ❋

प्रथम भाग से षष्ठ भाग—प्रति भाग—दो रुपये।
चतुर्थ भाग—तीन रुपये।

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. RN 4726

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA, VARANASI.

LIST OF PUBLICATIONS.

Hindi

Mātri Darshan—by Bhaiji	2·50
Sad Vāni " "	1·00
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi	
Vol. I–III, V and VI	each 2·00
Vol. IV	3·00
Ma Anandamayee—Dr. Pannalal	2·50
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1·50
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2·50
Kīrtan Rasa Swarūpa	6·00
Sankīrtan, Stav, Arati	0·

Bengali

Mātri Darshan—by Bhaiji	2·00
Sad Vāni " "	1·00
Mātri Vani	
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi	
Vol. I–IX	each 2·
Vol. X, XI	each 2·50
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1·50
Akhanda Mahāyajña " "	2·50
Kīrtan Rasa Swarūpa	6·
Suno Bali Maer Kotha—Sailesh Brahmachari	1·
Mātri Lila Sankirtan	0·31

Gujarati

Matri Darshan—by "Bhaiji"	1·50
Ma Anandamayee Ke Sannidhyame, Part I & II—Br. Kantibhai	2·00
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2·00

English

Mother As Revealed to Me—Bhaiji	(out of print)
Mother As Seen by Devotees (A Symposium)	3·00
Mātri Vani (Sayings)	1·25, Special edition 1·50
Words of Sri Anandamayi Ma	Rs. 3·00 or 5·00 (Rexin bound)

Photos etc.

Album of Mother's pictures	1·50
Photos—various sizes ranging from	0·37 to 16·00
Lockets	1·25